महाकवि श्रीहर्षदेव विरचिता

# रत्नावली नाटिका

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दी व्याख्याद्वयोपेता

डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर

[illegible]

॥ श्रीः ॥

**काशी संस्कृत ग्रन्थमाला**

**२९९**

**महाकवि श्रीहर्षदेव विरचिता**

# रत्नावली नाटिका

**'किरणावली' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेता**

व्याख्याकारः

**डॉ. राजेश्वर (राजू) शास्त्री मुसलगाँवकर**

एम०ए०, पी-एच०डी० साहित्याचार्य

भूमिका लेखकः

**आचार्यः डॉ० त्रिनाथ शर्मा**

भूतपूर्व अध्यक्ष-दर्शन विभागः

संस्कृत धर्म एवं विज्ञान सङ्कायः

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-वाराणसी

**चौखम्भा संस्कृत संस्थान**

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

**पोस्ट बाक्स नं. ११३९**

के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन (गोलघर समीप मैदागिन)

**वाराणसी - २२१ ००१ (भारत)**

प्रकाशक :
**चौखम्भा संस्कृत संस्थान**
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पोस्ट बाक्स नं. 1139
के. 37/116, गोपाल मन्दिर लेन, गोलघर (समीप मैदागिन)
वाराणसी - 221001 (भारत)
टेलीफोन : 2333445, टेलीफैक्स : 0542-2335930
*E-mail : cssvns@sify.com*

*ISBN : 978-93-81608-15-9*

**सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन**
संस्करण : पुनर्मुद्रण, वि० सं० 2070
मूल्य : रु. 85.00

शाखाऐं :
**चौखम्भा पब्लिकेशन्स**
4262/3 अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002 (भारत)
टेलीफोन : 011 : 23259050, टेलीफैक्स : 011-23268639
*E-mail:cpub@vsnl.net*

**चौखम्भा संस्कृत संस्थान**
692/93, रविवारपेठ, कापड़गंज
समीप डी. एस. हाउस, पुणे - 411002 (भारत)
टेलीफोन : 020-24471283, मोबाइल : 09970193955
*E-mail : hn.shah@rediffmail.com*

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
299

# RATNĀVALĪ NĀTIKĀ

OF

## MAHAKAVI SRI HARSHA

*Edited with*
*'KIRANAVALI' Sanskrit and Hindi Commeataries,*

By

**Dr. Rajeshwar (Raju) Shastri Musalgaonkar**
M.A., Ph. D-Sahityacharya

Introduction By

**Dr. Treenath Sharma**

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
*Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature*
**Post Box No. 1139**
K. 37 / 116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)
**VARANASI - 221001 (INDIA)**

*Publisher :*

**CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN**

*Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature*

Post Box No. 1139

K. 37 / 116, Gopal Mandir Lane, Golghar (Near Maidagin)

Varanasi-221001 (India)

Telephone : 2333445, Telefax : 0542-2335930

*E-mail : cssvns@sify.com*

*ISBN : 978-93-81608-15-9*

*All rights reserved*

Edition : Reprint, 2014

Price : Rs. 85.00

Branches :

**CHAUKHAMBHA PUBLICATIONS**

4262/3, Ansari Road, Darya Ganj

New Delhi-110002 (India)

Telephone : 23259050

Telefax : 011-23268639

*E-mail : cpub@vsnl.net*

**CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN**

692/93, Raviwar Peth, Kapadganj

Near D.S. House, Pune - 411002 (India)

Telephone : 020-24471283, Cell No. 09970193955

*E-mail : hn.shah@rediffmail.com*

# प्राक्थन

श्रीहर्षदेव की रत्नावली नाटिका सुप्रसिद्ध रचना है। संस्कृत नाट्य-साहित्य में रत्नावली को आदर्श नाटिका के रूप में देखा जाता है। इस नाटिका पर अनेक विद्वानों ने टीका ग्रंथों का प्रणयन किया है, परन्तु प्रस्तुत टीका अन्य सन्दर्भों में पूर्ववर्ती टीकाओं से भिन्न है। इसमें रत्नावली को आलोचकों की दृष्टि से देखा गया है। दशरूपक, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश आदि की आलोचनाओं एवं नाटकीय संघटनाओं को तत्तत् स्थानों पर संस्कृत टीका में सम्मिलित किया है। जो पाठकों के हेतु उपादेय होगा।

हमारे पूज्य पितृव्यचरण गुरुपाद सर्वशास्त्रवाचस्पति मीमांसा-भूषण डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर जी तथा वात्सल्यमूर्ति डॉ. विमला मुसलगाँवकर के कृपा-प्रसाद का ही यह फल है, जिन्होंने मुझे बौद्धिक एवं शारीरिक पोषण देकर इस योग्य बनाया। उनके चरणों में मेरा कोटि-कोटि नमन है।

मेरे पूज्यपाद पितृचरण डॉ० केशवराव मुसलगाँवकर एवं पूजनीया जननी सौ० रूक्मिणी जी का मैं अनन्त उपकार मानता हूँ, जिनके कृपा प्रसाद से मैं इस व्याख्या कार्य को सम्पन्न कर सका हूँ। एतदर्थ उनके चरणों में मेरा कोटिशः प्रणाम है।

प्रस्तुत 'किरणावली' व्याख्या पर डॉ० त्रिनाथ शर्मा (भू०पू० विभागाध्यक्ष दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) जी ने स्वयं भूमिका लेखन का गुरुतर कार्य स्वीकार किया, जो मेरे लिए एवं साहित्य जगत् हेतु उपादेय होगा। अतः मैं उन्हें नमन पूर्वक धन्यवाद देता हूँ।

साहित्यवाचस्पति पं० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी (पूर्व अध्यक्ष; साहित्य-विभाग, धर्म विज्ञान संकाय एवं दार्शनिकसार्वभौम डॉ० रेवती रमण पाण्डेय - अध्यक्ष धर्म एवं दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, का मैं हृदय से आभार मानते हुए उन्हें प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने पुस्तक पर आशीर्वाद देकर मुझे कृतार्थ किया है।

मेरे पूज्य ज्येष्ठ भ्राता डॉ० श्याम के० राव मुसलगाँवकर, पं० शेखर शास्त्री, तन्त्राचार्य, श्री गोविन्दशास्त्री जी एवं श्री शरद् मुसलगाँवकर जी का आभार स्वीकार करता हूँ, जिन्होंने योग्यपरामर्श देकर मुझे उपकृत किया है।

इसके लेखन कार्य में जिन लेखकों की कृतियों से यत्किंचिद् सहयोग मिला है, मैं हृदय से उनका आभार मानता हूँ।

अन्त में यह भी निवेदन है कि मनुष्य भ्रान्तियों का दास है। भरसक प्रयत्न करने के उपरान्त भी प्रूफ संशोधक के कारण टीका में कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं; जिन्हें विद्वान् ठीक करके ही देखेंगे। इत्यलम्।

बसन्त पंचमी

विदुषां वशंबदः

**डॉ. राजू (राजेश्वर) केशवशास्त्री मुसलगाँवकरः**

# ।। शुभाशंसनम् ।।

डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
पूर्व-अध्यक्ष-साहित्य विभाग
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-वाराणसी

केशवसुत-राजेश्वरशास्त्रि मुसलगाँवकराभिधानेन ।
रचिता रत्नावल्या व्याख्या 'किरणावली' जययात् ।।
श्रीहर्षवर्धनानाममराकृतिरद्यनवतरे रूपे ।
पुनः प्रकाशं गमिता सहृदयहृदयान्समाह्वयते ।।
नवरसरुचिराकृतिरियमद्य च किरणावली दीप्ता ।
छात्राणामथविदुषां सन्तोषं दास्यतीत्यहं मन्ये ।।
श्रीराजेश्वरकेशवमहोदयानां यशः श्वेतम् ।
'किरणावली'- परिणतं प्रसरेत् सर्वत्र नास्ति संदेहः ।।

–डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदः

**डॉ० रेवती रमण पाण्डेय**
अध्यक्ष-दर्शन एवं धर्म विभाग
कला-संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१ ००५

डॉ० राजेश्वर (राजू) केशवशास्त्री मुसलगाँवकर मीमांसादर्शन के परिश्रमी अध्येता हैं। यह मेरे प्रिय शिष्य हैं। इस समय 'दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आई० सी० पी० आर० 'फेलो' हैं। यह अपनी कुल परम्परा के अनुसार संस्कृत वाङ्मय की अनेक विधाओं के अनुसन्धित्सु हैं। यह सुखद वार्त्ता है।

डॉ० राजेश्वर (राजू) मुसलगाँवकर कृत 'किरणावली' संस्कृत हिन्दी व्याख्या आद्योपान्त पढ़ कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। संस्कृत के नाट्य-वाङ्मय में पण्डितराज श्रीहर्ष की यह नाटिका अप्रतिम है। बौद्ध वाङ्मय में इनके द्वारा निर्मित स्तोत्र प्रसिद्ध ही हैं। नाटिका के निकष पर उत्कृष्ट होने के कारण संस्कृत साहित्य के आलङ्कारिक आचार्यों ने रत्नावली की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

व्याख्याकार की भाषा सरल, सरस एवं सशक्त है। अतः यह टीका जीवन्तता का बोध पाठक को पूर्ण रूप से कराने में सक्षम है। डॉ० मुसलगाँवकर को मेरा यह आशीर्वाद है कि उनकी शास्त्रों के प्रति रूचि एवं तत्परता उत्तरोत्तर बुद्धिंगत होती रहे।

इति शम्

**रेवतीरमण पाण्डेय**

# पात्रों का परिचय

## पुरुष पात्र

(१) **सूत्रधारः** – नाटक का प्रारंभकर्ता

(२) **राजा** – वत्सराज उदयन (नायक)

(३) **विदूषक** – उदयन का मित्र वसन्तक नामक ब्राह्मण।

(४) **यौगन्धरायण** — उदयन का प्रधान अमात्य।

(५) **विजयवर्मा** – उदयन के प्रधान सेनापति रूमण्वान् का भागिनेय।

(६) **बाभ्रव्य** – उदयन का कञ्चुकी

(७) **वसुभूति** – सिंहलेश्वर विक्रमबाहू का प्रधान अमात्य

(८) **ऐन्द्रजालिक** – एक तांत्रिक

## स्त्री पात्र

(१) **रत्नावली – सागरिका** – सिंहलेश्वर विक्रमबाहु की पुत्री (नायिका)

(२) **वासवदत्ता** – उदयन की ज्येष्ठा पत्नी, राजमहिषी

(३) **कांचनमाला** – वासवदत्ता की सहचरी

(४) **सुसंगता** – रत्नावली की सहचरी

(५) **चूतलतिका** – } अन्त:पुर की दासी
(६) **निपुणिका** – }

(७) **वसुन्धरा** – उदयन की प्रतीहारी

# भूमिका

## नाटककार–हर्षवर्धन

संस्कृत के अन्य नाटककारों—भास, कालिदास, शूद्रक आदि—की अपेक्षा हर्षवर्धन का जीवनवृत्त इतिहास के पृष्ठों में अत्यधिक स्पष्ट है। इसे मुखरित करने का विशेष श्रेय बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा ह्वेनसांग के यात्रा विवरण को है। हर्षवर्धन 'हूण-हरिण-केसरी' (हर्षचरित चतुर्थ उच्छ्वास) प्रभाकर-वर्धन तथा यशोमती का दूसरा पुत्र था। बड़े पुत्र का नाम राज्यवर्धन था। 'राज्यश्री' नाम की इनकी बहिन थी। प्रभाकरवर्धन ने पंजाब में रहने वाले हूणों को पराजित करने के लिए राज्यवर्धन के साथ इन्हें भेजा था। किन्तु इनके युद्ध में व्यस्त रहने के अवसर पर पिता की अस्वस्थता की सूचना लिए एक दूत वहाँ आया। राजधानी लौट आने पर हर्षवर्धन ने अपने पिता को मृत्यु शय्या पर देखा। प्रभाकर वर्धन ने हर्ष को 'निरवशेषाः शत्रवो नेयाः—(हर्षचरितम्, पञ्चम उच्छ्वास) का उपदेश देकर सदा के लिए आँखें बन्द कर लीं। मन्त्रियों के आग्रह पर ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन के आगमन में कुछ विलम्ब जान कर हर्षवर्धन ने राज्य-शासन के सूत्र को अपने हाथ में ग्रहण कर लिया। कुछ कालावधि के पश्चात् राज्यवर्धन ने आकर शासन का भार अपने ऊपर लिया, किन्तु इन्हें राज्य-शासन के सुख का अनुभव अधिक समय तक प्राप्त न हो सका[1]। इस प्रकार हर्ष (६०६ ई०–६४७ ई०) ने रिक्त सिंहासन पर आरूढ होकर राज्य-शासन की बागडोर अपने सुदृढ़ तथा अनुभवी हाथों में ग्रहण कर ली।

---

१. बाण ने अपने हर्षचरित में ग्रहवर्मा की मृत्यु तथा राज्यश्री का कारागार वृत्तान्त चतुर्थ उच्छवास में दिया है। इसके अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व का परिचय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।

गुप्त साम्राज्य के पश्चात् वर्धन साम्राज्य का उदय हुआ। और कन्नौज कवियों का आश्रय बना। प्रभाकर वर्धन और उसके दोनों पुत्रों का नाम नभोमण्डल में अपनी प्रभा से चमक उठा। हर्ष के चतुर्मुखी व्यक्तित्व ने गुप्तों की जयलक्ष्मी और वीणापुस्तकधारिणी शारदा को कन्नौज के पीठासन पर पुनः स्थापित किया। हर्ष उत्तर भारत का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् बन गया। उसकी शासननीति और प्रजा पालन की वृत्ति पक्षपात रहित होने से उच्चकोटि की थी। हर्षवर्धन जहाँ वीर था, वहीं वह स्वयं विद्वान् था, कवि था और कवियों का आश्रयदाता भी था। इतिहास के पृष्ठों में उसकी महती दानशीलता स्वर्णिम अक्षरों में अंकित है। वह ऐसा सहिष्णु सम्राट् है जिसकी समदृष्टि में सभी धर्मावलम्बी बौद्ध, वैष्णव, शैव तथा जैनी भी आदर के पात्र थे। उसके द्वारा आयोजित प्रयाग-संगम पर सांस्कृतिक सम्मेलन का प्रयास प्रशंसार्ह था।

## हर्षवर्धन और उनकी विद्वत्-सभा

गुप्त सम्राटों की तरह महाराज हर्षवर्धन भी केवल वीर–लक्ष्मी के उपासक ही न थे, अपितु वे स्वयं सहृदय होने के कारण ललित-कलाओं के नितान्त प्रेमी थे। आपकी राज्य–सभा को अनेक उद्भट एवं गुणी विद्वानों ने अलंकृत किया था। बाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा मातङ्ग दिवाकर जैसे कवियों से अलंकृत इनकी सभा साहित्य–जगत् मे सदा विख्यात रही है। कहा जाता है कि दिवाकर कवि नीच जाति के होने पर भी अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण बाण और मयूर के समान ही राजा हर्ष के आदर पात्र थे। राजशेखर ने इनकी प्रशंसा मे कहा—

"अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥"

महाकवि पद्मगुप्त ( १०वीं शती ) ने अपने 'नवसाहसांक चरित' महाकाव्य में राजा हर्ष की सभा में बाण और मयूर की उपस्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया है—

"स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः ।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ॥"

हर्षवर्धन केवल कवियों, विद्वानों के ही आश्रयदाता और गुणग्राही न थे, अपितु स्वयं भी सरस रचनाओं के सफल रचनाकार थे। महाकवि कालिदास की यह—"निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च"—( रघु० ६।२९ ) उक्ति हर्ष के विषय में यथार्थ रूप से चरितार्थ होती है। इस दृष्टि से महाराज हर्ष अपने पूर्ववर्ती राजाओं में अद्वितीय हैं।

महाकवि जयदेव ( १२०० ई० ) ने अपने 'प्रसन्नराघव' नाटक में महाराज हर्षवर्धन की कविता कामिनी का हर्ष—( हर्षो हर्षः ) कह कर प्रशंसा की है।[1] कवि सोड्ढल ने अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' नामक चम्पू में श्रीहर्ष की, वाणी का हर्ष ( 'गीर्हर्ष' ) कह कर प्रशंसा की है—

"श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु ।
गी हंर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः ॥"

कश्मीर नृपति जयापीड ( ८०० ई० ) के राज्य-सभा के कवि दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमत' नामक ग्रन्थ में 'रत्नावली' नाम का उल्लेख करते हुए रत्नावली नाटिका को महाराज हर्ष की कृति कह कर उनके काव्य-कौशल की विशेष रूप से प्रशंसा की है। सातवीं शताब्दी ई० के अन्तिम भाग में इत्सिग नामक चीनी बौद्ध परिव्राजक ने अपने यात्रा विवरणात्मक ग्रन्थ में महाराज हर्ष को 'नागानन्द' नाटक का निर्माता होना स्पष्ट रूप से लिखा है। उसने लिखा है—"राजा शीलादित्य ( हर्ष ) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की आख्यायिका को नाटक रूप में परिणत किया और उस नाटक का संगीतादि सामग्री के साथ नटों द्वारा अभिनय कराया।" इन प्रमाणों के

---

१. यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो ।
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासः विलासः ।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः ।
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ॥

अतिरिक्त १७वीं शताब्दी के लेखक मधुसूदन ने हर्ष को 'रत्नावली' नाटिका का निर्माता कहा है। उक्त प्रमाणों के होते हुए भी जो विद्वान् महाराज हर्ष को नाटक निर्माता नहीं मानते हैं और उनकी काव्य-प्रतिभा पर सन्देह करते हैं, उन्हें बाणभट्ट के 'हर्षचरित' ग्रन्थ में महाराज हर्ष के विषय में उल्लिखित ये शब्द पढ़ लेने चाहिए—बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में दो बार राजा हर्ष की काव्य-प्रतिभा की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है—"राज्ञां सम्भाषणेषु परित्यक्तमपि मधु वर्षन्तम्, काव्यकथा-स्वपीतममृतमुद्वमन्तमिति[2]" बाणभट्ट के हर्ष की काव्य—व्याकरण कुशलता के विषय के कथित उद्‌गार पठनीय हैं। वे कहते हैं—'अस्य कवित्वस्य वाचो न पर्याप्तो विषयः।'[3] ( हर्षचरितम्—द्वितीय उच्छ्वास ) इस प्रकार महाराज हर्ष के सभा पण्डित बाणभट्ट ने हर्ष के काव्य रचनाचातुर्य एवं उनकी प्रतिभा को स्पष्ट प्रकट किया है। उक्त प्रमाणों के आधार पर विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि महाराज हर्षवर्धन सफल कवि थे एवं काव्य रचना में निष्णात थे।[4]

---

१. 'मालवराजस्योज्जयिनो राजधानीकस्य कविजनमूर्धन्यस्य रत्नावल्याख्य नाटिकाकर्तुर्महाराजश्रीहर्षस्य ॥''

२. अर्थात् काव्य और कथाओं में अनास्वादित अमृत की रसधारा प्रवाहित करने वाला।

३. इसके कवित्व के गुणों की अभिव्यक्ति करने में वाणी विफल हो जाती है।

४. आढयराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि।
जिह्वान्तः कृष्यमाणेन न कवित्वे प्रवर्तते॥ १९॥

उक्त श्लोक में—'आढयराज'-शब्द का अर्थ पिशेल के मत में महाराज हर्ष है। तदनुसार बाण यह कहना चाहते हैं कि हमारे महान् सम्राट् के उदात्त कर्म ऐसे हैं कि उनका स्मरण मेरी जिह्वा को कुण्ठित करता है, और कवि कर्म की प्रवृत्ति को रोकता है। 'आढयराज' के विषय में टीकाकारों का मत एक नहीं है। सरस्वती कण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने इसका अर्थ

## महाराज हर्ष के रत्नावली आदि के कर्तृत्व में संदेह और निवारण

श्रीहर्ष के तीन रूपक आज प्राप्त होते हैं—रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका। साहित्य-जगत् में रत्नावली के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों का मतैक्य नहीं है। परिणामत: विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचारों ने एक बड़े आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। सन्देह जनित इस बड़ी गड़बड़ी का मूल कारण मम्मट के काव्यप्रकाश मे उल्लिखित एक वाक्यांश है। मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में अर्थ प्राप्ति भी एक प्रयोजन का उल्लेख किया है—'काव्यं यशसेऽर्थकृते……।' आदि कारिक की गद्य में लिखित व्याख्या में उदाहरण को उपन्यस्त करते हुए कहा है—'कालिदासादीनामिव यश: श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' अर्थात् काव्य रचना से कालिदास आदि कवियों को जैसे यश और श्री हर्ष आदि से धावक आदि कवियों को जैसे धन (प्राप्त हुआ)। काव्यप्रकाश के टीकाकार श्रीनागेश ने उक्त स्थल की व्याख्या करते हुए धावक कवि को 'रत्नावली' का रचयिता माना है। वे लिखते हैं—'धावकनामा कवि: श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीनाम्नीं नाटिकां विरच्य ततो बहुधनं लब्धवानिति लोकप्रसिद्धि:।' ( नागेश्वरीटीका पृ० २ ) इसी प्रकार काव्यप्रकाश के अन्य कुछ टीकाकारों ने भी[1] इसका यह तात्पर्य समझा कि धावक ने रत्नावली की रचना हर्षवर्धन के नाम से करके प्रभूत धन की प्राप्ति की। इस गड़बड़ी में एक मोड़ तब आया जब काव्यप्रकाश की किसी–किसी प्रति में धावक के स्थान पर बाण का नाम उल्लिखित देखने को मिला। अत: डॉ० हॉल ने 'काव्यप्रकाश' के 'बाणादीनामिव धनम्' इन शब्दों से यह अर्थ ग्रहण किया

---

शालिवाहन' किया है। हमारे विचार में—'बाण कहते हैं कि राजा हर्ष की भक्ति के वश में उनके इस चरित्र समुद्र में डुबकी लगाऊँगा' यही यहाँ अर्थ सुसंगत जान पड़ता है। देखिए—हर्षचरितम्—व्याख्याकार डॉ० केशवराव मुसलगांवकर,पृ० २२–२३।

१. अन्य टीककार हैं—

महेश्वर, वैद्यनाथ और जयराम।

कि 'रत्नावली' का मूल रचयिता हर्ष न होकर बाण ही है। किन्तु 'रत्नावली' की प्रसादपूर्ण शब्दविन्यास शैली को देखकर यह विश्वास नहीं होता कि वह कादम्बरी या हर्षचरित के लेखक बाणभट्ट की रचना हो। निश्चित ही ये सब अर्वाचीन विद्वानों की कपोलकल्पित मान्याएँ मात्र हैं।

वस्तुतः काव्यप्रकाशकार मम्मट के उक्त कथन का केवल यह तात्पर्य है कि श्रीहर्ष ने कवियों को उनके सम्मानार्थ प्रभूत धनसम्पत्ति प्रदान की। जैसा कि महाराज हर्ष के दरबारी पण्डित बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में हर्ष की उदारता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जब अगणित ब्राह्मण, भिक्षु तथा जैनों का आदर होता था तथा उनको प्रभूत दान मिलता था—बाण ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'हर्ष के दान को प्राप्त करने के लिए याचक वर्ग पर्याप्त संख्या में उपलब्ध न होने से दानराशि का उपयोग नहीं होने पाता था।'[1]—तब गुणग्राही हर्ष के लिये उसकी कीर्तिलता को पल्लवित करने वाले कवियों-पण्डितों को दान में धन देने में उनका उचित सम्मान करने में—उसे संकोच कैसे हो सकता था?

काव्यप्रकाश के टीकाकारों की बातें इसलिए भी विश्वासार्ह प्रतीत नहीं होती हैं कि ११वीं शताब्दी के पूर्व के किसी भी टीकाकार ने श्रीहर्ष के कवित्व पर सन्देह प्रकट नहीं किया है। ९वीं शताब्दी के लेखक दामोदर गुप्त ने अपने ग्रंथ 'कुट्टनीमत' में रत्नावली को स्पष्ट शब्दों में महाराज हर्ष की कृति कहा है। ७वीं शती के चीनी यात्री ने राजा शीलादित्य (यह नाम हर्ष के लिए बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त हुआ है।) को नागानन्द का कर्ता कहा है।

तीनों रूपकों में उपलब्ध आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि 'रत्नावली' आदि रूपकत्रय एक ही व्यक्ति के द्वारा निर्मित हैं, और वे महाराज हर्ष की ही कृतियाँ हैं।

डॉ० पिशेल ने प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द का तुलनात्मक अध्ययन करके यह कहा है कि तीनों रचनाएँ किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा

---

१. हर्षचरितम्—द्वितीय उच्छ्वास पृ० २००, व्याख्याकार—डॉ० केशवराव मुसलगांवकर, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

लिखी गई हैं। क्योंकि तीनों में प्रासंगिक भाव, शब्दावली तथा घटना क्रमों में समानताएँ दिखाई देती हैं। तीनों ही रूपकों में श्रीहर्ष को ही कवि के रूप में उल्लिखित किया गया है।[1] रत्नावली और प्रियदर्शिका के भरत वाक्यों में भी साम्यता है।[2]

इतिहास के पृष्ठों में अंकित महाराज हर्ष की सहृदयता तथा दानशीलता आज भी मुखर है और बिना किसी ठोस प्रमाणों के उसको ग्रन्थत्रय के कर्तृत्व से वंचित करना हर्ष के महान् गुणों की अवज्ञा करना है। क्षण भर के लिए यदि बाण या धावक को रत्नावली का रचयिता मान भी लेते हैं तो भी नागानन्द अथवा प्रियदर्शिका का कर्तृत्व तो हर्ष से ही सम्बद्ध रहता है। कोई भी प्रबुद्ध आलोचक बाणभट्ट को नागानन्द का रचयिता मानने को उद्यत नहीं है। ऐसी स्थिति में रत्नावली के कर्तृत्व को बाण पर आरोपित करना सत्य से मुख मोड़ना है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि इस नाटकत्रय की रचना स्वयं महाराज हर्षवर्धन ने ही की है।

## हर्षवर्धन के ग्रन्थ

महाराज हषवर्धन के तोन ग्रन्थ हैं—

( १ ) प्रियदर्शिका, ( २ ) रत्नावलो तथा ( ३ ) नागानन्द। ये तीनों ही रचनाएँ एक हो लेखक द्वारा प्रणीत हैं, इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। तीनों रूपकों में घटनाओं का विशेश साम्य है। तीनों की प्रस्तावना में एक ही लेखक के नाम का निर्देश किया गया है। प्रियदर्शिका और नागानन्द में दो श्लोक समान हैं। एक श्लोक प्रियदर्शिका और रत्नावली में भी समान है। तीनों रूपकों की शैली में भी पूर्ण साम्यता है। उदाहरणार्थ—रत्नावली नाटिका में सागरिका अपने चित्त बिनोद के लिये राजा का चित्र फलक पर अंकित

---

१. 'श्री हर्षो निपुण: कवि:.........' इत्यादि।

२. तीनों रचनाओं में उपलब्ध समानताओं की जानकारी के लिये देखिए—'प्रियदर्शिका' कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, 'रत्नावली' देवधर और सुरु सम्पादित १९२५।

करती है। नागानन्द जीमूतवाहन उसी उद्देश्य से मलयवती का चित्र खींचता है। दोनों ही रूपकों में अंकित चित्रों के द्वारा ही वर्ण्य पात्रों की प्रणय-भावना का परिचय सामाजिकों को होता है। रत्नावली में अपमानित सागरिका लतापाश से अपने गले को बाँध कर प्राण देना चाहती है। नागानन्द में भी यही घटना क्रम प्रदर्शित किया है—नायिका मलयवती प्रणय में अपमानित होने पर लतापाश से अपने गले को बाँध कर प्राण देने का उद्योग करती है। दोनों ही रूपकों में नायक के द्वारा उनके प्राणों की रक्षा समय पर की जाती है। इतना ही नहीं इन रूपकों में लेखन क्रम का साम्य है। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली दोनों ही प्रणय नाटिकाएँ हैं और एक ही कथाचक्र—उदयन के कथाचक्र–से सम्बद्ध हैं। प्रियदर्शिका में घटनाओं का विन्यास अत्यन्त सामान्य रूप का है। रत्नावली में घटनाओं के क्रम में तथा नायिका के प्रणय वर्णन में पूर्व की अपेक्षा रमणीयता को लेते हुए सुधार दिखाई देता है, यह सुन्दर सुधार रत्नावली को प्रियदर्शिका से परवर्ती सिद्ध करता है। नागानन्द नाटक के अन्तिम रचना होने का प्रमाण उसके वर्ण्यविषय की गम्भीरता तथा महनीयता है। वैसे तो नागानन्द नाटक के तीन अंकों में प्रणय वर्णन ही है, किन्तु इसमें पूर्ववर्ती नाटकों के प्रणय वर्णन में कुछ भिन्नता है। प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाओं में द्वितीय विवाह की सफलता प्रथम विवाहिता राजमहिषी की स्वेच्छा पर निर्भर रहती है। वस्तुतः श्रीहर्ष का चित्त अन्तिम दिनों में जीवन के संघर्ष से ऊब सा गया है और वह प्रणय से शान्ति की ओर उन्मुख हो जाना चाहते हैं। फलतः अपनी जीवन-सन्ध्या के अनुरूप ही उन्होंने शान्त रसात्मक नागानन्द नाटक का प्रणयन किया है, जहाँ राजाओं के भोग विलासमय नगर से हटकर कहीं दूर जीवन की प्रधान घटनाएँ आश्रम के शान्त वातावरण में ही घटित होती हैं। इनमें बौद्ध आदर्शों का निरूपण है जो उनके जीवन संध्या के अनुरूप भी है।

इसके पूर्व हम बता चुके हैं कि प्रियदर्शिका रत्नावली और नागानन्द—ये तीन रचनाएँ हर्ष निर्मित हैं। इनमें से प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाएँ हैं और उनका वर्ण्य विषय वत्सदेश के राजा उदयन का प्रसिद्ध प्रणय-प्रधान

आख्यान है। नागानन्द नाटकों की श्रेणी में आता है। इसका नायक जीमूतवाहन है जो दयाभाव से अभिभूत होकर नाग की रक्षा के लिये स्वयं को अर्पित कर त्यागशीलता का आदर्श स्थापित कर देता है।

इन रूपकों के अतिरिक्त बौद्धधर्म से सम्बन्धित दो स्तोत्र—(१) सुप्रभात स्तोत्र तथा (२) 'अष्टमहाश्रीचैत्यसंस्कृतस्तोत्र' हर्षकृत कहे जाते हैं।

**रचनाओं का कालक्रम**

रचना क्रम के अनुसार 'प्रियदर्शिका' श्रीहर्ष की प्रथम रचना प्रतीत होती है। उनकी अन्य दो रचनाओं रत्नावली और नागानन्द की अपेक्षा उस प्रथम रचना में नाट्यकला परिष्कृत रूप में नहीं दिखाई देती है। रत्नावली दूसरी रचना ज्ञात होती है, क्योंकि यह पूर्व की अपेक्षा अधिक परिष्कृत तथा कलापूर्ण है। 'नागानन्द' नाटक में यद्यपि नाट्यकला का प्रौढ परिष्कृत रूप परिलक्षित नहीं होता है, तथापि इसमें श्रीहर्ष की जीवन-संध्या के अनुरूप, एकान्त शान्ति की ओर प्रवृत्ति ( जो बौद्धदर्शन के अनुरूप है जिधर उनका झुकाव अन्त में हो गया था ) दिखाई देने से यह अन्तिम कृति ज्ञात होती है।

(१) प्रियदर्शिका—यह चार अंकों की एक लघु-प्रणय नाटिका है। श्रीहर्ष ने उदयन की कथा को आधार बनाकर इसकी रचना की है, जो कालिदास के पूर्व ही लोक-कथा के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी।[1] इसकी कथा में तथा मालविकाग्निमित्र की कथा में पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है। वत्स का सेनापति विजयसेन दृढ़ वर्मा की कन्या प्रियदर्शिका को राजदरबार में लाता है और वह उसे विन्ध्यकेतु की कन्या के रूप में वहीं रख देता है। वहाँ वह 'आरण्यका' नाम से दासी बनकर रहने लगती है। वत्स उसके रूप सौन्दर्य पर मुग्ध होते हैं। उदयन की पत्नी वासवदत्ता उदयनःचरित से सम्बद्ध नाटक का अभिनय कराना चाहती है, इसमें मनोरमा (प्रियदर्शिका की सखी ) को उदयन का अभिनय करना है और आरण्यका (प्रियदर्शिका) को वासवदत्ता। समय पर बड़ी कुशलता से मनोरमा के स्थान पर स्वयं उदयन मंच पर पहुँच जाते हैं। वह प्रेमाभिनय अभिनयमात्र न रहकर यथार्थ रूप में परिणत हो जाता है।

---

१. प्राप्यावन्तीनुदयन कथा कोविदग्रामवृद्धान् (३०।३१ पद्य, पूर्वमेघदूत)।

इसका ज्ञान वासवदत्ता को हो जाने पर आरण्यका ( प्रियदर्शिका ) कारागार में डल दी जाती है। अन्त में उसके राजकन्या होने का रहस्य प्रकट हो जाता है, और राजा तथा प्रियदर्शिका के विवाह की अनुमति स्वयं वासवदत्ता देती है।

इस कथानक का स्रोत बृहत्कथा से प्राप्त हुआ है। कथावस्तु की दृष्टि से मालविकाग्निमित्र का अन्तःपुर-प्रणय ही इन दोनों नाटिकाओं में देखने को मिलता है। तृतीय अंक में श्रीहर्ष ने गर्भाङ्क की योजना की है जो प्रियदर्शिका की एक विशेष विशेषता है। इस पर कालिदास का पर्याप्त प्रभाव होने पर भी, इसमें पर्याप्तरूपेण मौलिकता निहित है। श्रीहर्ष की प्रथम कृति होने के कारण इसकी वस्तु उतनी कुशलता के साथ उपन्यस्त नहीं है, अतः उसमें आवश्यक आकर्षण नहीं है। फिर भी शैली प्रसादगुण युक्त है।

(२) रत्नावली—इसका कथासार आगे दिया जा रहा है।

(३) नागानन्द नाटक—इसमें पाँच अंक हैं। इसमें बोधिसत्व की कथा का आधार ग्रहण किया है। इस कथा का संकेत बृहत्कथामंजरी तथा कथा-सरित्सागर में देखने को मिलता है। जीमूतवाहन एक विद्याधर राजकुमार थे। राजा मित्रावसु की कन्या मलयवती से उसका विवाह हुआ था।

एक दिन मित्रावसु के साथ घूमते हुए जीमूतवाहन ने हड्डियों का विशाल ढेर देखा। उसे ज्ञात हुआ कि गरुड़ को प्रतिदिन सर्पों की भेंट जढ़ाई जाती हैं, उन्हीं मृत-सर्पों की हड्डियों का ढेर है। उसने दयार्द्र होकर निश्चय किया कि मैं अपनी भेंट देकर इस सर्प-बलि को रोकूँगा। इस विचार से उसने शंख-चूड नामक सर्प के स्थान पर स्वयं को बलिरूप में अर्पित किया। गौरी ने अपने तप-प्रभाव से उसे पुनः जीवित किया। ( यहाँ हर्ष ने गौरी का प्रवेश कराकर नायक को पुनरुजीवित कर दिया है। ) अमृत की वर्षा से गरुड़ द्वारा मारे गये सभी सर्प पुनरुज्जीवित हो उठे। अन्त में गरुड़ ने वचन दिया है कि भविष्य में वह सर्पों को नहीं मारेगा। इस प्रकार प्राणियों के प्रति दया तथा आत्मोत्सर्गभावना का इस नाटक में सुन्दर निदर्शन है।

## हर्षवर्धन की काव्य प्रतिभा

यद्यपि हर्षवर्धन के रूपक-त्रय के अतिरिक्त अन्य कोई काव्य आज उपलब्ध नहीं है, तथापि उनके रूपकों के काव्यगुणों पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि उनकी काव्य प्रतिभा निश्चयेन उच्चकोटि की है। उसने अपने समकालीन बाण के गद्य या मयूर के पद्य की शैली को न अपनाकर अव्याज मनोहर शैली के पथिक महाकवि कालिदास के सरस और प्रासादिक मार्ग को ही अपनाया है। अतः हर्ष की शैली स्फीत, सरल तथा कोमलकान्त पदावली से युक्त है। वह प्रकृति से ही निपुण कलाकार होने से प्रणय और प्रकृति के कोमल चित्रों को सज्जित करने मे उनकी कुशलता प्रकट हुई है। उनके प्रकृति वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी रंग और ध्वनि का वातावरण उपस्थित करने में पूर्णतः समर्थ हैं। कालिदास की तरह ही हर्ष भी प्रकृति और मानव के पूर्ण सामरस्य के पक्षपाती हैं। रत्नावली में होली का चटकीला वर्णन अनुपम बन पड़ा है। नागानन्द का आश्रम वर्णन भी बड़ा ही मनोरम, सरस तथा नैसर्गिकता से समन्वित है।

इस दृष्टि से भी हर्ष एक सफल कवि हैं। राजा उदयन सागरिका के मुख सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उसे कहता है—

> किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
> वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोक मात्रेण किम्।
> वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते,
> दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे॥

तुम्हारे चन्द्रवदन रहते यह दूसरा चन्द्रमा उदित हो क्यों रहा है? तुम्हारा मुख पद्म की शोभा का हरण करता ही है, नयनों की तृप्ति होती ही हैं, झषकेतन (कामदेव और समुद्र) की भी वृद्धि अपने आलोक से करता ही है। (इस प्रकार चन्द्रमा के सम्पूर्ण कार्यों को सम्पादित करने वाले) तुम्हारे मुखचन्द्र के प्रकाशित रहने पर भी यह आकाशीय चन्द्र उदित हो रहा है, आश्चर्य है (अतः यह जड़ है।) यदि उसे अमृत का गर्व हो तो क्या

वह तुम्हारे अधर में नहीं है ? ( ३।१३ ) ऐसी स्थिति में तुम्हारे चन्द्रवदन के सामने चन्द्रमा के उदित होने की क्या आवश्यकता ?

अन्य उदाहरण—चन्द्रोदय के अवसर पर पूर्व दिशा का यह वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है—

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम् ।
परिपाण्डना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥
( रत्नावली १।२४ )

वस्तुतः हर्षवर्धन प्रणय के सफल चित्रकार हैं । उनके तीनों ही रूपकों—प्रियदर्शिका, नागानन्द और रत्नावली मे अनेक सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं, जो कवि की भावुकता का संकेत देते हैं । विवाह के पश्चात् प्रथम समागम के अवसर पर लज्जाभाव से दबी हुई मलयवती को देखकर जीमूतवाहन की यह उक्ति कालिदास के कुमारसंभव की—'सा तथापि रतये पिनाकिनः' (८।२) पंक्ति का स्मरण कराती है । निम्नोक्त पद्य में नवोढा के अनुभाव तथा संचारीभाव का बड़ा सरस वर्णन कवि ने किया है—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिंगिता वेपते ।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥
( नागानन्द ३।४ )

"जब मैं उसकी ओर देखता हूँ, तो वह ( लज्जावश ) आँखें झुका लेती हैं । जब मैं उससे कुछ बात करता हूँ, तो वह कोई उत्तर नहीं देती, शय्या पर मुंह फेर कर बैठी रहती है, और आलिंगन करने पर कांपने लगती है, जब उसकी सखियाँ उसे छोड़ कर शयन-कक्ष से जाना चाहती हैं, तो वह भी बाहर जाना चाहती है । इस प्रकार नवोढा मलयवती मेरे प्रत्येक प्रणय व्यापार का प्रतिकूल आचरण करती है, इतना होने पर भी मुझे आज वह इसी प्रतिकूलता के कारण अधिक प्रिय लगती है ।"

इस प्रकार के मन को मुग्ध करने वाले अनेक चित्र रत्नावली ( २।११ ) ( ११२५ ) ( २।७ ) प्रियदर्शिका ( १।१२ ) में देखने को मिलते हैं। इसके अतिरिक्त अन्तःपुर की भयवश होने वाली भगदड़ का वर्णन करने मे हर्ष ने अपनी कुशलता व्यक्त की हैं।

रत्नावली में बन्दर के छूटने से होनेवाली भगदड़, और अन्तःपुर में आग प्रदीप्त होने का वणन संक्षिप्त होने पर भी अनुपम बन पड़ा है।(रत्ना० ५।१४) कालिदास के शाकुन्तल ( तथा रघुवंश पञ्चम सर्ग ) के हाथी वाले आतंक से इसकी तुलना मजे से की जा सकती है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि हर्ष ने अपने रूपकों में यथावसर नगर, प्रासाद, धारागृह प्रभात, सन्ध्या, मध्याह्न, वन, आश्रम, पर्वत, युद्ध आदि का चित्रोपम वर्णन अंकित किया है उसने अपने बुद्धि-कौशल से कोमल और भयानक चित्र अंकित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उनकी भाषा भावों और वर्ण्य विषय के अनुरूप रही है। हर्ष ने श्लेष और अनुप्रास अलङ्कारों की सहायता से अपने भावों को उतारने में पूर्णरूपेण सफलता प्राप्त की है।

## हर्ष का नाट्य वैशिष्ट्य

हर्ष के पूर्ववर्ती नाटककारों—भास, कालिदास और शूद्रक (मृच्छकटिक के रचयिता )—ने संस्कृत नाटकों को परिमार्जित कर विकसित किया है। इन प्रतिभाशाली नाटककारों ने नाटकीय संविधान में अपने वैदूष्य का पर्याप्त परिचय दिया है। इन्होंने भरतप्रोक्त नाट्यसिद्धान्तों द्वारा रेखांकित लीक पर चलना स्वीकार नहीं किया, किन्तु गच्छता कालेन इन नाटककारों द्वारा स्वीकृत मार्ग के पथिक बनना उत्तरवर्ती नाटककारों ने भी स्वीकार नहीं किया। वे पाण्डित्य और व्युत्पत्ति प्रदर्शन की ओर उन्मुख होने लगे। इस प्रवृत्ति का का संकेत हर्षवर्धन की 'रत्नावली' में पण्डितों को देखने में मिला है। निश्चित ही रत्नावली का वस्तुसंविधान मञ्चीय गत्यात्मकता की दृष्टि से तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी कसा हुआ जान पड़ता है। किन्तु शास्त्रीय प्रभाव होने पर भी हर्षवर्धन की नाट्यकला भट्ट नारायण की तरह नाटकीय ह्रासोन्मुख नहीं हुई है, यह हर्षवर्धन की सबसे बड़ी विशेषता है। रंगमंच की दृष्टि से

रूपकों में उत्तरकालीन रूपकों की ह्रासोन्मुखी नाटकों की केवल पाठ्यात्मकता अनभिनेयता देखने को नहीं मिलती। वस्तुतः हर्ष की रचनाएँ आकार में लघु होने से मंच पर उनका अभिनय करने में कोई कठिनाई नहीं होती। साथ ही मंचीय व्यवस्था में भी कोई विशेष उलझन नहीं आती। उनके रूपकों के संवाद छोटे, मार्मिक और प्रभापोत्पादक बन पड़े हैं।

इसके अतिरिक्त 'प्रणय नाटिका' ( रोमाण्टिक ड्रामा ) के जितने कमनीय तथा उपादेय साधन होते हैं, उन सबका उपयोग हर्षवर्धन ने अपने रूपकों में किया है। कालिदास की तरह ही मानवीय भावों को जाग्रत करने हेतु उन्होंने प्रकृति के द्वारा रमणीय परिस्थिति उत्पन्न को है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रोमांचक प्रणय के उन्मेष के लिए स्थान ऋतु तथा अन्य आवश्यक सामग्री को उपस्थित करना हर्षवर्धन की नाट्य कला की विशेषता है। निश्चित ही वे प्रणय-नाटिका के प्रथम सफल नाटककार हैं। इस दृष्टि से नाटिकाओं की परम्परा प्रवर्तित करने का श्रेय भी हर्षवर्धन को है। राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका और कर्पूरमञ्जरी ( सट्टक ) बिल्हण की कर्णसुन्दरी आदि नाटिकाएँ हर्ष के पदचिह्नों पर ही चलती दिखाई देती हैं। रूपकों में 'गर्भाङ्क' की योजना करना उनकी तीसरी शास्त्रीय विशेषता है। जिसका अनुसरण आगे चलकर भवभूति ने अपने उत्तर रामचरित में और राजशेखर ने बाल रामायण में बड़ी निपुणता से किया है।

अन्त में यह कहा जा सकता है नाटकीय गुणों की दृष्टि से हर्ष की नाट्यकला अनुपम है। इसी गुण के कारण 'रत्नावली' संस्कृत नाट्साहित्य की आदर्श कृतियों में से एक गिनी जाती है।

## रत्नावली

### रत्नावली की कथावस्तु

**पूर्वकथा**—रत्नावली नाटिका उदयन से सम्बद्ध चार अङ्कों की नाटिका है। इसका प्रधान पात्र यौगन्धरायण है जो राजा उदयन का विश्वास पात्र मन्त्री है। वह लावणक नामक ग्राम में वासवदत्ता ( उदयन की विवाहिता

प्रथम पत्नी ) के जल जाने की झूठी वार्ता का प्रचार कर सिंहलराज की कन्या रत्नावली को उदयन के विवाहार्थ इसलिए माँगता है, कि ज्योतिषियों ने रत्नावली उदयन को पत्नी बनने की भविष्यवाणी की थी, तथा यह भी कहा था कि उदयन के साथ विवाह होने पर राजा उदयन को चक्रवर्तित्व पद की प्राप्ति होगी। इस पर सिंहलराज विवाह के लिए प्रस्तुत हो जाता है। वह रत्नावली को कंचुकी और प्रधानमन्त्री के साथ कौशाम्बी के लिए प्रस्थान करा देता है। दैववश रत्नावली को लेकर आने वाला जहाज मार्ग में भग्न हो जाता है, किन्तु रत्नावली तख्ते के सहारे बहती हुई सुरक्षित रहती है, और यौगन्धरायण के समीप लाई जाती है।[1] यौगन्धरायण उसे सागरिका के नाम से परिचारिका के रूप में राजा के अन्तःपुर में वासवादत्ता के पास रख देता है। और प्रतीक्षा करता है कि उदयन स्वयं ही उसकी ओर आकृष्ट हो। यहीं से नाटिका का आरम्भ होता है।

प्रथम अङ्क—कामदेव पूजा के अवसर पर वासवदत्ता कामवपुः राजा उदयन की ही सद्यः पूजा करती है, जिसे वृक्षों की आड़ से छिपी हुई सागरिका राजा उदयन को प्रथम बार देखती है, उदयन को देख कर वह अनुरक्त हो जाती है। यहीं प्रणय के मधुर-भाव का अंकुरण उसके हृदय में हो उठता है। यहीं से उसे यह भी ज्ञात होता है कि यह वही उदयन है, जिसके लिए उसके पिता सिंहलराज ने उसे यहाँ भेजा है।[2] ( यहाँ नायिका के हृदय में सर्व प्रथम प्रणय-बिजारोपण किया गया है )

---

१. द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमखीभूतः॥
—( रत्नावली १।६, साथ ही दे० १।७ )

२. कथं प्रत्यक्ष एव भगवान् कुसुमायुध इह पूजां प्रतीच्छति।
—( रत्नावली पृ० ४७ )

( साथ ही ) कथमयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता।
—( रत्नावली पृ० ४९ )

द्वितीय अङ्क—इस अङ्क के आरम्भ का प्रवेशक सागरिका की विरह विकलता का संकेत देता हैं। सागरिका अपनी सखी सुसंगता के साथ चित्त-विनोद के लिए कदली गृह में बैठ कर राजा उदयन का चित्र अंकित करती है, उसकी सखी सुसंगता सखी चित्र में सागरिका का ही चित्र खींच कर उसे रति सनाथ बना देती है। यहीं दोनों—सागरिका और सुसंगता—में कुछ गुप्त प्रणय की भी चर्चा होती है। इसी समय वाजिशाला से एक बन्दर बन्धन-डोरी तोड़कर भागने से महल में कोलाहल मच जाता है। इसी कोलाहल में वे दोनों सखियाँ भाग जाती हैं। चित्रफलक वहीं छूट जाता है और इसी समय राजा घूमते हुए अपने मित्र विदूषक—वसन्तक—के साथ उपवन मे वहीं आ पहुँचता है। सागरिका की प्रणयपूर्ण बातों को सुन कर एक मैना उन बातों को कहने लगती है। राजा उस मैना की बातों को सुन कर सारा रहस्य जान लेता है। कदलीगृह में राजा और विदूषक उस चित्र-फलक को देख लेते हैं। इसी समय सुसंगता चित्र-फलक को लेने के व्याज से राजा और सागरिका का प्रथम साक्षात्कार करा देती है। ठीक इसी अवसर पर वास-वदत्ता वहीं आ पहुँचती है। चित्र फलक को देख कर वह कुपित हो उठती है। और राजा के अनुनय करने पर भी वह वहाँ से चली जाती है।

तृतीय अङ्क—[ यह अंक इस नाटिका का हृदय स्थल है तथा कवि ( हर्ष ) की मौलिकता एवंसू झबूझ का उत्तम निदर्शक है। ] इस अंक में राजा उदयन सागरिका से मिलने के लिए आतुर हैं। विदूषक ( वसन्तक ) सुसंगता के साथ योजना बनाता है कि सागरिका वासवदत्ता का वेश धारण कर राजा के पास पहुँचे।[१] किन्तु दैववशात् इस गुप्त योजना का पता वास-वदत्ता को लग जाता है। वह वहीं ठीक समय पर जा पहुँचती है। राजा उसे

---

१. "अल खलु देव्या चित्रफलकवृत्तान्तशङ्कितया सागरिकां रक्षितुं मम हस्ते समर्पयन्त्या यन्नेपथ्यं मे प्रसादीकृतं तेनैव विरचितभट्टिनीवेषां सागरिकां गृहीत्वाहमपि कांचनमालावेषधारिणी भूत्वा प्रदोष इहागमिष्यामीति ॥" ( रत्ना० पृ० ११२ )

सागरिका समझ बैठता है। वासवदत्ता के प्रकट हो जाने पर राजा उससे क्षमा-याचना करता है। वह कुपित होकर राजा को खरी-खोटी सुनाती हुई वहाँ स चली जाती है। [ यहाँ असली वासवदत्ता के आ जाने से सारी योजना विफल हो जाती है। असली और नकली का भेद बड़ी ही हास्यजनक स्थिति पैदा करता है। यहाँ वेश परिवर्तन से उत्पन्न भ्रांति के कारण होनेवाला घटना-सांकर्य बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। यह घटना शेक्सपीयर के 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' नामक नाटक का स्मरण कराती है। सागरिका सारे वृत्त को जानकर अपमान का अनुभव करती हुई लतापाश से अपना गला घोंटकर प्राण त्यागना चाहती है। परन्तु ठीक समय पर राजा वहाँ पहुँचता है और उसे बचा लेता है। इसी अवसर पर वासवदत्ता भी वहाँ आ पहुँचती है। वह सागरिका और विदूषक को पकड़ कर ले जाती है।[१]

चतुर्थ अंक—इस अंक में ज्ञात होता है कि सागरिका को उज्जयिनी भेज दिया गया है। इस असत्य वार्ता को प्रसारित किया है। किन्तु यथार्थ में सागरिका को तहखाने में बंद कर दिया गया है। इस अंक में जादूगर राजा को अपने इन्द्रजाल का प्रदर्शन कराता है। यह 'अग्निदाह' का प्रभावशाली दृश्य है। जब वह जादूगर का प्रदर्शन करता है, ठीक उसी समय अन्तःपुर में आग प्रज्वलित हो उठती है। वासवदत्ता को भूगर्भ में स्थित सागरिका को बचाने की याद आती है। वह राजा से उसे बचाने के लिए कहती है।[२] राजा उसे अग्नि से बचाकर ले आता है। सागरिका के पिता के मंत्री वसुभूति तथा कंचुकी बाभ्रव्य उसे विदूषक के गले में पड़ी हुई 'रत्नावली' की सहायता से पहचान लेते हैं तथा वासवदत्ता स्वयं प्रसन्नता से अपनी भगिनीभूता रत्नावली से राजा ( उदयन ) का विवाह सम्पन्न करा देती है। यही सुखान्त है।

---

१. कांचनमाले, एतेनैव लतापाशेन बद्ध्वा गृहाणैनं।
ब्राह्मणम्, एतां च दुर्विनीतां कन्यकामग्रतः कुरु ॥

२. एषा खलु निर्घृणयेह निगडेन संयमिता सागरिका विपद्यते। तत्तां परित्रायस्वार्यपुत्रः। ( रत्नावली, पृ० १९० )

## कथावस्तु का स्रोत

यद्यपि श्रीहर्ष ने सूत्रधार के मुख से स्वकृत 'रत्नावली' की रचना को अपूर्व कहलाया है, तथापि उसने उसकी रचना करने के लिए निम्नोक्त उपजीव्य कथा ग्रंथों तथा अन्य पूर्ववर्ती नाटकों से वस्तु-सामग्री को यथेष्ट ग्रहण कर अपनी रचना को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है, यह उसके नाट्य-ग्रंथों से स्पष्ट ज्ञात होता है।

(१) गुणाढ्य की बृहत्कथा के संक्षिप्त रूप—सोमदेवकृत और राजकन्या बन्धुमती की कथा का प्रथम आधार।

(२) भास का स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिज्ञा-योगन्धरायण का, साथ ही कालिदास के मालविकाग्निमित्र का।

(३) लोक में प्रचलित उदयन कथा का।

संस्कृत के प्रणय-प्रधान नाटकों की रचना प्राय: एक ही पैटर्न पर या एक ही साँचे में ढली हुई परिलक्षित होती है। कवि या नाटककार प्रारम्भ में पूर्व कवियों की रचना का अध्ययन करता ही है और ऐसा करना भी उसके लिए नितान्त आवश्यक होता है, क्योंकि ऐसा न करने पर उसकी कला में आवश्यक निखार नहीं आ सकता। ऐसी स्थिति में जाने या अनजाने में पूर्वपठित या श्रुत कथाओं का प्रभाव उसकी रचना में तरलित हो उठना कोई आश्चर्य की बात नहीं होती। इस दृष्टि से यदि हम श्रीहर्ष की नाटक-रचनाओं को देखते हैं तो विदित होता है कि उनके ऊपर भास और कालिदास का विशेष प्रभाव तथा प्रेरणा निश्चित ही विद्यमान है। श्रीहर्ष के पूर्ववर्ती कवि भास ने उदयन कथाचक्र से सम्बन्धित दो नाटकों की रचना की है—स्वप्न-वासवदत्त और प्रतिज्ञायोगन्धरायण इन दोनों नाटकों का प्रभाव—विषय की एकता तथा कथानक एक जैसा होने के कारण हर्ष की दोनों नाटिकाओं प्रियदर्शिका तथा रत्नावली के ऊपर पड़ा है। इसी प्रकार कालिदास के नाटकों की भी घटनाओं, वर्णनों तथा कथोपकथनों में विशेष सादृश्यता दिखाई देती

---

'श्रीहर्षदेवेन पूर्ववस्तु रचनालंकृता रत्नावली नाम नाटिकाकृता'। रत्ना० ८

है। विशेषतः मालविकाग्निमित्र का प्रभाव भी। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हर्ष की नाटिकाओं में मौलिकता तथा नवीन कल्पनाओं का अभाव है।

विद्वानों का यह भी विचार है कि सम्भवतः हर्ष को मूल बृहत्कथा प्राप्त हुई हो और उसने अपने तीनों रचनाओं की कथावस्तु सीधे बृहत्कथा से ही ग्रहण की हो। इसकी पुष्टि नागानन्द की कथा की सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' में वर्णित 'जीमूतवाहन' की कथा से तुलना करने से होती है। वे कहते हैं कि उदयन कथा से सम्बद्ध प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाओं के विषय में ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह निश्चित नहीं है कि 'कथासरित्सागर' के लेखक सोमदेव ने मूल बृहत्कथा में वर्णित उदयन की कथा की घटनाओं के विकास-क्रम में क्या परिवर्तन किये हैं। उनके विचार में यह भी सम्भव है कि बौद्ध साहित्य से लेकर ईसा की १३वीं शताब्दी तक भारतीय साहित्य के एकाधिक क्षेत्रों में उदयन की कथा का प्रचार-प्रसार देखने को मिलता है। हर्ष ने स्वयं वत्सराज के चरित को 'लोक हारि' की संज्ञा से अभिहित किया है। ( रत्नावली १।५ ) कालिदास ने अपने मेघदूत में अपनी देश में ग्रामीण वृद्धजनों को उदयन कथा से अभिज्ञता का संकेत दिया है।[1] इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि उदयन से सम्बन्धित कथाएँ प्राचीन भारत मे अत्यधिक लोकप्रिय थीं। अतः यह अधिक सम्भव है कि हर्ष ने रत्नावली और प्रियदर्शिका की कथावस्तु अपने समय में प्रचलित लोक कथा से ग्रहण की हो।

हमारे विचार में श्री हर्ष को वही कथा-सूत्र मिला है, जो उसके पूर्ववर्ती कवि भास और कालिदास को प्राप्त था और इसीलिए उनके नाटकों में वर्णित वर्णनों, पात्रों तथा स्थानों की साम्यता श्रीहर्ष की नाटिकाओं के वर्णन में दिखाई देती है।

इसकी पुष्टि कथासरित्सागर में वर्णित आख्यान से हो जाती है। श्री-हर्ष ने रत्नावली में एकाधिक पात्रों तथा स्थानों के नाम मूलस्रोत से ही ग्रहण किये हैं।

---

१. प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् (३०) साथ ही पद्य ३१ (पूर्वमेघ)

वत्सराज उदयन, वासवदत्ता, यौगन्धरायण, रुमण्वान्, वसन्तक और काञ्चनमाला—ये पात्र मूल कथानक और हर्ष की नाटिका—रत्नावली—में अपरिवर्तित रूप में हैं। रत्नावली में रुमण्वान् को मन्त्री न बना कर सेनापति बना दिया गया है। कौशाम्बी और लावाणक—इन दो स्थानों के नाम भी पूर्ववत् ही हैं। इसके अतिरिक्त मूल कथानक में घटित घटनाओं को भी हर्ष ने ग्रहण कर अपनी नाट्यकला—निपुणता से रत्नावली में उनका नियोजन किया है। जैसे—लावाणक ग्राम में वासवदत्ता का प्रज्वलित अग्नि में जल जाने की असत्य वार्ता का प्रचार, उद्यान-लता कुञ्ज में छद्म नाम से रखी गई बन्धुमती से गुप्त प्रणय-प्रसंग, वासवदत्ता के दृष्टि-पथ में उसका आ जाना, इस पर वासवदत्ता का क्रुद्ध होना और वसन्तक और बन्धुमती को कारागार में डाल देना, वासवदत्ता का प्रसन्न होने पर राजकुमारी बन्धुमती को उदयन के हाथों में सौंप देना—आख्यान की सभी घटनाओं का हर्ष ने अपनी रत्नावली में बड़ी निपुणता से नियोजन कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि हर्ष ने मूल आख्यान से पात्रों—स्थानों और घटनाओं को यथावत् ग्रहण करके भी उनमें यथोचित परिवर्तन कर दिये हैं, जिनमें हर्ष की नूतन कल्पनाएँ परिलक्षित होती हैं—जैसे, मूल आख्यान में मगध-नरेश को मित्र बनाने की इच्छा से पद्मावती का विवाह उदयन के साथ करने का प्रस्ताव मन्त्रियों के परामर्श से किया जाता है।

किन्तु रत्नावली नाटिका में सिद्ध की भविष्यवाणी—रत्नावली के साथ उदयन का विवाह होने पर उसे चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होगी—के अनुसार मन्त्री यौगन्धरायण रत्नावली को वासवदत्ता के पास छद्म नाम से रख देता है। मूल आख्यान में लावाणक में वासवदत्ता के अग्नि में जल जाने वाली असत्य वार्ता का सम्बन्ध पद्मावती के विवाह के साथ है, जबकि रत्नावली में उस असत्य वार्ता को नायिका-रत्नावली के विवाह के साथ सम्बद्ध कर श्रीहर्ष ने अपना नाट्य कौशल प्रदर्शित किया है। मूल आख्यान में

पद्मावती के साथ विवाह करने के लिए राजा उदयन मगध जाता है; जबकि रत्नावली में नायिका—रत्नावली—को विवाह के लिये कौशाम्बी लाया गया है। आख्यान में उदयन और बन्धुमती के गान्धर्व विवाह का उल्लेख मात्र किया गया है; किन्तु रत्नावली में नायक उदयन और नायिका—रत्नावली—को एक एक दूसरे के प्रति आकर्षित होने के लिए—प्रथमानुराग की परिस्थितियों की सृष्टि निर्मित की गई है। ऐसे अनेक परिवर्तन श्री हर्ष ने मूल आख्यान की कथावस्तु को ग्रहण करते समय अपनी नाटिका के अनुकूल किये हैं, जिनसे नाटिका में नाट्योपयोगी प्रभाव बढ़ा है।

## श्रीहर्ष की मौलिक कल्पनाओं की सृष्टि

( १ ) यानभङ्ग की कल्पना श्री हर्ष की अपनी है, जिससे नायिका-रत्नावली को छद्म नाम से उदयन के अन्तःपुर में सुरक्षित रखने में सरलता होती है।

( २ ) वसन्तोत्सव के अवसर पर काम-पूजन की घटना की कल्पना श्री हर्ष की अपनी है। यही घटना नायिका के हृदय में नायक के प्रति प्रथमानुराग का बीजारोपण करने में सहायक है।

( ३ ) सागरिका ( रत्नावली ) तथा चित्र-फलक की कल्पना ही हर्ष की अपनी है, इसके द्वारा नायिका के प्रति नायक के हृदय में प्रथमानुराग का बीजारोपण हो जाता है।

(४) सागरिका का वेष परिवर्तन कर नायक के पास अभिसरण करना श्री हर्ष की मौलिक कल्पना है। वस्तुतः वेष परिवर्तन से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति के कारण उत्पन्न घटना-सांकर्य अत्यधिक सुन्दर बन पड़ा है। एक प्रकार से तृतीय अंक इस नाटिका का हृदय है।

(५) ऐन्द्रजालिक के जादू ( माया ) से कौशाम्बी में अन्तःपुर में प्रज्वलित अग्नि की घटना भी नूतन कल्पना है।

उपर्युक्त मूल आख्यान की कथावस्तु को ग्रहण करते समय उसमें परिवर्तन कर और कुछ नवीन कल्पनाओं के साथ उसे सम्बद्ध करने से नाटिका की

प्रभावोत्पादकता बढ़ी है और हर्ष का यह कहना कि रत्नावली नाटिका 'अपूर्व वस्तु रचनालङ्कृता' है, सर्वथा न्यायसंगत होने से यथार्थ प्रतीत होता है। निश्चित ही इन नूतन कल्पनाओं से तथा मूल आख्यान की कथावस्तु की घटनाओं में परिवर्तन कर कवि हर्ष ने सामाजिकों में उत्सुकता, सहानुभूति और हास्यमिश्रित आनन्द की अनुभूति करा दी है।

## संविधानक रचना का वैशिष्ट्य

संविधानक रचना का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें क्रिया ( Action ), स्थल ( Place ) और काल ( Time ) इन तीनों में एकान्विति है। नाटिका में मुख्य एक ही कथानक है। 'मालतीमाधव' की तरह इस नाटिका की प्रणय कथावस्तु में अन्य दूसरा उपकथानक नहीं है। नवमालिका को विकसित होने का प्रसंग, रुमण्वान् के द्वारा कोसलेश्वर का पराभव और ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल जादू का प्रदर्शन आदि प्रसंग नितान्त सरल और संक्षिप्त प्रसंग हैं। और उनका लक्ष्य केवल प्रधान कथानक को पुष्ट करना मात्र है। इस नाटिका की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ कौशाम्बी के राजप्रासाद में ही घटित होती हैं। सिंहलद्वीप, समुद्र और विन्ध्यपर्वत आदि पर घटित होनेवाली घटनाओं का उल्लेख मात्र है। इन घटनाओं को रंगमंच पर घटित होते नहीं दिखाया गया है। इसी प्रकार इस नाटिका की सभी घटनाएँ अत्यन्त सीमित समय में अर्थात् पाँच या छः दिनों में ही घटित हुई हैं। 'विक्रमोर्वशीय' या 'उत्तररामचरित' नाटक की तरह इस नाटिका में अनेक स्थलों या दीर्घकाल में घटित होने वाली घटनाएँ नहीं हैं। उपर्युक्त क्रिया-स्थल और काल में अन्विति-एकता-होने से या इनकी दृष्टि से 'रत्नावली' का कथानक एकदम एकाङ्गी और सुसंबद्ध होने से ही अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़ा है।

## रत्नावली का नाट्यशास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण

इस नाटिका का संविधानक जटिलताओं से मुक्त है। पताका या प्रकरी नामक अर्थ प्रकृतियों की कोई उलझन भी इसमें नहीं है। नाटिका के प्रारम्भ में ही विष्कम्भक की नियोजना की गई है। जो आगे घटित होने वाली या

पूर्व घटित घटनाओं का ज्ञान कराती है। यौगन्धरायण द्वारा पूर्वनियोजित तथा अनुकूल दैव के होने पर असम्भव बात भी सम्भव हो जाती है--'द्वीपा-दन्यस्मादपि'--इस कथन के साथ कथानक का आरम्भ होता है। कथानक जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु की पाँचों सन्धियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। रत्नावली नाटिका का बीज वत्सराज के द्वारा रत्नावली की प्राप्ति का कारणभूत अनुकूल दैव है, जो राजा के नायिका के प्रति अनुराग को बढ़ाने सहायक होता है। इस प्रकार प्रथम अंक में अनुराग-बीज का प्रक्षेप किया गया है और यहाँ मुख-सन्धि भी विद्यमान है। [ या इसे इस प्रकार भी देख सकते हैं—अन्तःपुर में परिचारिका के रूप में रहने वाली नायिका ( सागरिका ) कामदेव के पूजन के अवसर पर नायक-उदयन को देखती है और उसके हृदय में अनुराग अंकुरित हो उठता है। नायिका का प्रेम ही कथा का बीज है। प्रेम की विकलावस्था में वह अपने मनोविनोद के लिए नायक का चित्र अंकित करती है और वही चित्र फलक नायक के हाथ लग जाता है इस चित्रफलक को देखकर वह भी नायिका के प्रति अनुरक्त हो जाता है। यहाँ तक प्रयत्न नाम की दूसरी कार्यावस्था है। बिन्दु का उपक्षेप अस्तापास्तसमस्तभासिनभसः पारं प्रयाते रवौ' ( १।२३ ) इस श्लोक में है। प्रतिमुख सन्धि द्वितीय अंक में आती है, इसमें वत्सराज और सागरिका के मिलन के लिये प्रयत्नशील सुसंगता और विदूषक उस अनुराग को भली प्रकार से जान लेते हैं और वासवदत्ता भी चित्र-फलक के वृत्तान्त से उन दोनों के अनुराग का अनुमान करती है। इस प्रकार दृश्य और अदृश्य रूप से विकसित होने के कारण इस अङ्क में प्रतिमुखसन्धि विद्यमान है। सपत्नी-मत्सर के कारण वासवदत्ता राजा के प्रणय में विघ्न करेगी—इसकी सूचना प्रथम अङ्क में ही दी गई है—'यस्यैव दर्शनपथात् प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव दृष्टि-गोचरे पतिता भवेत्।' ( रत्ना० पृ० ४१ ) वासवदत्ता के हाथ में चित्रफलक के पड़ जाने पर वह कुपित और अधिक हो उठती है और राजा के विनय को अस्वीकार कर चली जाती है। इस कार्य से उसके कोप की प्रखरता विदित होती है। तीसरे अङ्क में सहायता करने वाले मित्रों ( वसन्तक और

सुसंगता ) की सहायता से मिलन की सम्भावना बढ़ती है, ( वेष-परिवर्तन के कारण ) किन्तु वासवदत्ता के अकस्मात् आगमन के कारण दो प्रेमियों-राजा और सागरिका ) के मिलन में बाधा उपस्थित होती है और वसन्तक तथा सागरिका के पकड़े जाने से मिलन में विघ्न पड़ता है और राजा देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने का प्रयत्न भी करता है किन्तु देवी उसके विनय को अस्वीकार कर देती है। इस प्रकार इस पूरे अंक में 'गर्भ' सन्धि का नियोजना है। चतुर्थ अंक में—अवमर्श सन्धि आग लगने तक के कथानक तक है। इस इस अंक में पूर्व की परिस्थिति में अन्तर आ जाता है। विरोध में कुछ शिथिलता परिलक्षित होने लगती है। देवी वासवदत्ता विदूषक को बन्धन से मुक्त कर देती है। विजयवर्मा रुमण्वान् द्वारा प्राप्त विजय की सूचना लाता है। सिंहलमंत्री वसुभूति तथा कञ्चुकी बाभ्रव्य कौशाम्बी में आ पहुँचते हैं। ऐन्द्रजालिक द्वारा कृत्रिम अग्नि प्रज्वलित होने तक—वासवदत्ता को सागरिका के प्रति चिन्ता और अनुराग होता है। राजा अग्निदाह से सागरिका को सुरक्षित बाहर ले आता है। राजा को,वासवदत्ता पर उपकार करने के कारण, सागरिका की प्राप्ति की निश्चित आशा होने लगती है। यही नियताप्ति नाम की चतुर्थ अवस्था है।

निर्वहण सन्धि चतुर्थ अंक के अर्ध में है। यहाँ वसुभूति तथा बाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं। विदूषक के गले में विद्यमान रत्नावली को देखकर सागरिका के यथार्थ रूप का ज्ञान हो जाता है। परिणामतः देवी वासवदत्ता सागरिका का हाथ राजा के हाथ में दे देती है। इस प्रकार राजा का उससे मिलन सम्पन्न होता है। यही फलागम नाम की अन्तिम कार्यावस्था है।

रत्नावली नाटिका, जैसा कि पूर्व में हमने कहा है, प्रणय प्रधान होने से शृङ्गार रस प्रधान है, अतः तदनुसार इसमें प्रधान वृत्ति कैशिकी है। इसका ज्ञान प्रथम अंक में प्रयुक्त वसन्तोत्सव में गीत, नृत्य वाद्य आदि से, दूसरे अंक में सागरिका के चित्र को देखकर उसके सौन्दर्य वर्णन से, तृतीय अंक में—

राजा का यह कथन प्रिये सागरिके ! 'अङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ।' (रत्ना० ३।११, पृ० १३५) आदि कामदाह से उत्पन्न चेष्टाओं से नायक की कैशिकी वृत्ति ज्ञात होती है ।

द्वितीय अंक में वानर के उपद्रव में आरभटी वृत्ति का भी प्रयोग किया गया है । 'श्री हर्षो निपुणः कविः' इत्यादि प्ररोचना में भारती वृत्ति का प्रयोग किया गया है ।

इस प्रकार नाट्यशास्त्रीय पद्धति पर निर्मित इस नाटिका की प्रख्याति का ज्ञान हमें 'दशरूपक' में धनंजय द्वारा किये हुए विश्लेषण से होता है । धनंजय ने इसकी कथावस्तु का विस्तृत विश्लेषण 'दशरूपक' में किया है । साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने भी सन्धियों तथा सन्ध्यङ्गों के दृष्टान्त उपन्यस्त करने के लिए इसे ही विशेष रूप से चुना है । किन्तु यहाँ विशेषरूप से यह ध्यातव्य है कि दशरूपककार धनंजय और साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के द्वारा नाट्यलक्षणों के दृष्टान्तों को इस नाटिका को चुन लिये जाने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि नाटकीय विधिविधानों को प्रदर्शित करने के लिए ही हर्ष ने रत्नावली की रचना की । यदि ऐसा उसने किया होता तो निश्चित रूप से यह नाटिका साधारण कोटि की ही होती । वस्तुतः नाटक की सफलता उसमें निहित घटनाओं की गतिशीलता पर पात्रों के व्यापार की स्वाभाविकता पर, कथावस्तु की संघटना या उसकी चुस्ती पर निर्भर होती है, केवल शास्त्रोक्त नियमों का पालन करने पर नहीं । निपुण कवि हर्ष ने एक सुन्दर और आदर्श-कथानक को ग्रहण कर उसे भव्य रूप मे परिणत किया है । जिसका विश्लेषण करने पर नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु की पाँचों सन्धियाँ स्पष्टरूप से परिलक्षित होती हैं ।

परिणामतः कथावस्तु की सुश्लिष्टता, घटनाओं की गतिशीलता और रंगमंच पर अभिनेयता की दृष्टि से हर्ष की रत्नावली संस्कृत के रूपकों में अपने गुणों के कारण आज प्राचीन काल से प्रसिद्ध है । विशेष बात यह है भट्टनारायण के

वेणीसंहार की तरह रत्नावली का वस्तु विन्यास कहीं भी शिथिल नहीं है। इनके गुणों को देखकर ही दामोदर गुप्त ने कहा है—

'आश्लिष्टसन्धिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम्॥'

इस प्रकार हर्ष के नाट्य कला नैपुण्य को देख कर यह कहने में सङ्कोच नहीं होता कि हर्ष नाट्य शास्त्र का मुखापेक्षी नहीं रहा, उसने अपनी नाटिकाओं की रचना के लिए पूर्ववर्ती नाट्य कृतियों से प्रेरणा अवश्य ग्रहण की है। परिणामतः उसकी कृतियाँ उत्तरवर्ती नाट्य कृतियों के लिए आदर्श बन सकी है। यह अलग बात है, कि प्रथम श्रेणी के नाटककार कालिदास के साथ उसकी तुलना करने के कारण ही लोगों ने उसे अपेक्षित सम्मान नहीं दिया है। फिर भी नाटकीय गुणों की दृष्टि से हर्ष की रत्नावली संस्कृत नाट्य साहित्य की अनुपम कृतियों में से एक है। और वह अकेली ही हर्ष को संस्कृत नाटककारों में प्रतिष्ठित स्थान देने में अलम् है।

## रत्नावली में प्रकृति ( पात्र स्वभाव ) चित्रण

संस्कृत नाटकों में पात्रों का चरित्र प्रायः विशेष प्रकार के पैटर्न या निर्मित साँचे में ढला हुआ होता है। नाट्याचार्यों ने नायक, नायिका, प्रतिनायक, विदूषक आदि सभी का स्वरूप तथा कार्य निर्धारित कर दिया है। अतः परवर्ती कवि अपने नाटकों में उन पूर्व निर्धारित आदर्शों का पालन करने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनमें वैयक्तिक विशेषताएँ देखने में नहीं आतीं। स्वभाव की व्यञ्जना प्रायः पात्रों के वचन तथा उनके कार्यों द्वारा ही होती है। कवि पात्र के स्वभाव का साक्षात् वर्णन नहीं करता क्योंकि वह नीरस हो सकता है।

रत्नावली नाटिका कथानक प्रधान है। इसका पूरा कथानक पूर्व निश्चित है। अतः पूर्व निश्चित घटनाओं को सरलता से होने देना ही पात्रों का

प्रयोजन है। इसकी घटनाएँ पात्रों के परस्पर विरोधी स्वभाव विशेष से प्रायः उत्पन्न नहीं होतीं।

अतः इसमें पात्रों के स्वभाव विशेष का कोई विशेष भी दिखाई नहीं देता। फिर भी कुछ पात्र सजीवता लिये हुए हैं।

राजा उदयन—वत्सराज उदयन इस नाटिका का नायक है। उसका चित्रण धीरललित नायक के रूप में किया गया है। वह ऐश्वर्य सम्पन्न, सुन्दर शूर, सौजन्य युक्त और उदार भावना से सम्पन्न है। वह निश्चिन्त्य, मृदु और कलापरायण है।—वह स्वयं कहता है—'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तोभरः।' भास के उदयन के चरित्र से रत्नावली के उदयन-चरित्र में पर्याप्त भिन्नता है। इसमें उसके केवल मनोरम रूप का ही चित्र अङ्कित किया है—'लोके हारि च वत्सराज चरितम्।' स्वभाव से उदार होने के कारण वह शत्रु की भी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से करता है। कोसलपति की मृत्यु वार्ता सुन कर उसके मुख से ये शब्द निकल पड़ते हैं—'साधु कोसलपते! साधु, मृत्युरपि ते श्लाघ्यो यस्य शत्रवोऽप्येवं पुरुषकारं वर्णयन्ति।'—ऐसा कथन किसी भीरु तथा अधम व्यक्ति के मुख से सहसा नहीं निकल सकता। रत्नावली का उदयन विशेष रूप से स्त्रैण राजा के रूप में अङ्कित है। उसमें दक्षिण, शठ और धृष्ट नायक के गुणों का मिश्रण है।

सागरिका ( रत्नावली )

सिंहलेश्वर विक्रमबाहु की कन्या सागरिका ( रत्नावली ) इस नाटिका की नायिका है। वह मुग्धा नायिका है। वह रूपवती है। वृत्ति से वह लज्जाशीला है। अपनी सखियों पर प्रेम करने वाली है।

स्वभाव से सौम्य है। चित्रकला में निपुण है। राजा उदयन के प्रति उसका प्रेम उत्कट है। इस नाटिका में उसके चरित्र का अधिक विकास, अवकाश न होने के कारण, नहीं हो सका है।

**वासवदत्ता**

वासवदत्ता महाराज उदयन की प्रधान महिषी है। वह हृदय से उदार, अत्यन्त कोमल तथा प्रेम प्रवण है। वासवदत्ता राजा की रूपपिपासा, उसकी भ्रमर-वृत्ति से खूब परिचित है। इसीलिए वह लावण्यवती सागरिका को राजा के सम्मुख नहीं आने देती। यद्यपि वह राजा पर प्रगाढ प्रेम रखती है, तथापि उसे यह सह्य नहीं है कि अन्य कोई दूसरी सुन्दरी राजा के प्रेम की अधिकारिणी बने। वस्तुतः पतिव्रता स्त्रियों में रहने वाला मत्सर एक प्रकार से विलासी पुरुषों को अधःपतन से रक्षा करने वाला रक्षक ही होता है। इसीलिए वह राजा को कठोर शब्दों में डाँटती भी है। उसे अपने कठोर व्यवहार पर पश्चात्ताप भी होता है। यह उसकी महानता है। संक्षेप में वह ज्येष्ठा के अनुरूप सेर्ष्य और मानवती है।

**वसन्तक**

राजा का नर्म-सचिव वसन्तक (विदूषक) मूर्ख होने पर भी प्रत्युत्पन्नमति है।

# नाटकीय पारिभाषिक शब्दों का संक्षिप्त विवरण

( १ ) नान्दी—यह नाटकों का पारिभाषिक शब्द है। नाटकों के मंगल पद्य को नान्दी कहते हैं। 'नन्द्यन्ते स्तूयन्ते देवता अस्यां नान्दी' जिसमें देवताओं का स्तवन किया जाय। आचार्य विश्वनाथ ने नान्दी की परिभाषा इस प्रकार की है।

आशीर्वचन संयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्वीजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

अर्थात ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए आशीर्वादात्मक वाक्य से युक्त नाटक के आरम्भ में देव-ब्राह्मण-नृपादि की मांगलिक प्रार्थना को नान्दी कहते हैं। नान्दी अष्टपदा अथवा द्वादशपदा होती है।

( २ ) सूत्रधार—नाट्योपकरणों को सूत्र कहते हैं। उसे धारण करने वाला सूत्रधार कहलाता है।

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः॥

कुछ विद्वानों के अनुसार नाटकीय कथासूत्र की प्रथम सूचना देने वाले को सूत्रधार कहते हैं। यह सूत्रधार ही नान्दी पाठ करता है।

'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं सरमाश्रितः॥'

( ३ ) नेपथ्य—इस शब्द के अनेक अर्थ हैं, पर्दा, पर्दे के पीछे का स्थान, जहाँ पात्र वेश धारण करते हैं, प्रसाधन और पात्रों की वेशभूषा, इन अर्थों में नेपथ्य शब्द प्रयुक्त होता है। प्रकृत में 'रंगमंच' के समीप के उस स्थान को, जहाँ पर नट अपनी वेशभूषा धारण करते है, नेपथ्य कहते हैं।

॥ कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते॥

( ४ ) प्रस्तावना—नाटक के आरम्भ का वह भाग जिसमें सूत्रधार

नटी अथवा किसी अन्य पात्र के भाषण करते हुए नाटक की सूचना देता है प्रस्तावना कहलाता है। इसी को आमुख भी कहते हैं।

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम्।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्।
प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम्।
प्रयोगातिशयश्चाथ......................................॥

इसको इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि 'प्रस्तूयते' उपस्थाप्यते नाटकस्य कथावस्तु यत्र सा प्रस्तावना' अर्थात् जिसमें नाटक की कथावस्तु को प्रस्तुत किया जाय, उसे प्रस्तावना कहते हैं।

अर्थात् जिस स्थल पर सूत्रधार नटी, पारिपार्श्विक अथवा विदूषक के साथ वार्तालाप करते हुए उक्ति वैचित्र्य के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप कर कर कथावस्तु को संकेतित करते हुए अपने कार्य को वर्णित करे उसे आमुख अथवा प्रस्तावना कहते हैं।

( ५ ) विष्कम्भक—कथा के वे अंश जिनको अंकों में विस्तार से प्रदर्शित करना अभीष्ट न हो परन्तु घटना चक्र को समझने के लिए जिनका ज्ञान आवश्यक हो उन्हें अर्थोपक्षेपकों के द्वारा उपस्थित कराना चाहिए। अर्थोपक्षेपक पाँच होते हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कावतार और अङ्कमुख। विष्कम्भक नाटक में किसी भी अंक के आदि में आने वाला वह भाग है जिसमें मध्यम श्रेणी के एक या दो पात्रों द्वारा पारस्परिक वार्तालाप में भूत अथवा भविष्यत् की नाटकीय कथावस्तु से सम्बद्ध घटनाओं को सूचित किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है शुद्ध और संकीर्ण। एक या अनेक मध्यम पात्रों के द्वारा कल्पित विष्कम्भक शुद्ध होता है। एक मध्यम और एक नीच दो भिन्न वर्गों के पात्रों द्वारा कल्पित विष्कम्भक संकीर्ण होता है—

वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥
एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः॥

( ६ ) प्रवेशक—उत्तम या मध्यम पात्रों को छोड़ कर अन्य अधम या नीच पात्रों द्वारा सम्पादित अनुदात्त अर्थात् संस्कृत भिन्न अन्य प्राकृत भाषाओं में कथित विष्कम्भक के द्वारा छोड़े गए शेष अर्थ का द्योतक एवं अतीत तथा भविष्यत् घटना की सूचना देने वाला प्रवेशक होता है। प्रवेशक दो अंकों के मध्य में रहता है। प्रवेशक प्रथम अंक में नहीं होता।

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः॥

विष्कम्भक एवं प्रवेशक में अन्तर यह है कि नाट्य में विष्कम्भक पहले रहता है जबकि प्रवेशक बाद में रहता है एव दो अंको के मध्य रहता है। विष्कम्भक मध्यम पात्र अथवा मध्यम एवं अधम पात्रों से सम्पादित होता है। जबकि प्रवेशक में अधम पात्र ही होते हैं। मध्यम अथवा उत्तम नहीं। अतः विष्कम्भक में मध्यम पात्र होने पर संस्कृत एवं मध्यम तथा अधम पात्रों से संकीर्ण होने पर संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं का प्रयोग होता है जबकि प्रवेशक में केवल प्राकृत का प्रयोग होता है। व्यतीत एवं भविष्यत् घटनाओं की सूचना देते हैं। पर प्रवेशक उतनी ही सूचना देता है जितना विष्कम्भक न दे पाया हो।

( ७ ) प्रकाशम्—अभिनय की आवश्यकता के अनुसार नाटकीय कथा-वस्तु को तीन भागों में विभाजित किया गया है—'सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य, अश्राव्य। इसमें प्रथम अर्थात् सर्वश्राव्य नाटकीय कथावस्तु का वह भाग है जिसका रंगमंच के समस्त पात्रों को सुनाना अभीष्ट होता है इसी को प्रदर्शित करने हेतु 'प्रकाशम्' शब्द प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है—'प्रकट रूप में'।

( ८ ) स्वगतम्—इसका प्रयोग कथावस्तु के उस भाग को प्रदर्शित करता है, जो किसी भी पात्र को सुनाया नही जाता। इसके द्वारा स्थिति विशेष में पात्र के मानसिक भावों की अभिव्यक्ति होती है। जिससे उस पात्र के चरित्र की अभिव्यक्ति होती है। 'स्वगत' का अर्थ होता है 'मन ही मन'।

( ९ ) अपवारितम् —जहाँ समीपवर्ती पात्र से दूसरी ओर मुँह फेर कर उससे छिपा कर किसी दूसरे पात्र से गोप्य बात कही जाती है उसे 'अपवारित' कहा जाता है।

अपवारित रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम्

( १० ) कञ्चुकी—यह अन्तःपुर में काम करने वाला वृद्ध नौकर है। अर्थात् कञ्चुकी उस कार्यकुशल व्यक्ति को कहते हैं, जो जाति से सर्वगुण सम्पन्न ब्राह्मण हो और राजा के अन्तःपुर में कार्यों के लिए नियुक्त हो॥

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥

डॉ० त्रिनाथ शर्मा
( भू० पू० अध्यक्ष-वैदिक-दर्शन विभाग )
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

॥ श्रीः ॥

महाकवि-श्रीहर्षदेवविरचिता

# रत्नावली

## 'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेता

### प्रथमोऽङ्कः

पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने।
ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः॥ १॥

---

पूज्यो गणेश इति शक्तिरपीह केचित्,
प्राहुः परे च तपनं शशिभालमन्ये।
तैस्तैर्विभासि खलु रूपगुणैस्त्वमेव
तस्मात्त्वमेव शरणं कमलायताक्ष! ॥ १॥

अन्वयः—तदाराधने, पादाग्रस्थितया, स्तनभरेण, मुहुः नम्रताम्, आनीतया, शम्भोः, सस्पृहलोचनम्, यान्त्या, सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया, ह्रीमत्या, गिरिजया, शिरसि, ईहितः, क्षिप्तः अन्तरे विश्लिष्यन्, कुसुमाञ्जलिः वः पातु॥ १॥

---

शंकर की आराधना में पैरों के अगले भाग पर खड़ी हुई, स्तनों के भार से बार-बार झुकती हुई परमेश्वर शिव के द्वारा स्नेहपूर्ण दृष्टी से देखी जाती

इह खलु ख्यातिलब्धशिरोमणिस्तत्र भवान् अशेषदेशभाषाज्ञः, श्रीहर्षः निर्मित्सितायाः नाटिकायाः (रत्नावली) निर्विघ्नपरिसमाप्तिमभिलषन् प्रत्यूह-व्यूहविघातायात्मनो भरतानाञ्च। 'रंगविघ्नोपशान्त्यर्थं नान्दीमादौ प्रयोजयेत्' इत्यालङ्कारिकवचनमनुसरन् परमेश्वरनामसङ्कीर्तनरूपां नान्दीमादौ निर्दिशति—पादाग्रस्थितयेति।

तदाराधने तस्य धूर्जटेः आराधने उपासनायाम्। मुहुः अनेकवारम्। पादाग्रस्थितया पादयोः चरणयोः अग्राभ्याम् अग्रभागाभ्याम् चरणाभ्याम् चरणाग्रभागाभ्यामिति यावत्, स्थितया अवस्थितया दण्डायमानभावेनावस्थितया वा। स्तनभरेण स्तनयोः कुचयोर्वा भरः तेन। स्तनौ कुचौ इत्यमरः। मुहुः पुनः पुनः वारं वारं वा। नम्रताम् अवनतिम्। आनीतया प्रापितया। शम्भोः महेश्वरस्य शिवस्य वा। 'शम्भुरीशः पशुपति'रित्यमरः। सस्पृहलोचनत्रय-पथम् अनुरागेण सहितं सस्पृहम् लोचनानां त्रयं लोचनत्रयं, सस्पृहञ्च तल्लोचन-त्रयञ्च सस्पृहलोचनत्रयम् तस्य पन्थाः मार्गः तम्। यान्त्या गच्छन्त्या सपुलक-स्वेदोद्गमोत्कम्पया रोमाञ्चः स्वेदोद्गमः घर्मोद्भवः उत्कम्पः वेपथुः तैः सहितया। ततः ह्रीमत्या लज्जावत्या गिरिजया उमया। शिरसि धूर्जटेः मस्तके ईहितः पातयितुमभिलषतः किन्तु कम्पनस्वेदादिकारणेन क्षिप्तः विकीर्णः (सन्) अन्तरे पार्वतीपरमेश्वरयोर्मध्ये, विशीर्यमाणः कुसुमाञ्जलिः सुममाञ्जलिः पुष्पाञ्जलि र्वा। 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्'इत्यमरः। वः युष्मान् रसिक-वरेण्यान् सामाजिकान् पातु रक्षतु। अत्र सपुलकेत्यादिना रत्यभिव्यञ्जकानु-भावान्तर्गताः कतिचन सात्त्विकभावा दर्शिताः। एतेन उभयोः प्रथमानुरागो-वर्णितः। अत्र स्तनभरेणेत्यादिह्रीमत्येत्यन्तानां पदानामञ्जलिक्षेपे हेतुत्वात्काव्य-लिङ्गमलङ्कारः। काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्य पदार्थतः इति मम्मटः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं। सूर्याश्वैर्मसजस्ततः स गुरवः शार्दूलविक्रीडितमिति तल्लक्षणात् ॥१॥

---

हुई, उस कारण रोमाञ्च, स्वेद-कम्पादि भावों से लज्जावनत हुई पार्वती के द्वारा शंकर के मस्तक पर अर्पण करने हेतु अभीष्ट कुसुमाञ्जलि को बीच में ही गिरा कर बिखेर दिया, वही पुष्पाञ्जलि आप लोगों की रक्षा करे।

अपि च—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।

अन्वयः—नवे सङ्गमे औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा ह्रिया व्यावर्तमाना बन्धुवधूजनस्य तैस्तैः वचनैः पुनः आभिमुख्यं नीता अग्रे वरं दृष्ट्वा संरोहत्पुलका आत्तसाध्वसरसा हसता हरेण श्लिष्टा गौरी वः शिवाय अस्तु ॥ २ ॥

द्वितीयं नान्दीपदमवतारयति—औत्सुक्येनेति । नवे प्राथमिके सङ्गमे समागमे औत्सुक्येन प्रियसाहचर्यलाभोत्कण्ठया । कृतत्वरा कृता विहिता त्वरा शीघ्रता यया तादृशी प्रियसमीपोपसर्पणलोभेन द्रुतं चालिता इत्यर्थः । सहभुवा सहोत्पन्नया स्वभावसिद्धया ह्रिया लज्जया व्यावर्तमाना परावर्तनप्रवृत्ता पराङ्मुखीभवन्तीत्यर्थः । बन्धुवधूजनस्य बन्धु प्रियः वधूजनः भ्रातृजायादिसमूहः तस्य । तैस्तैः समयोचितैः प्रसिद्धैः 'गच्छ गच्छाग्रत' इत्यादिभिरिति यावत् वचनैः आभिमुख्यं प्रियसामुख्यं नीता प्रापिता । अग्रे सम्मुखे वरम् श्रेष्ठं परिणेतारं शङ्करञ्च दृष्ट्वा अवलोक्य । संरोहत्पुलका संरोहन् आविर्भवन् पुलकः रोमाञ्चः यस्याः सा । आत्तसाध्वसरसा आत्तः गृहीतः साध्वसरसः भयभावः यया तादृशी । हसता प्रियविश्वासजननाय स्मयमानेन हरेण शंकरेण श्लिष्टा आलिंगिता गौरी पार्वती वः युष्माकं सामाजिकानां शिवाय कल्याणाय अस्तु जायताम् ।

अत्र 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि' इत्युक्तं रसदोषप्रकरणे, तथापि इहौत्सुक्यस्य सञ्चारिणः स्वशब्दवाच्यता न दोषः । अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने हरेण गौर्याः समागमे न झटिति प्रतीतिः,

और भी—

नववधू पार्वती के हृदय में अपने पति शंकर से मिलने की उत्सुकता है, इस हेतु वह तेजी से पति के पास जाना चाहती है, पर दूसरी ओर नारी सहज लज्जा उसे वापस लौटा रही है। इस दशा को देख कर बान्धव-स्त्रियों

दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥ २ ॥

अपि च—

क्रोधेद्धैर्दृष्टिपातैस्त्रिभिरुपशमिता वह्नयोऽमी भयांऽपि
त्रासार्ता ऋत्विजोऽधश्चपलगणहृतोष्णीषपट्टाः पतन्ति ।

---

सम्भ्रमस्य भयादिनापि उत्पत्तेः। ह्रियोऽनुभावस्य च निवर्तनस्य कोपादिनाऽपि सम्भवात्। भयहास्ययोस्तु व्यभिचारिभावविषयोस्तु विभावादिपरिपोषस्य प्रकृतरसप्रतिकूलप्रायत्वादित्येषां स्वशब्दैः कथनम् नो दोषावहमिति भावः यथाऽऽहुः साहित्यदर्पणकाराः 'क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन दोषो व्यभिचारिणः। अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता' ॥ अपि च, अत्रौत्सुक्यस्य नैकोऽपि तादृशोऽसाधारणोऽनुभावादिरस्ति। येनोपात्तेन औत्सुक्यमसंशयं प्रतीयते, येऽपि च त्वरादयस्तेऽपि नासाधारणाः, गुरुजनसज्जनभयादिना अपि तेषां सम्भवादित्यौत्सुक्यस्य सञ्चारिणः स्वशब्दवाच्यता न दोषः। यथाऽऽहुः काव्यप्रकाशकाराः 'न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित्' इति ॥ अत्र नवोढाया यथावत् क्रियावर्णनात् स्वभावोक्तिरलंकारः, स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनमिति मम्मटः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं, लक्षणमुक्तं पूर्वम् ॥२॥

अन्वयः—त्रयः अपि अमी वह्नयः क्रोधेद्धैः त्रिभिः दृष्टिपातैः उपशमिताः। चपलगणहृतोष्णीषपट्टाः त्रासार्ताः ऋत्विजः अधः पतन्ति। दक्षः स्तौति।

---

के उन उन उत्साहजनक वाक्यों से पुनः शंकर के सन्मुख लायी हुई, आगे अपने प्रिय वर शंकर को देख कर भय तथा प्रेम दोनों से युक्त होती हुई तथा हँसते हुए शंकर के द्वारा इस तरह आश्लिष्ट हुई पार्वती सामाजिकों की रक्षा करे ॥ २ ॥

और भी—

ये तीनों अग्नियाँ ( दक्षिण, गार्हपत्य और आहवनीय ) क्रोध से ज्वाजल्यमान दृष्टिपातों से शान्त हो गईं। चञ्चल प्रमथादि गणों द्वारा उतारी गई पगड़ी वाले भयार्त ऋत्विग् अपने स्थानों से नीचे गिर रहे हैं। प्रजापति

दक्षः स्तौत्यस्य पत्नी विलपति करुणं विद्रुतं चापि देवैः
शंसन्नित्यात्तहासो मखमथनविधौ पातु देव्यै शिवो वः ॥ ३ ॥

अपि च—

---

अस्य पत्नी करुणं विलपति । अपि च देवैः विद्रुतम् । इति देव्यै मखमथनविधौ शंसन् आत्तहासः शिवः वः पातु ॥ ३ ॥

एतत् तृतीयं नान्दीमवतारयति श्रीहर्षः क्रोधेद्धैरिति । त्रयः अपि—दक्षिणगार्हपत्याहवनीयाख्या अमी प्रसिद्धाः वह्नयः अग्नयः क्रोधेद्धैः कोपेन अवमाननाजनितमन्युना इद्धैः प्रदीप्तैः । त्रिभिः दृष्टिपातैः नयनत्रितय-निपातनैः उपशमिताः निर्वापिताः । चपलगणहृतोष्णीषपट्टाः चपलैः चञ्चलैः प्रमथादिगणैः हृताः अपनीताः उष्णीषपट्टाः शिरोवेष्टनवस्त्राणि येषां ते तथोक्ताः । उष्णीषः शिरोवेष्टकिरीटयोरित्यमरः । वा सार्ताःभयेन वीरभद्र-प्रमथकरालरूपावलोकजनितभीत्या आर्ता विह्वलाः ऋत्विजः याजकाः अधः पतन्ति स्वस्थानात् च्युता भवन्ति । दक्षः अध्वरदीक्षितः यजमानः प्रजापतिः कोपप्रशमार्थं स्तौति स्तुतिं करोति । अस्य प्रजापतेः पत्नी करुणं विलपति परिदेवयति । अपि च तथा च यज्ञभागग्रहणाय समुपस्थितैः अमरगणैश्चापि विद्रुतम् भयात् पलायनं कृतं । इति इत्थं प्रकारेण देव्यै उमायै मखमथनविधौ मखस्य क्रतोः मथनविधौ ध्वंसकर्मणि । 'यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतु'रित्यमरः । शंसन् कथयन् । आत्तहासः गृहीतः हासो येन सः । शिवः शंकरः वः युष्मान् सामाजिकान् पातु रक्षतु । एतेन प्रौढया पार्वत्या सहालापो वर्णितः । स्रग्धरा-वृत्तम् । म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥ ३ ॥

---

दक्ष स्तुति कर रहे हैं । उनकी पत्नी करुण विलाप कर रही है, देवता भागे जा रहे हैं । इस प्रकार पार्वती से यज्ञ विध्वंस के सम्बन्ध में अटटहासपूर्वक कहते हुए शिव आप लोगों की रक्षा करें ॥ ३ ॥

और भी—

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु ।
भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः ॥४॥

( नान्द्यन्ते )

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । अद्याहं वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तो

---

अन्वयः— उडुपतिना, जितम् सुरेभ्यः नमः, द्विजवृषभाः निरुपद्रवाः भवन्तु, पृथिवी च समृद्धशस्या भवतु, नरेन्द्रचन्द्रः चन्द्रवपुः प्रतपतु ॥ ४ ॥

एतच्चतुर्थं माङ्गलिकं श्लोकमारचयति कविः जितमिति । उडुपतिना उडूनाम् नक्षत्राणां पतिः स्वामी चन्द्रस्तेन, चन्द्रेण लक्षणया चन्द्रवंशीयेन राज्ञा श्रीहर्षेण वा । जितं सर्वोत्कर्षेण वर्त्तितम् । 'तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्' इत्यमरः । सुरेभ्यः विबुधेभ्यः देवेभ्यः वा नमः नमस्कारः । 'त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः । द्विजवृषभाः द्विजाः वृषभा इवेति ब्राह्मण श्रेष्ठाः निरूपद्रवाः विगतबाधाः उपद्रवेण बाधया रहितावां भवन्तु जायन्ताम् । पृथिवी पृथ्वी 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः । च समृद्धसस्या समृद्धं शस्यं यासां सा तादृशी सम्पन्नविपुलव्रीहिः भवतु जायताम् । नरेन्द्रचन्द्रः नरेन्द्रः चन्द्र इव इति । चन्द्रवपुः चन्द्रस्य वपुः शरीरम् इव वपुः यस्य तादृशस्सन् प्रतपतु प्रतापं प्रकटयतु । पुष्पिताग्रावृत्तम्, तदथा 'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि नजौ जरजाश्च पुष्पिताग्रे'ति ॥ ४ ॥

नान्द्यन्त इति । विघ्नोपशान्तये प्रथमं विधीयमाना शुभाशीर्वचनसंयुक्ता देवविप्रनृपादीनां स्तुतिः 'नान्दी' तथा च दर्पणे आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्

---

चन्द्रमा ( चन्द्रवंशीय राजा ) की जय हो । देवों को नमस्कार है । द्विजश्रेष्ठ बाधाओं से रहित हों । पृथ्वी शस्यशामला अर्थात् धान्यादि से परिपूर्ण हो । राजाधिराज ( श्रीहर्ष ) चन्द्रमा के समान आह्लादक शरीर धारण कर अपने प्रताप को वृद्धिगत करें ॥४॥

( नान्दी पाठ के पश्चात् )

सूत्रधार–अधिक विस्तार करना व्यर्थ है । आज वसन्त ऋतु के उत्सव में विभिन्न दिग्दिगन्त से आये हुए राजा श्रीहर्ष के चरणकमल के आश्रित राजसमूह

यथा—अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालङ्कृता रत्नावली नाम नाटिका कृता । सा चास्माभिः श्रोत्रपरम्परया श्रुता न तु प्रयोगतो दृष्टा । तत्तस्यैव राज्ञः सकलजनहृदयाह्लादिनो बहुमानादस्मासु चानुग्रहबुद्धया यथावत्प्रयोगेण त्वया नाटयितव्येति । तद्यावदिदानीं नेपथ्यरचनां

---

प्रयुज्यते । देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति कथ्यत इति । अर्थात् नाटकीयक्रियाकूटान्तरायवारणाय या देवद्विजनृपादीनामाशीः प्रथमं क्रियते सैव नान्दीशब्देनोच्यते सेह प्रागुक्तश्लोकात्मिका । उक्तलक्षणरूपाया नान्द्याः अन्ते अवसाने सूत्रधारः प्रविश्याहेत्याशयः ।

सूत्रधार इति । सूत्रं नाटकीयकथासूचकवाक्यं धारयति समुपस्थापयति यः सः प्रधान नट इत्यर्थः । तथाहि 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः ॥ अपरश्च 'नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते । रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥इति ।

अलमिति । अतिविस्तरेण नान्दीपाठस्य अत्यन्तप्राचुर्येण, अलम् इतोऽधिकं नान्दीपाठो मा विधेय इत्यर्थः । 'विस्तारोविग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः । यदीतोऽपि बहुतरं नान्दीपाठो भवेत्तदाकालक्षेपो भविष्यति, अतोऽधिकनान्दीपाठविधानं व्यर्थमेवेति तात्पर्यम् ।

अद्येति । अद्य अहं वसन्तोत्सवे वसन्तर्तुप्रारम्भे सबहुमानम् अत्यादरपूर्वकम् । आहूय आकार्य । नानादिग्देशागतेन नाना दिशः येषां ते च ते देशाश्च तेभ्यः आगतेन विभिन्नजनपदसमायातेन । राज्ञः भूपतेः श्रीहर्षदेवस्य एतन्नामकस्य, पादपद्मोपजीविना पादौ पद्म इवेति पादपद्मे ते उपजीवति स्वाश्रयी करोति पादपद्मोपजीवीतेन तेन, चरणकमलाश्रयिणेत्यर्थः । राजसमूहेन नृपगणेन उक्तः कथितः किमुक्तमित्यपेक्षां शमयितुमाह —यदेत्यादि—अस्मत्स्वामिना,

---

ने मुझे अत्यन्त सम्मानपूर्वक बुलाकर कहा कि हमारे स्वामी श्रीहर्षदेव ने अपूर्ववस्तु रचना से अलङ्कृत रत्नावली नामक नाटिका की रचना की है। उसे हमने कर्णपरम्परा से सुना है, किन्तु अभिनीत स्वरूप में नहीं देखा। इस हेतु समस्त जनरञ्जक उस राजा के प्रति अत्यन्त सम्मान तथा हम लोगों

कृत्वा यथाभिलषितं सम्पादयामि। ( परिक्रम्य अवलोक्य च। ) अये आवर्जितानि सकलसामाजिकानां मनांसीति मे निश्चयः। कुतः—

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।

---

अस्माकं रक्षकेण श्रीहर्षदेवेन अपूर्ववस्तुरचनाऽलङ्कृता अपूर्वेण विलक्षणेन वस्तुना प्रतिपाद्यकथया अपूर्वया रचनया वर्णनया च, अलङ्कृता भूषिता, रत्नावली नाम्ना प्रसिद्धा नाटिका रूपकविशेषः कृता रचिता। अत्र 'रङ्ग-प्रसादमधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः। रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत्॥ ऋतु च कश्चित्प्रायेण 'भारती' वृत्तिमाश्रितः" इति साहित्यदर्पणोक्तिमनुसृत्य सूत्रधारः कवेर्नाम गोत्रादि नाटकस्य नाम निबद्धवान्।

साचेति। सा च नाटिका अस्माभिः श्रोत्रपरम्परया कर्णाकर्णिकया श्रुता आकर्णिता न तु प्रयोगतः अभिनयद्वारा दृष्टा अवलोकिता। तत् तस्मात् कारणात् तस्यैव राज्ञः उक्तस्यैव नरपतेः सकलजनहृदयाह्लादिनः निखिल-प्रजारञ्जकस्य। बहुमानात् आदरातिशयात्। अस्मासु नानादिग्देशागतराजसु च, अनुग्रहबुद्ध्या कृपया कृपां कृत्वा यथावत्प्रयोगेण समुचिताभिनयेन त्वया नाटयितव्या अभिनेतव्या इति। तत् तस्मात् कारणात् यावत् इदानीम् अधुना नेपथ्यरचनां वेषविन्यासं कृत्वा विधाय यथाभिलषितं यथावाञ्छितम् सम्पादयामि अनुतिष्ठामि। ( परिक्रम्य किंचिच्चलित्वा अवलोक्य दृष्ट्वा ) अये इति सम्भ्रमबोधकमव्ययं। सकलानां समस्तानां सदस्यानां मनांसि चेतांसि आवर्जितानि आकर्षितानि इति मे निश्चयः विश्वासः।

अन्वयः—श्रीहर्षः निपुणः कविः, एषा परिषद् अपि गुणग्राहिणी, लोके वत्सराजचरितं च हारि, वयं च नाट्ये दक्षाः, इह एकैकम् अपि वस्तु

---

के प्रति अनुग्रह बुद्धि से तुम्हें उस नाटिका का सफल अभिनय करना चाहिए। अब मैं वेषविन्यास करके जैसा वे चाहते हैं वैसे सब कार्य पूर्ण करता हूँ। (घूमकर और देखकर) अरे! दर्शक समुदाय का हृदय आकृष्ट हो गया है ऐसा मेरा विश्वास है। क्योंकि—

इस नाटिका के कवि श्रीहर्ष हैं जो कविता में निष्णात हैं। सामाजिकों की यह सभा भी गुणों को ग्रहण करनेवाली है। नाटिका की कथावस्तु

वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥ ५ ॥

---

वाञ्छितफलप्राप्तेः पदम्, किम् पुनः मद्भाग्योपचयात् अयम् गुणानां सर्वः गणः समुदितः ॥५॥

श्रीहर्ष इति । श्रीहर्षः प्रणीतरत्नावलीप्रकामकीर्तिस्तदाख्यो राजा निपुणः प्रवीणः कविः कवयिता काव्यकर्त्ता वा अस्ति । एषा दृश्यमाना परिषद् अपि संसदपि 'समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः' इत्यमरः । गुणग्राहिणी गुणान् परिचेतुं शीलमस्यास्तादृशी, गुणग्रहणशीला इत्यर्थः । लोके संसारे वत्सराजचरितं च वत्सराजउदयनस्य चरितम् आख्यानकं हारि मनोहरण-शीलम् । चित्ताकर्षकमितियावत् । अयम् अभिनयप्रयोक्तारः नटाः नाट्ये अभिनयकर्मणि दक्षाः प्रवीणाः । इह अत्र । एकैकम् अपि प्रत्येकमपि वस्तु निपुणकविगुणग्राहिपरिषदादिस्वरूपम् वाञ्छितफलप्राप्तेः वाञ्छितस्य अभिलषितस्य फलस्य सामाजिकनां रसानुभवफलरूपस्य प्राप्तेः पदम् स्थानम् । किं पुनः मद्भाग्योपचयात् मम सूत्रधारस्य भाग्यस्य उपचयात् समृद्धेः अयम् उक्तरूपः गुणानाम् इष्टलाभहेतुभूतानां धर्माणां सर्वं समस्तः गणः समूहः समुदितः एकत्रीभूयोपस्थिताः । तन्नूनमेतेन रसिकवराणां सामाजिकानाम् मनोरञ्जनं भवेत् इत्याशयः । एतेनाभिनयप्रशंसा विधानेन रङ्गस्थानां सभ्यानां सन्मुखीकरणात् प्ररोचनानामभारतीवृत्तेः अङ्गं सन्दर्शितम् । यथाहुः दशरूपक-काराः 'उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५॥

---

वत्सराज उदयन के चरित्र पर आधारित है जो संसार में अतीव मनोहर समझा जाता है । हम लोग भी नाट्यकला में पूर्णदक्ष हैं । कहाँ तक कहें, एक-एक साधन से भी ईप्सित फल की प्राप्ति हो सकती है, तो फिर यहाँ तो मेरे सौभाग्य की वृद्धि से सारे ही गुणों का समूह एकत्रित हो गया है, इस हेतु नाटक की सफलता में कोई संदेह नहीं है ॥५॥

तद्यावद् गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय संगीतकमनुतिष्ठामि ( परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य च । ) इदमस्मदीयं गृहम् । यावत्प्रविशामि (प्रविश्य ।) आर्ये ! इतस्तावत् ।

( प्रविश्य )

नटी-अज्जउत्त ! इअम्हि आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्ठीअदुत्ति । [आर्यपुत्र ! इयमस्मि । आज्ञापयत्वार्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति ।]

सूत्रधारः—आर्ये ! रत्नावलीदर्शनोत्सुकोऽयं राजलोकः । तद् गृह्यतां नेपथ्यम् ।

नटी—( निःश्वस्य । सोद्वेगम् । ) अज्जउत्त ! णिच्चिन्तो दाणि सि तुमं ता कीस ण णच्चसि मह उण मन्दभाआए एक्का ज्जेव दुहिदा । सावि

---

तद्यावदिति—गृहं गत्वा गृहिणीं प्रियाम् आहूय आकार्य संगीतकं नृत्यादिकमनुतिष्ठामि सम्पादयामि । नेपथ्याभिमुखं वेशरचनागृहाभिमुखमवलोक्य-अत्र प्रिया विद्यते न वा इति दृष्ट्वा । आर्ये ! इतस्तावत् आर्ये श्रेष्ठे साध्वि प्रिये ! पत्नी चार्येति सम्भाष्या इति भरतः । इत आगम्यतामित्यर्थः ।

---

तो घर जाकर गृहिणी को बुलाकर संगीत प्रारम्भ करता हूँ । ( घूमकर और नेपथ्य की ओर देखकर ) यह हमारा घर है । तो प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश करके) प्रिये ! इधर तो आओ ।

(प्रवेश करके)

नटी—आर्यपुत्र ! यह मैं आ गई । आप आज्ञा दीजिए, मेरे लिए क्या आदेश है ?

सूत्रधार—प्रिये ! राजगण रत्नावली नाटिका के अभिनय को देखने के उत्सुक हैं । इस हेतु वेशरचना की जानी चाहिए ।

नटी-(दीर्घनिःश्वास लेकर दुःख से)आर्यपुत्र ! आप इस समय निश्चिन्त हैं तो आप क्यों नहीं नाचेंगे ? अर्थात आपका नाचना स्वाभाविक है । मुझ

तुए कहिंपि देसन्तरे दिण्णा । कहं एव्वं दूरदेसट्ठिदेण भत्तुणा सह से पाणिग्गहणं भविस्सदित्ति इमाए चिन्ताए अप्पावि मे ण पडिहादि । किं पुण णच्चिदव्वम् ? [ आर्यपुत्र ! निश्चिन्त इदानीमसि त्वं तत्कस्मान्न नृत्यसि । मम पुनर्मन्दभाग्याया एकैव दुहिता । सापि त्वया कस्मिन्नपि देशान्तरे दत्ता कथमेवं दूरदेशस्थितेन भर्त्रा सहास्याः पाणिग्रहणं भविष्यतीत्यनया चिन्तयात्मापि मे न प्रतिभाति । किं पुनर्नर्तितव्यम् ? ]

सूत्रधारः—आर्ये ! दूरस्थितेनेत्यलमुद्वेगेन । पश्य—

---

आर्यपुत्रेति—प्रविश्य रङ्गशालायामिति शेषः प्रवेशं विधाय आर्य प्रिय ! इयमस्मि, नटी स्वात्मानं निर्दिशति इयम् अस्मि उपस्थिता आगतास्मीत्यर्थः । आर्यः पूज्यः ( भवान् ) आज्ञापयतु निर्दिशतु, मामिति शेषः । आदेशमात्रेणैवाहं तदर्थं यतिष्ये इति हृदयम् । कः कतमः नियोगः निदेशः (मया) अनुष्ठीयताम् क्रियतामिति । भवदाज्ञान्तरमेव तत्कार्यसम्पादनतत्परा भवामीतिभावः ।

रत्नावलीति—रत्नावलीदर्शनोत्सुकः रत्नावल्याख्यनाटिकावलोकनोत्कण्ठितः राजलोकः राज्ञां लोकः राजजनः ।

नटीति—सोद्वेगं सखेदं निश्चिन्तः गृहकार्यादिनिवृत्तः चिन्ताशून्यरित्यर्थः । इदानीमधुना । नृत्यसि अभिनयं करोषि । मन्दभाग्यायाः मन्दं भाग्यं यस्या-स्तस्याः अल्पभाग्यायारित्यर्थः । दुहिता कन्यका । देशान्तरे दूरदेशस्थिते । दत्ता वाचा समर्पिता । दूरदेशस्थितेन अन्यदेशस्थितस्य भर्त्रा स्वामिना सह अस्माकं दुहितायाः कन्यकायाः । पाणिग्रहणं विवाहः । प्रतिभाति रोचते ।

---

मन्दभाग्या की एक ही लड़की है । उसका भी आपने दूरदेश में विवाह करने का वाग्दान दे दिया है । इतने दूर देश में रहनेवाले पति के साथ इसका विवाह कैसे संभव होगा ? इस विषयक चिन्ता के कारण मुझे स्वयं की भी सुध नहीं रहती, फिर नाचना कैसे संभव है ।

सूत्रधार—आर्ये ! 'दूर में है' यह सोचकर घबराना नहीं चाहिए । देखो—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥६॥

( नेपथ्ये )

साधु भरतपुत्र ! साधु । एवमेतत् । कः सन्देहः ? ( द्वीपादन्यस्मादिति पठति )

---

अन्वय—अभिमुखीभूतः विधिः अन्यस्मात् द्वीपात् अपि जलनिधेः मध्यात् दिशः अन्तात् (अपि) अभिमतं झटिति आनीय घटयति ॥६॥

द्विपादिति। अभिमुखीभूतः संमुखीभूतः, अनुकूल इति भावः। विधिः भाग्यम्। अन्यस्मात् अपि अपरस्मात् अपि। द्वीपात् अन्तरीपात्। जलनिधेः समुद्रस्य मध्यात् अपि अभ्यन्तरात् अपि। दिशः काष्ठायाः अन्तात् अपि अन्त्यात् अपि 'दिशस्तु ककुभकाष्ठा' इत्यमरः। अभिमतम् अभीष्टं वस्तु। झटिति शीघ्रम्। आनीय प्रापय्य। घटयति संयोजयति। अत्र हि समुद्रे नौकाभग्नमग्नोत्थितायाः रत्नावल्याः अनुकूलदैवलालितो वत्सराजगृहप्रवेशः यौगन्धरायणव्यापारमारभ्य उदयनकर्तृकरत्नावल्यासादने बीजम्। यदुक्तं साहित्यदर्पणकारेण—सूचयेत वस्तुबीजं वा मुखं पात्रमथापि वा दैवमनुकूलं चेप्सितं वस्तु अन्यद्वीपात् जलमध्यात् विपरीतदिशोऽवानीयापि तत्क्षणमेव संयोजयति इति नेपथ्यगतादेव यौगन्धरायणात् ज्ञापयित्वा वत्सराजस्य रत्नावली प्राप्तिः। एतेन चक्रवर्तिलाभफलस्य नाट्यवृत्तस्य बीजमुत्क्षिपति नाट्यकारः श्रीहर्षः।

---

अनुकूल होने पर दैव ( भाग्य ) अपनी ईप्सित वस्तु को दूसरे द्वीप से, समुद्र के मध्य से, या दिशाओं के अन्त से कहीं से भी लाकर एकदम मिला ही देता है।

( नेपथ्य में )

साधु भरतपुत्र ! वाह ! ऐसा ही है। इसमें संदेह कहाँ है ? ( 'द्विपादन्यस्मादपि' श्लोक पढ़ता है। )

सूत्रधारः—( आकर्ण्य । नेपथ्याभिमुखमवलोक्य । सहर्षम् ) आर्ये ! एष मम यवीयान्भ्राता गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः प्राप्त एव । तदेहि । आवामपि नेपथ्यग्रहणाय सज्जौ-भवावः ।

( इति निष्क्रान्तौ । )

इति प्रस्तावना

( ततः प्रविशति यौगन्धरायणः । )

यौगन्धरायणः—एवमेतत् । कः सन्देहः ? ( द्वीपादन्यस्मादिति पुनः

---

साध्विति । साधु मनोहरं समयानुकूलञ्च भवतोक्तमिति शेषः । भरतपुत्र नाट्याचार्यतनय ! यवीयान् कनिष्ठः । 'यवीयोऽवराजनुजाः' इत्यमरः । गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः धृतवत्सराजप्रधानामात्यवेशः । प्राप्त एव आगत एव । तत् तस्मात् ! नेपथ्यग्रहणायवेशान्तरपरिग्रहाय सज्जीभवावः उद्यतौ भवावः । निष्क्रान्तौ प्रस्थितौ रंगशालातो निर्गतौ ।

प्रस्तावनेति । आमुखम् । तल्लक्षणं यथाह दर्पणे 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा । सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥ चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः । आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा' इति ॥

यौगन्धरायणेति । एवमेतत् भरतोक्तं सत्यमित्यर्थः । कः सन्देहः

---

सूत्रधार—(सुनकर ! नेपथ्य की ओर देखकर । सहर्ष) प्रिये ! यह मेरा छोटा भाई यौगन्धरायण के वेश में आ ही गया । अतः आओ । हम दोनो भी वेशविन्यास के लिए तैयार हो जायें ।

( दोनों निकल जाते हैं )

॥ इति प्रस्तावना ॥

( तदनन्तर यौगन्धरायण प्रवेश करता है । )

यौगन्धरायण—ऐसा ही है । ( इसमें ) क्या संदेह है ? (द्विपादन्यस्मा-

पठित्वा ।) अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंघलेश्वरदुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गनिमग्नाया फलकासादनं, क्व च कौशाम्बीयेन वणिजा सिंहलेभ्यः प्रत्यागच्छता तदवस्थायाः सम्भावनं रत्नमालाचिह्नायाः प्रत्यभिज्ञानादिहानयनं च। (सहर्षम्।) सर्वथा स्पृशन्ति नः स्वामिनमभ्युदयाः (विचिन्त्य) मयापि चैनां देवीहस्ते सगौरवं निक्षिप्ता युक्तमेवानुष्ठितम्। श्रुतं च मया—बाभ्रव्योऽपि कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन

---

भरतोक्तौ न संदेहः कार्य इत्यर्थः। अन्यथा भाग्यानुकूलतायाः कार्यसाधकत्वास्वीकारे प्रतिकूलभाग्य इत्यर्थः। सिद्धादेशप्रार्थितायाः सिद्धस्य अणिमाद्यष्टसिद्धिसम्पन्नस्य पुरुषस्य आदेशः तत्र यः प्रत्ययस्तेन प्रार्थितायाः याचितायाः। रत्नावलीपरिणेता चक्रवर्तितामुपगन्तेति हि सिद्धादेशोऽत्र। सिंहलेश्वरदुहितुः सिंहलद्वीपाधिपस्य कन्यायाः। समुद्रे सागरे अकूपारे वा। यानभङ्गमग्नोत्थितायाः यानस्य पोतस्य भङ्गः नाशः तेन मग्नायाः जले निमग्नायाः सत्या उत्थितायाः उपरिआगतायाः। फलकासादनं काष्ठखण्डप्राप्तिर्येन पयसि तरेत्। कौशाम्बीयेन कौशाम्ब्यां भवस्तेन वत्सराजनगरी वास्तव्येनेत्यर्थः। वणिजा महाजनेन। सिंहलेभ्य सिंहलद्वीपात्। तदवस्थाया एतादृश्यवस्थायाः। संभावनम् समाश्वासनमुद्धरणसान्त्वनावचोभिः सम्मानमित्यर्थः। रत्नमालाचिह्नायाः बहुमूल्यमणिनिर्मितास्रगेव चिह्नं राजवंशजात्वबोधकं लक्षणं यस्याः तादृश्याः। प्रत्यभिज्ञानात् राजकन्यकात्वेन परिचयात्। मया यौगन्धरायणेन एनां

---

दिति' पुनः पढ़कर) अन्यथा कहाँ सिद्ध पुरुष के कथन पर विश्वास करके माँगी गई सिंहल नरेश की पुत्री का समुद्र में पोत (नौका) के भंग हो जाने से डूबी हुई का लकड़ी का तख्ता पा जाना और कहाँ सिंघलद्वीप से लौटते हुए कौशाम्बी के व्यापारी के द्वारा विपत्ति में पड़ी हुई उस राजकुमारी को आश्वासन देना तथा रत्नमाला के सहारे पहचानकर यहाँ ले आना (संभव होता ?)। (हर्षित होकर) हमारे स्वामी उदयन को सब प्रकार से अभ्युदय प्राप्त हो रहे हैं। (सोचकर) मैंने भी इस राजकुमारी को महारानी वासवदत्ता के हाथों में सम्मानपूर्वक सौंपकर उचित ही किया है। मैंने सुना

वसुभूतिना सह कथं कथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतवता रुमण्वता मिलित इति । तदेवं निष्पन्नप्रायमपि प्रभुप्रयोजनं न मे धृतिमावहतीति कष्टोऽयं खलु भृत्यभावः । कुतः—

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ
दैवेनेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।

---

सिंहलेश्वरदुहितारं । देवीहस्ते महाराज्ञ्या वासवदत्ताया अधिकारे । बाभ्रव्यः तन्नामको वत्सराजस्य कञ्चुकी । सिंहलेश्वरामात्येन सिंहलाधिपतिमन्त्रिणा । कोशलोच्छित्तये कौशलनरेशविजयायेतियावत् । रूमण्वता तन्नामकेन वत्सराजसेनापतिना । प्रभुप्रयोजनं स्वामिहितं । आवहति जनयति । भृत्यभावः सेवकत्वं । कष्टः कष्टप्रदः ।

अन्वयः—स्वामिनःवृद्धिहेतौ अस्मिन् प्रारम्भे दैवेन इत्थं दत्तहस्तावलम्बे सिद्धेः भ्रान्तिः नास्ति ( इति ) सत्यम्, तथापि स्वेच्छाचारी (अहं) भर्तुः भीतः एव अस्मि ॥७॥

प्रारम्भ इति । स्वामिनः प्रभोरुदयनस्य । वृद्धिहेतौ वृद्धेः अभ्युदयस्य हेतौ कारणभूते । अस्मिने क्रियमाणे प्रारम्भे सागरिकायाचनदेवीहस्तनिक्षेपादिरूपे कर्मणि । दैवेन भाग्येन । इत्थम् सागरिकोपलब्धिरूपप्रकारेण । दत्तहस्तावलम्बे दत्तः हस्तेन करेण अवलम्बः समाश्रयः यस्मिन् तथाविधे विहितानुकूल्ये

---

है कि—कंचुकी बाभ्रव्य भी सिंहलेश्वर के मंत्री वसुभूति के साथ किसी प्रकार समुद्र से निकल कर कौशल को विनष्ट करने हेतु गये हुए रूमण्वान् से जा मिला है। तो इस प्रकार स्वामी उदयन का कार्य लगभग पूर्ण हो जाने पर भी मुझे निश्चिन्तता प्राप्त नहीं हो रही है। वस्तुतः यह दासत्व कर्म ही कष्टदायक होता है। क्योंकि—

अपने स्वामी वत्सराज उदयन की उन्नति के लिये मैंने यह कार्य ( रत्नावली मिलाप रूप ) शुरु कर दिया है, इस कार्य में दैव ( भाग्य ) भी मुझे इस तरह हाथ से सहारा दे रहा है ( कि जहाज के टूटने पर भी रत्नावली

सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि
स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः ॥ ७ ॥

( नेपथ्ये कलकलः । )

यौग०—( आकर्ण्य । ) अये ! मधुरमभिहन्यमानमृदुमृदङ्गानुगत-संगीतमधुरः पुरः पौराणां समुच्चरति चर्चरीध्वनिस्तथा तर्कयामि यदेनं

---

इति यावत् । सिद्धेः साफल्यस्य भ्रान्तिर्भ्रमः । नास्ति न विद्यते । तथापि एवं सत्यपि । स्वेच्छाचारी स्वेच्छया चरतीति स्वतन्त्रः यदृच्छाकार्यकारकः राजानमनिवेद्य तत्कार्यकरणाभिलाषुक इति यावत् । अहं भर्तुः स्वामिनः भीत एव त्रस्त एवास्मि । इदं पद्यं बीजारम्भार्थप्रयुक्तेषु द्वादशाङ्गेषु परि-न्यासस्योदाहरणम् । अत्र यौगन्धरायणः स्वव्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः । यथाऽऽहुः दशरूपककारः तन्निष्पत्तिः परिन्यासरिति । शालिनी-वृत्तमत्र । तद्यथा—मात्तौ गौ चेच्छालिनीवेदलोकैः इति ॥ ७ ॥

मधुरमिति । कलकलः कोलाहलः । अये संभ्रमसूचकात्मसम्बोधनार्थक-मव्ययमत्र । पुरः अग्रे । मधुरं कोमलं यथास्यात्तथा । अभिहन्यमानमृदुमृदङ्गा-नुगतसंगीतमधुरः—अभिहन्यमानः ताड्यमानः मृदुः कोमलः मृदङ्गः वाद्यविशेषः तेन अनुगतं मिलितं यत् संगीतं गानं तेन मधुरः कर्णप्रियः । पौराणां पुरवासिनां । चर्चरीध्वनिः हस्ततालशब्दः । समुच्चरति उत्पद्यते । तथाऽनेन

---

बच कर मेरे हाथ लग गई ) और कार्यसिद्धि के विषय में भी मुझे कुछ सन्देह नहीं है, इतना होने पर भी मैं यह मनमानी बात ( रत्नावली सगोंपन ) करने के कारण स्वामी से डर रहा हूँ ॥ ७ ॥

( नेपथ्य में कोलाहल होता है । )

यौगन्धरायण—( सुनकर ) अरे ! सामने मधुरता से बजाये जाते हुए कोमल मृदङ्ग ( के शब्द ) से मिले हुए सङ्गीत के कारण मधुर, पुरवासियों के हाथों से दीये जाने वाले ताल ध्वनि उठ रही है । इससे ज्ञात होता है कि

मदनमहमहीयांसं पुरजनप्रमोदमवलोकयितुं प्रासादाभिमुखं प्रस्थितो देव इति । य एषः—

विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य
चित्ते वसन्प्रियवसन्तक एव साक्षात् ।

---

कोलाहलेन । तर्कयामि सम्भावयामि । मदनमहमहीयांसं मदनस्य मन्मथस्य महः उत्सवः तेन महीयांसमतिमहान्तम् । पुरजनप्रमोदम् नागरिकाणां हर्षम् । प्रासादाभिमुखं राजभवनसम्मुखम् । प्रस्थितः चलितः ।

अन्वयः—विश्रान्तविग्रहकथा रतिमान् जनस्य चित्ते वसन् प्रिय वसन्तकः निजमहोत्सवदर्शनाय पर्युत्सुकः वत्सेश्वरः साक्षात् एव कुसुमचाप इव अभ्युपैति ॥ ८ ॥

विश्रान्त इति । विश्रान्तविग्रहकथा विश्रान्ता समाप्ता विग्रहस्य युद्धस्य ( अनङ्गपक्षे शरीरस्य ) कथा आलापः यस्य तादृशः रतिमान् रतिः अनुराग इन्द्रियार्थेषु विद्यते यस्य (अनङ्गपक्षे) तदाख्या प्रिया । जनस्य लोकस्य चित्ते मनसि । वसन् निवसन् सततसन्निहितरित्यर्थः । प्रियवसन्तकः प्रियः वसन्तकः तन्नामको विदूषकः (अनङ्गपक्षे) मधुमासः । यस्य तादृशः । निजमहोत्सवदर्शनाय निजस्य स्वस्य महोत्सवस्य वसन्तोत्सवस्य दर्शनाय अवलोकनाय स्वानुष्ठित-

---

मदनमहोत्सव के कारण उत्पन्न पुरवासियों के प्रमोद को देखने हेतु महाराज राजप्रासाद की ओर चल पड़े हैं । जो यह—

( शत्रुओं के न रहने पर ) जिनके युद्ध ( कामदेव पक्ष में-शरीर ) की कथा समाप्त हो चुकी हैं, जो अनुरागी ( कामदेव पक्ष में अपनी प्रिया रति से युक्त ) हैं, जो लोगों के हृदय में निवास करते हैं, जिन्हें वसन्तक नामक विदूषक ( कामदेव पक्ष में-वसन्त ऋतु ) प्रिय है तथा जो अपने महोत्सव को देखने के लिए उत्कण्ठित हैं ऐसे वत्सराज उदयन साक्षात् ही कामदेव के समान आ रहे हैं ॥ ८ ॥

पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति ॥ ८ ॥

( ऊर्ध्वमवलोक्य । ) अये ! कथमधिरूढ एव देवः प्रासादम् । तद्यावद् गृहं गत्वा कार्यशेषं चिन्तयामि । ( इति निष्क्रान्तः । )

विष्कम्भकः ।

( ततः प्रविशत्यासनस्थो गृहीतवसन्तोत्सववेषो राजा विदूषकश्च । )

---

मदनमहोत्सवविलोकनायेत्यर्थः ।(मदनपक्षे) आत्मानमुद्दिश्य विहितस्य उत्सवस्य प्रेक्षणाय पर्युत्सुकः धृतोत्कण्ठः । वत्सेश्वरः उदयनः । साक्षात् एव मूर्तिमान् एव । कुसुमचाप इव कुसुमान्येव चापं धनुः यस्य सः, पुष्पधन्वा इव । अभ्युपैति समागच्छति । श्लेषानुप्राणितोपमालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् तद्यथा-ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौगः ॥८॥

अधिरूढः आरूढः । कार्यशेषम् अवशिष्टमाणं कर्त्तव्यजातम् ।

विष्कम्भक तद्यथा 'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भक आदावङ्कस्य दर्शितः ॥

तत इति । गृहीतवसन्तोत्सववेषः ग्रहीतः वसन्तोत्सववेषो येन सः । विदूषकः विशेषेण दूषयति स्वं परं वा इति । राज्ञा सह वर्तमानः हास्यपटुः । उक्तञ्च वयस्यकश्चाटुपटुः स एव विदूषकः । अन्तःपुरचरो राज्ञां नर्मामात्यः प्रकीर्तितः । यथाऽहुः साहित्यदर्पणकाराः कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेष-भाषाद्यैः ' हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ॥

---

( ऊपर देखकर ) अरे ! महाराज तो राजप्रासाद पर आ गये हैं । तब तक ( मैं भी ) घर जाकर शेष कार्य का विचार करता हूँ । ( यह कह कर चला जाता है )

( विष्कम्भक समाप्त )

( इसके बाद वसन्तोत्सव का वेश धारण किये हुए आसन पर विराजमान राजा विदूषक के साथ प्रवेश करते हैं )

राजा—( सहर्षमवलोक्य। ) सखे वसन्तक !

विदूषकः—आणवेदु भवं। ( आज्ञापयतु भवान् )

राजा—राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।

अन्वयः—राज्यं निर्जितशत्रु (अस्ति) समस्तः भरः योग्यसचिवे न्यस्तः, प्रजाः सम्यक् पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः, प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयः, त्वं च इति कामः नाम्ना कामं धृतिम् उपैतु, पुनः मन्ये अयं महान् उत्सवः मम (अस्ति) ॥ ९ ॥

राज्यमिति। राज्यमधिपत्यं। निर्जितशत्रु पराजिताः शत्रवः रिपवः यस्मिन् तत् असपत्नमिति यावत्। समस्तः सम्पूर्णः। भरः प्रजापालनादिभारः राज्यभारः इति यावत्। योग्यसचिवे दक्षामात्ये न्यस्तः समर्पितः। प्रजाः जनाः 'प्रजा स्यात्संततौ जने' इत्यमरः। सम्यक्पालनलालिताः सम्यक् यथोचितं पालनं रक्षणं तेन लालिताः संवर्धिताः। प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रशमिताः निवारिताः अशेषाः निखिलाः उपसर्गाः उपद्रवाः यासां तादृश्यः निश्शेष-वारिताशेषोपप्लवाइत्यर्थः। प्रद्योतस्य तन्नाम्नः अवन्तीश्वरस्य। सुता पुत्री वासवदत्ता। वसन्तसमयः वसन्तस्य पुष्पसमयस्य। 'वसन्तेपुष्पसमय' इत्यमरः। समयः कालः। त्वं वयस्यः वसन्तकः। कामः मदनः। नाम्नः मदनमहोत्सव इति नाममात्रेणैव। कामं यथेच्छं। धृतिम् सन्तोषं। उपैतु प्राप्नोतु ममायमुत्सव

राजा—( प्रसन्नता के साथ देखकर ) मित्र वसन्तक !

विदूषक—श्रीमान् आज्ञा दीजिए !

राजा—राज्य के सारे शत्रु जीते जा चुके हैं, अर्थात् कोई भी शत्रु ऐसा नहीं है जो राज्य में विघ्न उपस्थित करे। राज्य पालन का सम्पूर्ण भार योग्य मन्त्री यौगन्धरायण को सौंप दिया है। प्रजाओं को भलीभांति लालित व पालित किया गया है। उनके सारे दुःख-उपसर्ग ( अकाल आदि ईतियाँ ) शान्त हो चुके हैं। फिर प्रद्योतपुत्री ( वासवदत्ता ), वसन्तसमय और तुम

प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥ ९ ॥

विदूषकः—( सहर्षम् । ) भो वअस्स एव्वं ण्णेदम् । अहं पुण जाणामि ण भवदो ण कामदेअस्स मम ज्जेव एकस्स बह्मणस्स अअं मअणमहूसवो जस्स पिअ वअस्सेण एव्वं मन्तीअदि । ता किं इमिणा । पेक्ख दाव इमस्स महुमत्तकामिणीजणसअंगाहगहिदसिङ्गकजलप्पहारणच्चन्तणाअरजणजणिदकोदूहलस्स समन्तदो घुम्मन्तमद्दलुद्दामचच्चरीसद्दमुहररच्छामुहसोहिणोपइण्णेपडवासपुञ्जपिञ्जरिज्जन्तदसदिसामुहस्स सस्सिरीअदं मअणमहूसवस्स।

---

इति । पुनः अहं मन्ये तर्कयामि । अयं दृश्यमानः महान् उत्सवः समधिकप्रमोदः ममो वत्सराजस्य उदयनस्य न तु मदनस्य इत्यर्थः । अत्र रूपककारः व्यभिचारिभावं 'धृति' लक्षयति । ज्ञानशक्त्यादिभिर्निस्पृहत्वं धृतिः सा च अव्यग्रत्वपूर्वकभगप्रयोजिका इति । यथाचाह--सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिव्यग्रभोगकृत् । अत्र सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वात् नायकः धीरललितः । यथोक्तं दशरूपककारेण 'निश्चिन्तोधीरललितः कलासक्तः सुखीमृदुः' इति । वाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ९ ॥

भो वयस्येति । भो वयस्य हे मित्र ! राज्ञः सम्बोधनमिदम् । अहं, पुनः भेदार्थकमव्ययमेतत् । मन्त्र्यते कथ्यते । प्रेक्षस्व पश्य । मधुमत्तकामिनीजनस्वयंग्राहगृहीतशृङ्गकजलप्रहारनृत्यन्नागरजनजनितकौतूहलस्य मधुना मद्येन मत्ताः जातमदाः ये कामिनीजना वनिताजना तैः स्वयंग्राहगृहीतानि स्वेच्छया ग्रहेण गृहीतानि धृतानि यानि शृङ्गकाणि जलयन्त्राणि तैः ये जलप्रहारा

---

हो, इस हेतु कामदेव (मदनमहोत्सव इस) नाम से भले ही सन्तोष प्राप्त कर ले, किन्तु में समझता हूँ कि यह महान उत्सव मेरा है,मदन का तो नाम मात्र है॥९॥

विदूषक—( हर्ष के साथ ) हे मित्र ! ऐसी बात नहीं हैं । मैं समझता हूँ कि यह न तो आपका उत्सव है और न कामदेव का, अपितु अकेले मुझ ब्राह्मण का ही मदन महोत्सव है । जिसका प्रिय मित्र ऐसा कह रहा है । ( देख कर ) तो इससे क्या ? इस मदन महोत्सव की शोभा तो देखो, जिसमें

[ भो वयस्य, एवं नेदम् । अहं पुनर्जानामि न भवतो न कामदेवस्य ममैवैकस्य ब्राह्मणस्यायं मदनमहोत्सवो यस्य प्रियवयस्येनैवं मन्त्र्यते । ( विलोक्य । ) तत्किमनेन । प्रेक्षस्व तावदस्य मधुमत्तकामिनीजनस्वयंग्रहगृहीतशृङ्गकजल-प्रहारनृत्यन्नागरजनजनितकौतूहलस्य समन्ततः शब्दायमानमर्दलोद्दामचर्चरीशब्द-मुखररथ्यामुखशोभिनः प्रकीर्णपटवासपुञ्जपिञ्जरितदशदिशामुखस्य सश्रीकतां मदनमहोत्सवस्य । ]

राजा—( समन्तादवलोक्य । ) अहो परां कोटिमधिरोहति प्रमोदः पौराणाम् । तथाहि—

---

पानीयप्रक्षेपाः तैः हेतुभिः नृत्यद्भिः नर्तनं कुर्वद्भिः नागरजनैः नगरनिवासिभिः जनितं उत्पादितं कौतुहलं कौतुकं यस्मिन् तादृशस्य । समन्ततः सर्वतः । शब्दायमानमर्दलोद्दामचर्चरीशब्दमुखरथ्यामुखशोभिनः शब्दायमानाः मधुरं ध्वनन्तः सशब्दारित्यर्थः ये मर्दलाः मृदङ्गाः तैः उद्दामः प्रचण्डवर्धितः चर्चरी-शब्दः वाद्यविशेषस्य शब्दः तेन मुखराणि शब्दायमानानि रथ्यामुखानि वीथि-निर्गमस्थानानि । तैः शोभते राजते इति तस्य । प्रकीर्णपटवासपुञ्जपिञ्जरित-दशदिशामुखस्य प्रकीर्णाः प्रक्षिप्ताः ये पटवासाः पिष्टाताः ( गुलाल इति भाषायां ) तेषां पुञ्जैः कदम्बैः पिञ्जरीकृतानि पीतीकृतानि दशदिशानां मुखानि यस्मिन् तादृशस्य । सश्रीकतां शोभावत्तां ।

परामेति । परां सर्वोत्कृष्टाम् कोटिं श्रेणीम् अधिरोहति आश्रयति । पौराणाम् पुरवासिनाम् ।

---

मदिरापान से मतवाली कामिनियों द्वारा स्वयं पकड़ी हुई पिचकारियों के जलप्रवाह से नाचते हुए नागर पुरुष कौतूहल उत्पन्न कर रहे हैं, चारों ओर बजाए जाते हुए मृदङ्गों के कारण चर्चरी वाद्य के शब्द से अनुरणित गलियों की शोभा वृद्धिगत हो रही है तथा उड़ाये गये गुलाल की राशि से दशों दिशाओं के मुख लाल पीले हो रहे हैं ।

राजा—( चारों ओर देखकर ) अरे देखो तो ! नगरवासियों का आनन्दोन्माद सीमा पर पहुँच रहा है । क्योंकि—केसर चूर्ण से अरूण (अतएव) प्रातःकालीन आभा को उपस्थित करने वाले इतस्ततः बिखरे हुए गुलाल से,

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुङ्कुमक्षोदगौरै
र्हेमालङ्कारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः कैङ्किरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्यस्वविभवविजिताशेषवित्तेशकोशा
कौशाम्बी शातकुम्भद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति ॥ १० ॥

---

अन्वयः—कुङ्कुमक्षक्षोदगौरैः कृतदिवसमुखैः कीर्णैः पिष्टातकौघैः हेमालङ्कारभाभिः भरनमितशिखैः कैङ्किरातैः शेखरैः वेषाभिलक्ष्यस्वविभवविजिताशेषवित्तेशकोशा एषा कौशाम्बी शातकुम्भद्रवखचितजनेव एकपीता विभाति।

कीर्णैरिति। कुङ्कुमक्षोदगौरैः कुङ्कुमं काश्मीरजन्म केसरं वा 'कुङ्कुमम् काश्मीरजन्माग्निशिखमित्यमरः'। तस्य क्षोदः चूर्णं तेन गौरैः अरुणवर्णैः। अत एव कृतदिवसमुखैः कृतं सम्पादितं दिवसस्य दिनस्य मुखं आरम्भः प्रातः-काल इति यावत् यैः तादृशैः। कीर्णैः उत्क्षिप्तैः। पिष्टातकौघैः पटवाससमूहैः 'पिष्टातः पटवासकः' इत्यमरः। तथा हेमालङ्कारभाभिः हेम्नः सुवर्णस्य अलङ्काराणां भाभिः दीप्तिभिः। भरनमितशिखैः भरेण भारेण नमिताः शिखाः शिरांसि यैः तथाविधैः। कैङ्किरातैः अशोकपुष्पनिर्मितैः शेखरैः शिरोभूषणैः वेषाभिलक्ष्यस्वविभवविजिताशेषवित्तेशकोशा वेषेण पौरजनानां वस्त्रादिविन्यासेनेत्यर्थः। अभिलक्ष्यः अनुमेयः यः स्वविभवः निजैश्वर्यं तेन विजितः तिरस्कृतः अशेषः समग्रः वित्तकोशः वित्तेशस्य कुबेरस्य कोशो वित्तसंचयो यया तादृशी। एषा दृश्यमाना। कौशाम्बीनगरी। शातकुम्भद्रवखचितजनेव शातकुम्भस्य चामीकरस्य सुवर्णस्य वा। शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्म कर्बुरम् चामीकरमित्यमरः, यो द्रवः रसः तेन खचिताः व्याप्ताः लोकाः जनाः यस्यां तादृशी। इव तद्वत् एकपीता एको मुख्यः पीतवर्णो यस्यां तादृशी भवति प्रतीयते। अत्र कौबेरकोषाद्युत्कटसमृद्धिवर्णनादुदात्तालङ्कारः, तथाचोक्तं मम्मटेन 'उदात्तं वस्तुनः सम्पत्' इति। चामीकरद्रवव्याप्तत्वोत्प्रेक्षणात् इव शब्दगम्या उत्प्रेक्षा तयोः संकरः। स्रग्धरावृत्तं तद्यथा 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' ॥१०॥

---

स्वर्णभूषणों की कान्तियों से और अपने भार से अग्रभाग को झुका देनेवाले अशोक पुष्प के शिरोभूषणों से, उपलक्षित वेषों से तथा अपने ऐश्वर्य से कुबेर की समस्त कोश सम्पदा को जीती हुई यह कौशाम्बी नगरी पीतवर्ण के समान प्रतीत हो रही है मानों कौशाम्बी नगर निवासियों के सम्पूर्ण शरीर पर सुवर्ण का लेप कर दिया गया हो।

अपि च—

धारायन्त्रविमुक्तसन्ततपयःपूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्राङ्गणे ।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम् ॥ ११ ॥

---

अन्वयः—सर्वतः धारायन्त्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुते सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे प्राङ्गणे उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः चरणन्यासैः जनेन पुरः कुट्टिमं क्षणं सैन्दूरी क्रियते ॥११॥

धारायन्त्रेति । सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्तातेतियावत् । धारायन्त्रविमुक्तसंततपयः धारायन्त्रैः शृङ्गकैः जलोद्गारयन्त्रैः विमुक्तानि प्रवाहितानि सन्ततपयांसि अविच्छिन्नजलधाराः तेषां पूरैः संघातैः प्लुते आप्लावित सद्यः जलसम्पातसमनन्तरमेव । सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे सान्द्रः सघनः यो विमर्दः चरणसम्पाज्जनितसम्मर्दः तेन यः कर्दमः पङ्कः तत्र कृता विहिता क्रीडा सिन्दूरक्रीडा यस्मिन् तादृशे । 'प्राङ्गणे अजिरे अङ्गणं चत्वराजिरे' इत्यमरः । उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत् सिन्दूररागारुणैः उद्दामाः मदोन्मत्ताः या प्रमदाः स्त्रियः यासां कपोलेभ्यो गण्डभागेभ्यः । 'गण्डौ कपोलौ' इत्यमरः, निपतन् यः सिन्दूररागः तेन अरुणैः । चरणन्यासैः पादविक्षेपैः । जनेन वर्तमानसमूहेन पुरः सम्मुखस्थः कुट्टिमम् बद्धाभूमिः । 'कुट्टिमं बद्धभूमि स्यादिति' हलायुधः । क्षणं किञ्चित्कालं सैन्दूरीक्रियते सिन्दूरमयं विधीयते असैन्दूरमपि सैन्दूरं क्रियते ॥११॥

---

और भी ( देखिए )—

चारो ओर से पिचकारियों से प्रवाहित निरन्तर जलधाराओं से आप्लावित तथा उसी समय जनसम्मर्द द्वारा कीगई क्रीडा वाले आँगन में मदोन्मत्त प्रमदाओं के कपालों से झरते हुए सिन्दूर (गुलाल) के रंग से व्याप्त पादक्षेपों से जनसमूह सामने के आँगन को कुछ ही क्षणों में सिन्दूर वर्ण का बना दे रहा है ।

विदूषकः—( विलोक्य । ) इमं पि दाव सुविअद्धजणभरिदसिङ्गकजलप्पहारमुक्कसिक्कारमणहरं वारविलासिणीजणविलसिदं आलोएदु पिअवअस्सो । [ इदमपि तावत्सुविदग्धजनभरितशृङ्गकजलप्रहारमुक्तसीत्कारमनोहरं वारविलासिनीजनविलसितमवलोकयतु प्रियवयस्यः । ]

राजा—( विलोक्य । ) वयस्य सम्यग्दृष्टं त्वया । कुतः—

अस्मिन्प्रकीर्णपटवासकृतान्धकारे
दृष्टो मनाङ् मणिविभूषणरश्मिजालैः ।

---

इदमपीति । सुविदग्धजनभरितशृङ्गकजलप्रहारमुक्तसीत्कारमनोहरं सुविदग्धाः चतुराः जनाः लोकाः तैः भरितानि तादृशानि शृङ्गकाणि जलोद्गारयंत्राणि तेषां जलप्रहाराः तैः मुक्तः तादृशः सीत्कारः सरसाव्यक्तमनोहरः शब्द तेन मनोहरं रमणीयम् । वारविलासिनीजनविलसितम् वाराङ्गनानाम् विलसितं विहारं । 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः ।

अन्वयः—अस्मिन् प्रकीर्णपटवासकृतान्धकारे मणिविभूषणरश्मिजालैः मनाक्दृष्टः उद्यतफणाकृतिशृङ्गकः अयं भुजङ्गलोकः अद्य इह माम् पातालं संस्मरयति ॥१२॥

अस्मिन्निति । अस्मिन् पुरतो दृश्यमाने । प्रकीर्णपटवासकृतान्धकारे प्रकीर्णः उत्क्षिप्तः यः पटवासः तेन कृतः विहितः यः अन्धकारः तमः तस्मिन् । मणिविभूषणरत्नजालैः मणीनां विभूषणानि तेषां रश्मिजालैः रत्नालङ्कारकिरणसमूहैरितियावत् । सर्पपक्षे—सर्पमस्तकस्थितमणिरूपालङ्कारकिरणैः । मनाक् ईषत् । दृष्टः विलोकितः । उद्यतफणाकृतिशृङ्गकः उद्यताः ऊर्ध्वंमुखीकृताः फणाकाराः शृङ्गकाः जलोद्गारयन्त्राणि यस्य तादृशः, सर्पपक्षे फणाकृतयः

---

विदूषक-(देखकर) रसिकजनों के द्वारा भरी हुई पिचकारियों के जल प्रहार से मनोहर सी-सी शब्द करनेवाली वेश्याओं के विलासों को तो प्रियमित्र देखो।

राजा—( देखकर ) तुमने यथार्थ ही देखा है । क्योंकि—

उड़ाये गये सुगन्धित गुलाल आदि चूर्ण से किये गये इस अन्धकार में मणिमय आभूषणों की ( सर्प पक्ष में—मस्तकस्थ मणिरूप आभूषणों की ) किरणों के

पातालमुद्यतफणाकृतिशृङ्गकोऽयं
मामद्य संस्मरयतीह भुजङ्गलोकः ॥ १२ ॥

विदूषकः—भो एसा क्खु मअणिआ मअणवसविसंठुलं वसन्ताभिणअं णच्चन्ती चूअलदिआए सह इदो ज्जेव आअच्छदि । ता अवलोएदु एदं पिअवअस्सो । ( विलोक्य ) [ भोः एषा खलु मदनिका मदनवशविसंष्ठुलं वसन्ताभिनयं नृत्यन्ती चूतलतिकया सहेत एवागच्छति । तदवलोकयत्वेतां प्रियवयस्यः । ]

( ततः प्रविशतो मदनलीलां द्विपदीखण्डं गायन्त्यौ चेट्यौ । )

---

शृङ्गका इव यस्य । अयं पुरतो वर्तमानः । भुजंगलोकः विटसमूहः, सर्पपक्षे-सर्पसमूहः । अद्य अधुना । इह अत्र । माम् वत्सराजउदयनं पातालं अधोलोकं । संस्मरयति स्मृतिपथं नयति ॥ अत्र रसिकजनान् दृष्ट्वा अधोलोकस्मरणेन स्मरणालङ्कारः । तद्यथा—यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणमिति । वसन्ततिलका वृत्तं । तदुक्तं 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ १२ ॥

भोः एषेति । मदनिका एतन्नाम्नी राजान्तःपुरपरिचारिका । मदनवशविसंष्ठुलं मदनस्य अनङ्गस्य वशेन अधीनत्वेन विसंष्ठुलमयथोचितपदन्यासं । वसन्ताभिनयं वसन्तस्याभिनयो यत्रेति तत् । चूतलिकया एतन्नाम्न्या राजभृत्यया । द्विपदीखण्डं गीतेः कश्चित् प्रकारः । यदुक्तं भरतेन 'भवेद्द्विपदिकागीतिर्भरतेन प्रकीर्तिता । युक्ता चतुर्भिश्चरणैस्त्रयोदशकलात्मकैः शुद्धा खण्डा च मात्रा च सम्पूर्णेति चतुर्विधा ।

---

जाल में कुछ-कुछ प्रत्यक्ष होने वाला यह विटों का ( कामीजनों ) का समूह (सर्प पक्ष में–सर्पों का समूह),जिसने फणाकार जलोद्गार यन्त्रों (पिचकारियों) को ऊपर उठाया है यहाँ आज मुझे पाताल लोक की याद दिला रहा है ॥१२॥

विदूषक—( देखकर ) अरे ! यह मदनिका वसन्ताभिनयपूर्वक नृत्य करती हुई, चूतलिका के साथ इधर ही आरही है । अतः प्रिय मित्र इसे देखें ।

( तत्पश्चात् मदनयुक्त हाव-भावों का अभिनय करती हुई दोनों सखियाँ द्विपदोखण्ड का गान करती हुई प्रवेश करती हैं)

चेट्यौ—

कुसुमाउहपिअदूअओ मउलीकिदबहुचूअओ ।
सिढिलिअमाणग्गहणओ वाअदि दाहिणपवणओ ॥ १३ ॥
[ कुसुमायुधप्रियदूतको मुकुलायितबहुचूतकः ।
शिथिलितमानग्रहणको वाति दक्षिणपवनकः ॥ १३ ॥ ]
विअसिअबउलासोअओ कङ्खिअपि अजणमेलओ ।
पडिवालणासमत्थओ तम्मइ जुवईसत्थओ ॥ १४ ॥

---

अन्वयः—कुसुमायुधप्रियदूतकः मुकुलायितबहुचूतकः शिथिलितमानग्रहणकः दक्षिणपवनकः वाति ॥ १३ ॥

कुसुमायुधेति । कुसुमायुधप्रियदूतकः कुसुमान्येव आयुधानि यस्य सः दूत एव दूतकः, प्रियश्चासौ दूतकः प्रियदूतकः कुसुमायुधस्य कामदेवस्य प्रियदूतकः प्रियवार्तावाहकः । मुकुलायितबहुचूतकः मुकुलायिताः कलिकाभिर्गमिताः बहवः चूताः आम्रतरवो येन सः कुड्मलिताम्रतरुरित्यर्थः । शिथिलितमानग्रहणकः शिथिलितं तत्याजितम् मानस्य प्रणयकलहस्य ग्रहणं स्वीकरणं येन तथाभूतं दक्षिणपवनकः मलयवायु वाति प्रवहति ॥ १३ ॥

अन्वयः—विकसितबकुलाशोककः कांक्षितप्रियजनमेलकः प्रतिपालनसमर्थकः युवतिसार्थकः ताम्यति ॥ १४ ॥

विकसितेति । विकसितबकुलाशोककः विकसिताः फुल्लिताः बकुलाः केसराः अशोकाः वञ्जुलाश्च येन तथाविधः । कांक्षितप्रियजनमेलकः कांक्षितः

---

मदनिका एवं चूतलिका समवेत स्वर से—

कामदेव का प्रियदूत, आम्रवृक्षों को मञ्जरित करने वाला और ( प्रिय के प्रति कामिनियों के ) प्रणयमान को शिथिल कर देने वाला मलयानिल बह रहा है ॥ १३ ॥

मौलसिरी और अशोक वृक्षों को पुष्पित करने वाला, अभीष्टजनों से मिलन

[ विकसितबकुलाशोककः काङ्क्षितप्रियजनमेलकः ।
प्रतिपालनासमर्थकस्ताम्यति युवतिसार्थकः ॥ १४ ॥ ]
इह पढमं महुमासो जणस्स हिअआइं कुणइ मिउलाई ।
पच्छा विद्धइ कामो लद्धप्पसरेहिं कुसुमबाणेहिं ॥ १५ ॥
[ इह प्रथमं मधुमासो जनस्य हृदयानि करोति मृदुलानि ।
पश्चाद्विध्यति कामो लब्धप्रसरैः कुसुमबाणैः ॥ १५ ॥ ]

राजा—( निर्वर्ण्य सविस्मयम् । ) अहो निर्भरः क्रीडारसः परिजनस्य । तथाहि—

---

अभिलषतः प्रियजनैः हृद्यलोकैः मेलकः संगमो येन तादृशः । प्रतिपालनासमर्थकः प्रतिपालने प्रियजनप्रतीक्षायाम् असमर्थकः अक्षमः । युवतिसार्थकः युवतीनां तरुणीनां सार्थकः संघः । ताम्यति खिद्यति ॥ १४ ॥

अन्वयः—इह मधुमासः प्रथमम् जनस्य हृदयानि मृदुलानि करोति पश्चात् कामः लब्धप्रसरैः कुसुमबाणैः विध्यति ॥ १५ ॥

इहेति । अस्मिन् वसन्ततौ मधुमासः चैत्रमासः प्रथमं पूर्वं ( तावत् ) जनस्य लोकस्य हृदयानि चेतांसि मृदुलानि कोमलानि करोति विदधाति । पश्चात् तदनन्तरं कामः मदनः लब्धप्रसरैः प्राप्तावकाशैः कुसुमबाणैः कुसुमसायकैः विध्यति भिनत्ति । अत्र रूपकालङ्कारः तदुक्तं मम्मटेन 'तद्रूपकमभेदो-पमानोपमेययोः' ॥ १५ ॥

निर्वर्ण्येति । निर्वर्ण्य समीचीनतया निरीक्ष्य । सविस्मयम् विस्मयेन सहितं । क्रीडारसः विहारामोदः । परिजनस्य सेवकवर्गस्य ।

---

हेतु उत्कण्ठित, और ( समागम की ) की प्रतीक्षा करने वाली युवतियों का समुदाय खिन्न हो रहा है ॥ १४ ॥

इस काल में यह मधुमास पहले तो हृदयों को कोमल बना देता है तत्पश्चात् कामदेव अवकाश या अवसर पाये हुए ( अपने ) पुष्प बाणों से उनको बींध देता है ॥ १५ ॥

राजा ( आश्चर्यचकित होकर ध्यान से देखते हुए )—

अहो ! परिजन वर्ग का आमोद-प्रमोद अपनी पराकाष्ठा ( सीमा ) पर पहुँच गया है । क्योंकि—

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः
क्षीबायां नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ।
व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः
क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षम् ॥ १६ ॥

---

अन्वयः—क्षीबायाः स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षं क्रीडन्त्याः अस्याः स्रस्तः आकुलः केशपाशः पीडया इव विरचितां स्रग्दामशोभां त्यजति, पादलग्नौ इमौ नूपुरौ च द्विगुणतरं क्रन्दतः कम्पानुबन्धात् व्यस्तः अयं हारः अनवरतम् उरः हन्ति॥१६॥

स्रस्त इति। क्षीबायाः शौण्डायाः मदिरासेवनात् मत्तायाः 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः। अतएव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षम् स्तनयोः कुचयोः यो भरः तेन विनमत् नम्रीभवत् यो मध्यः कटिप्रदेशः तस्य भंगः त्रोटनम् तत्र अनपेक्षा अनवधानं यस्मिन् कर्मणि तत्तथा। क्रीडन्त्याः इतस्ततः खेलन्त्याः। अस्याः एतस्याः। पुरोदृश्यमानायाः रमण्या इति यावत्। स्रस्तः स्वबन्धनाद्विगलितः उन्मुक्त इति यावत्। आकुलः अस्तव्यस्तः। केशपाशः कुन्तलकलापः। पीडयेव वेदनयेव। विरचितां विशिष्टतया निर्मिताम्। स्रगदामशोभां दामेव स्रग् स्रग्दामा तस्याः शोभां कान्ति त्यजति जहाति। पादलग्नौ चरणन्यस्तौ। इमौ दृश्यमानौ। नूपुरौ मञ्जीरौ मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रिया-मित्यमरः। द्विगुणतरं द्विरावृत्ततरं। क्रन्दतः रुदितः (इव) कम्पानुबन्धात् उद्धतनर्तनजनितस्य अनुबन्धात् अविच्छेदात् हेतोः व्यस्तः इतस्ततः क्षिप्यमाणः। अयमेषः। हारः मुक्ताहारः पीडयेव अनवरतं सततं निरन्तरं वा। उरः वक्षः-स्थलम्। हन्ति ताडयति। अत्र स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षं यन्नर्तनं तत्कृता पीडैव हेतुतयोत्प्रेक्ष्यत्वात् हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः। स्रग्धरावृत्तम्। लक्षणमुक्तं पूर्वं।

---

(मद्य का सेवन करने से) मतवाली और स्तनों के भार से झुकी हुई, कटि प्रदेश के भंग की अपेक्षा किये बिना नाचती हुई इस प्रमदा का खुला हुआ केशपाश मानों पीड़ा के कारण विशिष्ट प्रकार से निर्मित पुष्पमाला की शोभा को त्याग रहा है, पैरों से संलग्न ये पायल (मानों पीडा की अनुभूति से) द्विगुणित क्रंदन कर रहे हैं, निरन्त कम्पन के कारण दोलन करता हुआ यह पुष्पहार (मानों पीड़ा के कारण) निरन्तर वक्षःस्थल को प्रताडित कर रहा है ॥१६॥

विदूषकः---भो वअस्स अहं पि एताणं मज्झे गदुअ णच्चन्तो गाअन्तो मअणमहूसवं माणइस्सम् । [ भो वयस्य अहमप्येतयोर्मध्ये गत्वा नृत्यन् गायन् मदनमहोत्सवं मानयिष्यामि । ]

राजा—( सस्मितम् । ) वयस्य एवं क्रियताम् ।

विदूषकः---(उत्थाय चेटयोर्मध्ये नृत्यन् ।) भोदि मअणिए भोदि चूअलदिए मंपि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि । [ भवति मदनिके भवति चूतलतिके मामप्येतां चर्चरीं शिक्षयतम् । ]

उभे—( विहस्य ) हदास ण क्खु एसा चच्चरी । [ हताश न खल्वेषा चर्चरी । ]

विदूषकः---ता किं क्खु एदं । [ तत् किं खल्वेतत् । ]

मदनिका—दुअईखण्ड खु एदं । [ द्विपदीखण्डं खल्वेतत् । ]

---

भोवयस्येति । विदूषकेण वक्तव्यो वयस्येति च भूपतिरित्युक्ते रुदयनसम्बोधनं तत् । एतयोः मदनिकाचूतलिकाभिधानयोश्चेट्योः । मानयिष्यामि बहुमानं दास्यामि । सस्मितम् मंदहासयुक्तम् । हताश पिशुन । खण्डेन शर्करया ।

---

विदूषक—हे मित्र ! मैं भी इन दोनों के मध्य जाकर नाचता गाता हुआ मदनमहोत्सव मनाऊँगा ।

राजा--( मन्द हँसते हुए ) मित्र ! ऐसा ही करिए ।

विदूषक—( उठकर दोनों चेटियों के मध्य नाचता हुआ ) हे मदनिका जी ! और चूतलिका जी ! मुझे भी यह चर्चरी गान ( अथवा ताली वजाना ) सिखा दो ।

दोनों चेटियाँ ( हँसकर ) अरे अपढ ! यह चर्चरी नहीं है ।

विदूषक—तो यह क्या है ?

मदनिका—यह द्विपदी गीतिखण्ड है ।

विदूषकः—( सहर्षम् । ) किं एदिणा खण्डेण मोअआ करीअन्दि । [ किमेतेन खण्डेन मोदका क्रियन्ते ? ]

चेटचौ—( विहस्य । ) णहि णहि पढीअदि क्ख एदं । [ नहि नहि पठ्यते खल्विदम् । ]

विदूषकः—( सविषादम् । ) जइ पढीअदि ता अलं मम एदिणा । वअस्सस्स सआसं जेव्व गमिस्सम । [ यदि पठ्यते तदलं ममैतेन वयस्यस्य सकाशमेव गमिष्यामि । ] ( गन्तुमिच्छति )

उभे—( हस्ते गृहीत्वा ) एहि कीलम्ह । वसन्तअ कहिं गच्छसि । [ एहि क्रीडामः वसन्तक कुत्र गच्छसि ! ] ( इति बहुविधं वसन्तकमाकर्षतः )

विदूषकः—( आकृष्य हस्तं प्रपलाय्य राजानमुपसृत्य । ) वअस्स णच्चिदोम्हि । णहि णहि । कीलिअ पलाइदोम्हि । [ वयस्य नर्तितोऽस्मि । नहि नहि । क्रीडित्वा पलायितोऽस्मि । ]

---

विहस्येति । विहस्य हसित्वा । सविषादं खेदसहितम् । अलं मम एतेन मम एतेन किमपि प्रयोजनं नास्तीति । बहुविधमनेकप्रकारम् । नर्तितोऽस्मि नृत्यं कारितोऽस्मि । हञ्जे हे सखि ! 'हण्डे हञ्जे हलाऽऽह्वाने नीचां, चेटीं सखीं प्रती'त्यमरः । चेटी प्रति सम्बोधनसूचकमव्ययमेतत् ।

---

विदूषक—(प्रसन्न होकर) क्या इस खण्ड (खांड) से लड्डू बनाये जाते हैं।

दोनों चेटियाँ—( हँसकर ) नहीं नहीं । यह तो पढ़ा जाता है ।

विदूषक—(विषादपूर्वक) यदि पढ़ा जाता है तो मुझे इसकी आवश्यकता भी नहीं है । मित्र के पास ही जाता हूँ ( जाने का उपक्रम करता है )

दोनों चेटियाँ—(दोनों हाथ पकड़कर) आओ ! खेलते हैं, अरे वसन्तक ! कहाँ जा रहे हो ? ( इतना कहकर वे दोनों वसन्तक को अनेक प्रकार से खीचने लगती हैं । )

विदूषक—( हाथ खींचकर, भागकर राजा के पास जाकर ) हे मित्र ! मैं नाच आया हूँ, नहीं नहीं खेलकर भाग आया हूँ ।

राजा—साधु कृतम् ।

चूतलतिका—हञ्जे मअणिए । चर क्खु अह्माइ कीलिदम् । ता एहि । णिवेदह्म दाव भट्टिणीए संदेसं महाराअस्स । [ हञ्जे मदनिके चिरं आवा-वाभ्यां क्रीडितम् । तदेहि । निवेदयावस्तावद्भर्त्र्याः संदेशं महाराजाय । ]

मदनिका—सहि एवं करह्म । [ सखि एवं कुर्वः । ]

उभे—( परिक्रम्य उपसृत्य च । ) जेदु जेदु भट्टा । भट्टा देवी आणवेदि णहि णहि । विण्णवेदि । [जयतु जयतु भर्ता । भर्तः देव्याज्ञापयति—इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयन्त्यौ । ) नहि नहि । विज्ञापयति । ]

राजा—(सहर्षं विहस्य सादरम् ।) मदनिके नन्वाज्ञापयतीत्येव रमणीयम् । विशेषतोऽद्य मदनमहोत्सवे । तत्कथय किमाज्ञापयति देवी ।

---

रमणीयमिति । रमणीयम् सुन्दरम् । चिरं दीर्घकालम् । भट्टिन्याः भर्त्र्याः । सन्देशं संवादं । निवेदयावः कथयावः । लज्जां व्रीडां नाटयन्त्यौ अभिनयन्त्यौ ।

---

राजा—अच्छा किया ।

चूतलिका—सखी मदनिका ! हम दोनों ने बहुत देर क्रीडा की है । अतः चलो, स्वामिनी का संदेश महाराज से निवेदन कर दे ।

मदनिका—ऐसा ही करते हैं ।

दोनो चेटियाँ ( घूमकर और निकट पहुँचकर ) जय हो, महाराज की । जय हो । स्वामी ! महारानी की आज्ञा है, नहीं, नहीं, महारानी निवेदन कर रही हैं ।

राजा—( हर्षचित्त होकर आदर के साथ ) मदनिके ! महारानी आज्ञा देती हैं यही रमणीय ( मनोहर ) प्रतीत हो रहा है । विशेषकर आज मदन-महोत्सव के अवसर पर । अतः कहो—महारानी की क्या आज्ञा है ।

विदूषक:—आः दासीए धीए। किं देवी आणवेदि। [ आः दास्याः पुत्रि। किं देव्याज्ञापयति। ]

उभे—एवं देवी विण्णवेदि-अज्ज क्खु मए मअरन्दोद्दाणे गदुअ रत्तासो-अपाअवतले संठाविदस्स भअवदो कुसुमाउहस्स पूआ णिव्वत्त-इदव्वा। तहिं अज्जउत्तेण संण्णिहिदेण होदव्वम्। [ एवं देवी विज्ञापयति-अद्य खलु मया मकरन्दोद्यानं गत्वा रक्ताशोकपादपतले संस्थापितस्य भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निर्वर्तयितव्या। तत्रार्यपुत्रेण सन्निहितेन भवितव्यम्। ]

राजा-(सानन्दम्।)वयस्य ननु वक्तव्यमुत्सवादुत्सवान्तरमापतितमिति।

विदूषक:-भो वअस्स ता उट्ठेहि। तहिं ज्जेव गच्छह्म जेण तहिं गदस्स ममावि बह्मणस्स सोत्थिवाअणं किंवि भविस्सदि। [ भो वयस्य, तदुत्तिष्ठ। तत्रैव गच्छामो येन तत्र गतस्य ममापि ब्राह्मणस्य स्वस्तिवायनं किमपि भविष्यति। ]

---

आः क्रोधसूचकमव्ययमेतत्। दास्याः पुत्रि भुजिष्यायास्तनया रण्डापुत्री वा नीचदासीत्यर्थः। मकरन्दोद्यानम् तदाख्यमुपवनविशेषं। संस्थापितस्य सविधिप्रतिष्ठापितस्य। कुसुमायुधस्यानङ्गस्य। तत्र पूजामुहूर्ते पूजोपक्रम इत्यर्थः। रक्ताशोकानोकहतले कृतप्रतिष्ठस्य अनङ्गस्य पूजासमये भवदुपस्थिति ईहे इति राजमहिष्या अनुरोध इति यावत्।

सानन्दमिति। उत्सवान्तरमन्यः उत्सवः अस्मादुत्सवादनन्तरमन्योत्सवः इतियावत्। स्वस्तिवायनम् मांगलिकोपहाररूपम्।

---

विदूषक—हे दासी पुत्री! क्या देवी आज्ञा दे रही हैं?

दोनों चेटियाँ—राजमाता का निवेदन यह है कि आज मुझे मकरन्दोद्यान में जाकर रक्ताशोक वृक्ष के नीचे संस्थापित भगवान् कामदेव की पूजा करनी है, अतः पूजा समय में महाराजश्री को वहाँ उपस्थित रहना चाहिए।

राजा—( हर्षितचित्त हो ) मित्र! निश्चित रूप से कहना चाहिए कि एक उत्सव से दूसरा उत्सव उपस्थित हो गया है।

विदूशक—हे मित्र! तो उठो, वहीं ( मकरोद्यान ) में चलते हैं, जिससे वहाँ चलकर मुझ ब्राह्मण को भी कुछ मांगलिक उपहार प्राप्त हो सकेगा।

राजा—मदनिके, गम्यतां देव्यै निवेदयितुमयमहमागत एव मकरन्दोद्यानमिति ।

चेट्यौ—जं भट्टा आणवेदि । [ यद्भर्ताऽऽज्ञापयति । ] ( इति निष्क्रान्ते )

राजा—वयस्य, एहि । अवतरावः । (उभौ प्रासादादवतरणं नाटयतः) वयस्य, आदेशय मकरन्दोद्यानस्य मार्गम् ।

विदूषकः—एदु एदु भट्टा [ एतु एतु भर्ता । ] ( इति परिक्रामतः )

विदूषकः—( अग्रतोऽवलोक्य ) एदं तं मअरन्दुज्जाणं ता एहि पविसह्म । [ एतत्तन्मकरन्दोद्यानं तदेहि प्रविशावः । ]

( इति प्रविशतः )

---

वयस्येति । अवतरावः अवरोहावः स्वप्रासादादवतरावः ।

---

राजा—हे मदनिके ! महारानी को निवेदन करने जाइये और कहिये कि मैं मकरोद्यान में बस आ ही रहा हूँ ।

दोनों चेटियाँ—जैसी महाराजश्री की आज्ञा । ( इस प्रकार निवेदन कर चली जाती हैं )

राजा—हे मित्र ! आओ ( महल से ) उतरते हैं ( दोनों राजप्रसाद से उतरने का अभिनय करते हैं ) ( अब ) मित्र ! मकरोद्यान का मार्ग बताओ ।

विदूषक—महाराज ! आइये, आइये ।

विदूषक—( सम्मुख देख कर ) यही मकरन्दोद्यान है ! तो आइये प्रवेश करते हैं ।

( इस प्रकार दोनों प्रवेश करते हैं )

विदूषकः—( अवलोक्य सविस्मयम् ) भो महाराज, पेक्ख पेक्ख दाव एवं खु मलअमारुदान्दोलणपहुल्लन्तसहआरमञ्जरीरेणुपडलपडिबद्धपढविआणं मत्तमहुअरमुत्तझङ्कारमिलिदमहुरकोइलारावसंगीदसुदिसुहं तुहागमणदंसिआअरं विअ मअरन्दुज्जाणं लक्खीअदि। ता पेक्खदु भवं। [भो महाराज, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व तावदेतत् खलु मलयमारुतान्दोलनप्रफुल्लत्सहकारमञ्जरीरेणुपटलप्रतिबद्धपटवितानं मत्तमधुकरमुक्तझङ्कारमिलितकोकिलारावसंगीतश्रुतिसुखं तवागमनदर्शितादरमिव मकरन्दोद्यानं लक्ष्यते। तत्प्रेक्षतां भवान्।]

राजा—( समन्तादवलोक्य ) अहो मकरन्दोद्यानस्य परा श्रीः। इह हि—

---

मलयेति। मलयमारुतेन दक्षिणानिलेन आन्दोलिता दोलितो यो मुकुलायमानो मुकुलं कुर्वन् सहकारो अतिसौरभचूतवृक्षस्तस्य मञ्जरीणां रेणुपटलैः परागसमूहैः प्रतिबद्धं विरचितं पटवितानं चित्रपटकृतचन्द्रातपो येन तत् तथोक्तम्। 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽति सौरभ' इत्यमरः। मत्तेति। मत्तैः मदान्वितैः मधुकरनिकरैः भ्रमरसमूहैः मुक्तो यो झंकारो ध्वनिविशेषस्तेन मिलितो मिश्रितो यो मधुरः कोकिलानामालापोरवस्तदात्मकेन सङ्गीतेन सुखावहम्। अतएव तवागमने दर्शित आदरो येन तथोक्तमिव। प्रेक्षताम् पश्यतु।

राजेति। समन्तात् सर्वतः। हि यस्मात् इह मकरन्दोद्याने अमीद्रुमाः मता इव भान्तीति श्लोकीयेनान्वयः।

---

विदूषक—( देखकर हँसते हुए ) हे राजेश्वर! देखिए, देखिए। मकरन्दोद्यान की शोभा जहाँ, मलयवायु के संचालन से विकसित होती हुई आम्रमञ्जरियों के पराग समूह से शामियाना सा बना हुआ है। मत्त भ्रमरों की गुञ्जार से मिली हुई कोयल पक्षियों की मधुर कूक का संगीत कानों को सुखास्पद प्रतीत हो रहा है, यह मकरन्दोद्यान आपके आगमन के प्रति मानो आदर प्रकट कर रहा है। तदर्थ आप दृष्टिपात करें।

राजा—(सर्वत्र देखकर) निश्चित ही मकरन्दोद्यान की शोभा पराकाष्ठा पर है; क्योंकि यहाँ—

उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैस्ताम्रां त्विषं बिभ्रतो
भृङ्गालीविरुतैः कलैरविशदव्याहारलीलाभृतः ।
घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलैः शाखासमूहैर्मुहुः
र्भान्ति प्राप्य मधुप्रसङ्गमधुना मत्ता इवामी द्रुमाः ॥ १७ ॥

अपि च—

---

अन्वयः—अधुना मधुप्रसङ्गं प्राप्य उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैः ताम्रां त्विषं बिभ्रतः कलैः भृङ्गालीविरुतैः अविशदव्याहारलीलाभृतः मलयानिलाहृतिचलैः शाखासमूहैः मुहुः घूर्णन्तः अमीद्रुमाः मत्ता इव भान्ति ॥१७॥

उद्यदिति । अधुना मधोर्वसन्तस्य पक्षे मधुनो मद्यस्य प्रसङ्गं सम्पर्कं प्राप्य । उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः उद्यतामुद्गच्छतां विद्रुमाणां प्रवालानां कान्तिरिव कान्तिर्येषां तानि तथोक्तैः । विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकमित्यमरः । किसलयैः पल्लवैः । पल्लवोऽस्त्री किसलयमित्यमरः । ताम्रामरुणां त्विषं द्युतिं बिभ्रतो धारयन्तः । ताम्रं शुल्वेऽरुणेपिचेति मेदिनी । कलैः मधुरास्फुटैः भृङ्गालीनां भ्रमरश्रेणीनां विरुतैर्ध्वनिभिः । अविशदव्याहारस्य अव्यक्तवचनस्य लीलां विलासं बिभ्रति ये ते तथोक्ताः । तथा मलयानिलस्य दक्षिणवातस्य आघातेन चलैः चञ्चलैः शाखासमूहैः विटपसमूहैः मुहुः पुनः पुनर्घूर्णन्तो अमीद्रुमाः मत्ता इव भान्ति प्रकाशन्ते । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

अपिचेति । अन्यच्चेत्यर्थः ।

---

इस समय वसन्तकाल का आश्रय पाकर अंकुरित होते हुए प्रवाल ( मूंगे ) की सी कान्ति वाले नवपल्लवों से ताम्रवर्णी कान्ति धारण करते हुए भ्रमरों के अव्यक्त गुञ्जारव से अस्पष्ट बोलने की लीला धारण करने वाले और मलय पवन के आघात से चलायमान शाखा समूहों से बारम्बार झूमते हुए ये वृक्ष मतवालों की तरह प्रतीत हो रहे हैं ॥ १७ ॥

और भी—

मूले गण्डूषसेकासव इव बकुलैर्वास्यते पुष्पवृष्ट्या
मध्वाताम्रे तरुण्या मुखशशिनि चिराच्चम्पकान्यद्य भान्ति ।

अन्वयः—अद्य बकुलैः मूले गण्डूषसेकासवः पुष्पवृष्ट्या वास्यते इव, तरुण्याः मुखशशिनि मध्वाताम्रे चम्पकानि चिरात् भान्ति, भृङ्गसार्थैः आकर्ण्य अशोकपादाहतिषु निर्भरम् रसितम् नूपुराणां झंकारस्य अनुगीतैः अनुकरणम् इव आरभ्यते ॥१८॥

मूले इति । अद्य सम्प्रति बकुलैः केसरवृक्षैः मूले तरुण्या युवत्याः गण्डूषेण मुखपूर्त्या सेकः प्रक्षेपो यस्य स तादृशः आसवः पुष्पवृष्ट्या पुष्पाणां वर्षणेन करणेन मद्यं वास्यते सुरभीक्रियत इव । तरुणीनां वदनमदिरया बकुलो विकशतीति प्रसिद्धिः । यदुक्तं मल्लिनाथेन—स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात् । पादाघातादशोकतिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ॥ मन्दारोनमं वाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकाराः इति ॥ तथा तरुण्याः मुखशशिनि मुख एव शशी चन्द्रः तस्मिन् । मध्वाताम्रे मद्येन आताम्रे अरुणे सति । आताम्रं पाटलं विषदारुणमिति धनञ्जयः । चम्पकानि चम्पकपुष्पाणि चिराद्दीर्घकालान्तरं भान्ति प्रकान्ते । सुन्दरीणां हास्ययोगाच्चम्पको विकशतीति प्रसिद्धिः । तथा भृङ्गसार्थैः भृङ्गसंघैश्च कर्तृभिः अनुगीतैः पादाघातानन्तरमारब्धैर्गानैः करणैः अशोकेषु वृक्षेषु पादाहतिषु पादाघातेषु निर्भरं सातिशयं रसतां ध्वनतां तरुण्यानूपुराणां झंकारस्य रवस्य आकर्ण्य श्रुत्वा अनुकरणमिव आरभ्यते क्रियते । अत्रानुकरणं कर्मत्वेन झंकारस्येति

( वसन्तकाल का आश्रय पाकर ) आज मौलसिरी के वृक्ष ( अपनी ) जड में ( युवतियों ) द्वारा मुंह में भर कर सींचे हुए मद्य को मानों फूल की वर्षा से सुगन्धित सा कर रहे हैं । मद्यपान से रमणियों के मुखचन्द्र के कुछ लाल होने पर चम्पा के फूल अनेक दिवसों के उपरान्त सुशोभित हो रहे हैं ।

आकर्ण्याशोकपादाहतिषु च रसितं निर्भरं नूपुराणां
झङ्कारस्यानुगीतैरनुकरणमिवारभ्यते भृङ्गसार्थैः ॥ १८ ॥

विदूषकः—( आकर्ण्य ) भो वअस्स, ण एदे महुअरा णेउरसद्दं अणुहरन्ति । णेउरसद्दा ज्जेव्व एमो देवीए परिअणस्स । [ भो वयस्य, नैते मधुकरा नूपुरशब्दमनुहरन्ति । नूपुरशब्द एवैष देव्याः परिजनस्य । ]

राजा—वयस्य सम्यगुपलक्षितम् ।

( ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला पूजोपकरण-
हस्ता सागरिका विभवतश्च परिवारः । )

---

षष्ठी न तु आकर्ण्येत्यस्य कर्मत्वेन द्वितीया । नाव्ययकृद्विधिः क्रियान्तरकारके इति न्यायात् । कामिनीनां पादाघातेनाशोकः स्फुटतीति प्रसिद्धिः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ १८ ॥

विदूषकेति । अनुहरन्ति अनुकुर्वन्ति । 'अनुहारोऽनुकारः स्या'दित्यमरः ।

राजेति । सम्यक् सङ्गतम उपलक्षितं तर्कितम् ।

---

भ्रमर समूह ने अशोक वृक्ष पर युवतियों के चरणप्रहार के समय अतिध्वनित पायलों की झङ्कार सुन कर अपने गुञ्जारव से मानों उसका अनुसरण प्रारम्भ कर दिया है ॥ १८ ॥

विदूषक—( सुन कर ) मित्र ! ये भ्रमर पायल के शब्दों का अनुसरण नहीं कर रहे हैं, अपितु यह तो महारानीश्री के परिजन के नूपुरों का ही शब्द हैं ।

राजा—मित्र ! तुमने ठीक ही समझा है ।

( तदनन्तर वासवदत्ता, काञ्चनमाला एवं हाथ में पूजा की सामग्री
लिये सागरिका और यथायोग्य परिजन वर्ग का प्रवेश )

वासवदत्ता—हञ्जे कञ्चणमाले आदेसेहि मअरन्दुज्जाणस्स मग्गं ।
[ हञ्जे काञ्चनमाले आदेशय मकरन्दोद्यानस्य मार्गम् । ]

काञ्चनमाला—एदु एदु भट्टिणी । [ एत्वेतु भर्त्री । ]

वासवदत्ता—( परिक्रम्य । ) हञ्जे कञ्चणमाले अध केत्तिअ दूरो सो रत्तासोअपाअवो जहिं मए भअवदो कुसुमाउहस्स पूआ णिव्वत्तइदव्वा ।
[ हञ्जे काञ्चनमाले ! अथ कियद्दूरे स रक्ताशोकपादपो यत्र मया भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निर्वर्तयितव्या । ]

काञ्चनमाला—भट्टिणि आसण्णो ज्जेव । किं ण पेक्खदि भट्टिणी । इअं क्खु सा णिरन्तररुब्भिण्णकुसुमसोहिणी भट्टिणीए परिग्गहिदा माहवी-लदा । एसा वि अवरा णोमालिआ लदा जाए । अआलकुसुमसमुग्गमसद्धा-

---

वासवदत्तेति । हञ्जेइत्यादि । हञ्जे इति चेट्याः सम्बोधनम् । 'हण्डेहञ्जे हलाह्वाणं नीचं चेटीं सखीम्प्रती'त्यमरः । काञ्चनमाला चेटी विशेषः ।

वासवदत्तेति । हञ्जे इत्यादि । अथ शब्दः प्रश्ने । 'मङ्गलानन्तरारम्भ-प्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथेत्यमरः । निर्वर्तयितव्या निष्पादितव्या ।

काञ्चनमालेति । आसन्नो निकटवर्ती रक्ताशोकपादप इति शेषः । निरन्त-रेति । निरन्तरं सततमुद्भिन्नैः उत्पन्नैः कुसुमैः शोभितुं शीलं यस्यास्तादृशी ।

---

वासवदत्ता—सखी काञ्चनमाला ! मुझे मकरन्द उद्यान का मार्ग निर्देशित करो ।

काञ्चनमाला—आइए, स्वामिनी ! आइए ।

वासवदत्ता—( घूम कर ) सखी काञ्चनमाला ! अभी कितना दूर वह रक्त अशोक का वृक्ष है, जहाँ मुझे भगवान् कुसुमायुध की पूजा-अर्चना करनी है ।

काञ्चनमाला—स्वामिनी ! समीप ही है । क्या आप नहीं देख रही है ? यही वह निरन्तर विकसित पुष्पों से सुशोभित माधवी लता है जिसे

लुणा भट्टिणा अणुदिणं आआसीअदि अप्पा । ता एदं अदिक्कमिअ दीसदि ज्जेव सो रत्तासोअपाअवो जहिं देवी पूअं णिव्वत्तइस्सदि । [ भत्रि ! आसन्न एव । किन प्रेक्षते भर्त्री । इयं खलु सा निरन्तरोद्भिन्नकुसुमशोभिनी भर्त्रा परिगृहीता माधवी लता । एषाप्यपरा नवमालिकालता यस्या अकालकुसुम-समुद्गमश्रद्धालुना भर्त्राऽनुदिनमायास्यत आत्मा । तदेतामतिक्रम्य दृश्यत एव स रक्ताशोकपादपो यत्र देवी पूजां निर्वर्तयिष्यति । ]

वासवदत्ता—ता एहि । तहिं ज्जेव्व लहुं गच्छम्ह । [ तदेहि । तत्रैव लघु गच्छामः । ]

काञ्चनमाला—एदु एदु भट्टिणी । [ एत्वेतु भर्त्री । ]

( सर्वा परिक्रामन्ति । )

---

नवमालिका नवमल्लिका । अकालो वसन्तः नवमालिकाया ग्रीष्मकालकुसुम-दायित्वात् । तस्मिन् यः कुसुमोद्गमस्तत्र श्रद्धालुना सम्प्रतियुषा स्पृहयालुना वा । श्रद्धासम्प्रत्ययः स्पृहेत्यमरः । आयास्यते परिश्रान्तौ क्रियते ॥ एनाम् नवमल्लिकालतामतिक्रम्योल्लङ्घ्य एतस्या अग्रत इत्यर्थः । निर्वर्तयिष्यति निष्पादयिष्यति ।

वासवदत्तेति । लघु सत्वरम् । लघुक्षिप्रमरं द्रुतम् सत्वरमित्यमरः । उपस्थापय ।

---

स्वामिनी ने अपनाया है । और यह दूसरी नवमालिका है जिसे असमय में पुष्पित करने की कामना से स्वामी प्रतिदिन अपने को चिंतित किये रहते हैं । और इसे लांघ ( पार ) कर वह रक्त अशोक का वृक्ष परिलक्षित हो रहा है जहाँ आप पूजा करेंगी ।

वासवदत्ता—तो आओ, वहीं ( हम सब ) शीघ्र चलते हैं ।

काञ्चनमाला—आइए स्वामिनी ! आइए ।

( सभी चलते हैं )

काञ्चनमाला—भट्टिणि अअं खु सो रत्तासोअपाअवो जहिं देवी पूआं णिव्वत्तइस्सदि। [ भर्त्रि ! अयं खलु स रक्ताशोकपादपो यत्र देवी पूजां निर्वर्तयिष्यति। ]

वासवदत्ता—तेण हि मे पूआणिमित्ताइं उवअरणाइं उवणेहि। [ तेन हि मे पूजानिमित्तान्युपकरणान्युपनय। ]

सागरिका—(उपसृत्य) भट्टिणि, एवं सव्वं सज्जम्। [ भर्त्रि ! एतत्सर्वं सज्जम्। ]

वासवदत्ता—( निरूप्य आत्मगतम्। ) अहो पमाओ परिअणस्स। जस्स ज्जेव दंसणपधादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव दिट्ठिगोअरे पडिदा भवे। भोदु। एदं ताव भणिस्सम्। हञ्जे साअरिए कीस तुमं अज्ज मअण-

---

सागरिकेति। उपसृत्य उपगम्य। सज्जं सम्भृतं कृतोद्योगमित्यर्थः।

वासवदत्तेति। निरूप्य विचार्य। आत्मगतमनतिस्पष्टम्। यन्न क्वचिदपि जनं श्रावयतीत्यर्थः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे-आश्रव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतमिति। प्रमादोऽनवधानता। रक्ष्यते वार्यते। सागरिकेति शेषः। प्रकाशमिति। सुव्यक्तं यत् सर्वान् श्रावयतीत्यर्थः। तदुक्तं दर्पणे सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादिति। मदनमहोत्सवपराधीने मदनमहोत्सवपरायणे। उज्झित्वा त्यक्त्वा।

---

काञ्चनमाला—स्वामिनी ! यहीं वह लाल अशोक का वृक्ष है, जहाँ आप पूजा-अर्चना करेंगी।

वासवदत्ता—तो फिर मेरे लिए पूजन सामग्री ले आओ।

सागरिका—( समीप जाकर ) स्वामिनी ! यह सब ( पूजा उपकरण ) तैयार है।

वासवदत्ता—( देख कर मन ही मन ) सेवक वर्ग का यह प्रमाद विचित्र है। जिसकी दृष्टि से प्रयत्नपूर्वक बचाई जा रही है, उसी की दृष्टि में पड़ जायगी। अस्तु। तो इस प्रकार कहूँगी ( व्यक्तरूप से ) सखि

महूस्सवपराहोणे परिअणे सारिअं उज्झिअ इह आगदा । ता तहिं ज्जेव-लहुं गच्छ । एदं वि सव्वं पूओवअरणं कञ्चणमालाए हत्थे समप्पेहि । [ अहो प्रमादः परिजनस्य । यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव दृष्टिगोचरे पतिता भवेत् । भवतु । एवं तावद् भणिष्यामि । ( प्रकाशम् । ) हञ्जे सागरिके कस्मात्त्वमद्य मदनमहोत्सवपराधीने परिजने सारिकामुज्झित्वेहागता । तत्तत्रैव लघु गच्छ । एतदपि सर्वं पूजोपकरणं काञ्चनमालाया हस्ते समर्पय । ]

सागरिका–जं भट्टिणी आणवेदि । सारिया मए उण सुसंगदाए हत्थे-समप्पिदा एदं वि अत्थि मे पेक्खिदुं कोदूहलं कि जहा तादस्स अन्तेउरे भअवं अणङ्गो अच्चीअदि इह वि तह ज्जेव कि अण्णहेत्ति । ता अल-क्खिदा भविअ पेक्खिस्सम् । जाव इह पूआसमओ होइ ताव अहं पि भअवन्तं अणंग ज्जेव पूअइदुं कुसुमाइं अवचिणिस्सम् । [ यद्भट्टिन्याज्ञा-पयति । ( इति तथा कृत्वा कतिचित्पदानि गत्वा । आत्मगतम् । ) सारिका मया पुनः सुसंगताया हस्ते समर्पिता । एतदप्यस्ति मे प्रेक्षितुं कौतूहलं कि यथा तातस्यान्तःपुरे भगवाननङ्गोऽर्च्यते इहापि तथैव किमन्यथेति । तद-

---

सागरिकेति । प्रेक्षितुम् द्रष्टुम् । कौतुहलं लोलता । रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात कुतूहलमिति । तातस्य पितुः । अनङ्गः कामदेवः । अर्च्यते पूज्यते । अलक्षिता देव्या अदृष्टा । आत्मानं गोपयित्वेत्यर्थः । अवचेष्यामि संग्रहीष्यामि ।

---

सागरिके । आज परिजनों के मदन महोत्सव में व्यस्त रहते सारिका ( मैना ) को छोड़ कर कैसे तुम यहाँ आ गईं ? अतएव वहीं शीघ्र चली जाओ और इस सब पूजा सामग्री को काञ्चनमाला के हाथ में दे दो ।

सागरिका—स्वामिनी की जैसी आज्ञा ( कह कर, कुछ पग चल कर मन ही मन ) सारिका को तो मैं सुसंगता को दे आई हूँ । मुझे यह देखने की भी उत्कण्ठा है कि जैसे मेरे पिता के अन्तःपुर में भगवान् कामदेव की पूजा अर्चना की जाती है उसी तरह यहाँ भी सम्पन्न होती है अथवा अन्य प्रकार से । इस हेतु छिप कर देखना होगा । जब तक यहाँ पूजा समय होता

लक्षिता भूत्वा प्रेक्षिष्ये । यावदिह पूजासमयो भवति तावदहमपि भगवन्त-मनङ्गमेव पूजयितुं कुसुमान्यवचेष्यामि । ] (इति कुसुमावचयं नाटयति ।)

वासवदत्ता—कञ्चणमाले पडिट्ठावेहि असोअमूले भअवन्तं पज्जुण्णम् । [ काञ्चनमाले प्रतिष्ठापयाशोकमूले भगवन्तं प्रद्युम्नम् । ]

काञ्चनमाला—जं भट्टिणी आणवेदि । [ यद्भर्त्र्याज्ञापयति । ] ( तथा करोति । )

विदूषकः—भो वअस्स जधा वीसन्तो णेउरसद्दो तहा तक्केमि आअदा देवी असोअमूलंत्ति । [ भो वयस्य यथा विश्रान्तो नूपुरशब्दस्तथा तर्कयामि आगता देव्यशोकमूलमिति । ]

---

वासवदत्तेति । प्रद्युम्नं मदनम् । 'मदनोमन्मथोमारः प्रद्युम्नो मीनकेतन' इत्यमरः ।

काञ्चनमालेति । इति एवमुक्त्वा । तथा करोति कामप्रतिकृतिं प्रतिष्ठापयति ।

विदूषकेति । विश्रान्तः श्रान्तः इति तर्कयामीति सम्बन्धः ॥

---

है तब तक मैं भी पूजन हेतु पुष्प चुन लेती हूँ । ( पुष्प चयन का अभिनय करती है । )

वासवदत्ता—काञ्चनमाले ! अशोक वृक्ष के नीचे भगवान् कामदेव को प्रतिष्ठित करो ।

काञ्चनमाला—स्वामिनी की जैसी आज्ञा ।

विदूषक—मित्र ! नूपुर ध्वनि नहीं हो रही है इससे मैं अनुमान करता हूँ कि महारानी वासवदत्ता अशोक वृक्ष के पास आ गई हैं ।

राजा—( अवलोक्य । ) वयस्य सम्यगवधारितम् । पश्येयं देवी या किलैषा—

कुसुमसुकुमारमूर्तिर्दधती नियमेन तनुतरं मध्यम् ।
आभाति मकरकेतोः पार्श्वस्था चापयष्टिरिव ॥ १९ ॥

तदेहि । उपसर्पावः ( उपसृत्य । ) प्रिये वासवदत्ते !

वासवदत्ता—( विलोक्य । ) कधं अज्जउत्तो । जअदु अज्जउत्तो । एदं आसणं । एत्थ उववसदु अज्जउत्तो । [ कथमार्यपुत्रः । जयत्वार्यपुत्रः ।

---

राजेति । अवधारितम् निश्चितम् मनसिकृतमित्यर्थः । या इत्यस्य श्लोकीयेनाभातीत्यनेन सम्बन्धः ॥

अन्वयः—कुसुमसुकुमारमूर्तिः नियमेन तनुतरं मध्यं दधती मकरकेतोः पार्श्वस्था चापयष्टिः इव आभाति ॥१९॥

कुसुमेति । कुसमस्येव पुष्पस्येव सुकुमारा कोमलामूर्तिर्यस्याः सा । 'सुकुमारं तु कोमलमि'त्यमरः । पक्षे-कुसुमान्येव सुकुमारी मूर्तिः यस्याः तादृशी । तथा नियमेन व्रतेन उपवासेन वा । तनुतरमतिक्षीणं मध्यं दधती । पक्षे-कोदण्ड-करणरीत्या तनुमेव । या एषा देवी मकरकेतोर्मदनस्य पार्श्वस्था समीपस्था चापयष्टिः धनुरिव आभाति प्रकाशते । अत्रोत्प्रेक्षा न तु उपमालङ्कारः । आर्यावृत्तम् ॥१९॥

वासवदत्तेति । जयति जयति आर्यपुत्रः । अलङ्करोतु इमं देशमासन

---

राजा—( देखकर ) मित्र ! तुम्हें ठीक ही ज्ञात हुआ है । देखो, ये देवी हैं । ये तो—पुष्प के समान कोमलाङ्गी ( धनुर्लता पक्ष में—पुष्पमय होने के कारण सुकुमार ), व्रतोपवासादि के कारण क्षीण कटि प्रदेश को धारण करती हुई ( पक्ष में--मध्य में कृश ) महारानी वासवदत्ता कामदेव के समीप स्थित धनुर्लता के समान प्रतीत हो रही है ॥१९॥

अतएव आओ, समीप चलें ( समीप जाकर ) प्रिये वासवदत्ते ।

वासवदत्ता--( देखकर ) क्या आर्यपुत्र ! जय हो आर्यपुत्र की जय हो,

एतदासनम् । अत्रोपविशत्वार्यपुत्रः ]

( राजा नाट्येनोपविशति । )

काञ्चनमाला—भट्टिणि सहत्थदिण्णकुङ्कुमचच्चिआसोहिदं कदुअ रत्तासोअपाअवं अच्चीअदु भअवं पज्जुण्णो । [ भर्त्रि ! स्वहस्तदत्तकुङ्कुमचर्चिकाशोभितं कृत्वा रक्ताशोकपादपमर्च्यतां भगवान्प्रद्युम्नः । ]

वासवदत्ता—उवणेहि मे पूजोवअरणाइं । [उपनय मे पूजोपकरणानि ।]

( काञ्चनमालोपनयति । वासवदत्ता तथा करोति । )

राजा—प्रिये !

---

परिग्रहेण । एतदासनमत्रोपविशत्वार्यपुत्रः । अलङ्करोतु भूषयतु ॥

राजेति । नाट्येन उपवेशनरूपप्रदर्शनतया ।

काञ्चनमालेति । भर्त्रि स्वहस्तदत्तैः कुसुमकुङ्कुमचन्दनवासोभिः शोभितं रक्ताशोकपादप गत्वा अर्च्यतां भगवान् प्रद्युम्नः । कुसुमेत्यादि अर्च्यतामित्यनेनान्वितम् ॥

वासवदत्तेति । तथा करोति पूजयति ।

---

यह आसन है । बैठें आर्यपुत्र ।

( राजा नाटकीय पद्धति से बैठता है । )

काञ्चनमाला—महिषी ! अपने हाथों से दिये हुए कुकुंम, चन्दन और गन्धलेपादि से रक्ताशोक को विभूषित करके भगवान् कामदेव की पूजा करें ।

वासवदत्ता—मेरी पूजा सामग्री ले आओ ।

( काञ्चनमाला लाती है । वासवदत्ता यथोक्त पद्धति से पूजन करती है । )

राजा—प्रिये ! सद्यः स्नान करने के कारण विशेष निर्मल कान्तिवाली

प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तकान्तिः
कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती
बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव ॥ २० ॥

---

अन्वयः—प्रत्यग्रमज्जनविशेषकान्तिः, कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता, (हे प्रिये !) मकरकेतनम् अर्चयन्ती बालप्रवालविटपिप्रभवा लता इव विभ्राजसे ॥ २० ॥

प्रयग्रेति । प्रत्यग्रेणाभिनवेन मज्जनविशेषेण मङ्गलस्नानेन विविक्ता पूताकान्तिर्यस्याः सा । 'प्रत्यग्रोऽभिनवमि'त्यमरः । तथा कौसुम्भपरागेण कुसुम्भपुष्पकृतलोहितिम्ना रुचिरं मनोहरं स्फुरद्दीप्तिमच्च अंशुकान्तं वस्त्ररूपं यस्याः सा तथोक्ता । मकरकेतनं काममर्चयन्ती त्वं बाला अभिनवा प्रवालाः पल्लवाः यस्य सः प्रश्नय तस्मिन् विटपिनि वृक्षे प्रभवा उत्पन्ना लतेव विभ्राजसे शोभसे । 'प्रवालोऽस्त्री किसलये वीणादण्डे च विद्रुमे' इति मेदिनी । अत्र भग्न-प्रक्रमता दोषः, अत्र लता विभ्राजते त्वं वासवदत्ता विभ्राजसे इति प्रथम मध्यमरूपपुरुषभेदः । यदुक्तं मम्मट मुनिना—'सम्बोध्यमाननिष्ठस्य पर-भागस्य असम्बोध्यमानविषयतया व्यत्यासात् पुरुषभेदः इति ।'' प्रस्तुते तु सम्बोध्यमाना वासवदत्ता तन्निष्ठस्य तद् विषयकस्य परभागस्य 'विभ्राजसे' प्रत्ययस्य, अचेतनत्वेन लतायाः सम्बोध्यत्वाभावात् तद्विषयकतया व्यत्यासात् विभ्राजते इति परिवर्तनात् भग्नप्रक्रमतादोषः ॥ अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । केचित् श्लेषसङ्कीर्णोपमालङ्कारः अपि मन्यते ॥ वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ २० ॥

---

और कौसुम्भ रंग से लाल रङ्गी चमकती हुई मनोहर साड़ी पहनी हुई है—प्रिये ! तुम मकरकेतन कामदेव का पूजन करते समय ऐसी सुशोभित हो रही हो जैसे नूतन कोमल कोपलों वाले वृक्ष से उत्पन्न लता सुशोभित होती है ॥ २० ॥

अपि च—

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥ २१ ॥

अपि च—

अनङ्गोऽयमनङ्गत्वमद्य निन्दिष्यति ध्रुवम् ।

---

अन्वयः—हे दयिते ! स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन त्वया स्पृष्टः एषः अशोकः उद्भिन्नापरकिसलय इव लक्ष्यते ॥२१॥

स्पृष्ट इति । हे दयिते प्रिये ! 'दयितं वल्लभं प्रियमि'त्यमरः । स्मरपूजायां मदनार्चने व्यापृतेन व्यासक्तेन हस्तेन पाणिना करेण वा त्वया वासवदत्तया स्पृष्टः संजातस्पर्शः एषः अशोकः अशोकपादपः उद्भिन्नं उद्गतमपरं मृदुतरमतिकोमलं किसलयं पल्लवो यस्य सः तथाभूत इव लक्ष्यते प्रतीयते । पाणितलस्यातिलोहिततया पल्लवानुकारित्वादिति भावः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । आर्यावृत्तम्॥

अपिचेति ।

अन्वयः—अयम् अनङ्गः अनङ्गत्वम् अद्य ध्रुवम् निन्दिष्यति, यद् अनेन तव पाणिस्पर्शोत्सवः न सम्प्राप्तः ॥२२॥

अनङ्ग इति । अयमेषः अनङ्गो मदनो अनङ्गत्वात्मनोऽङ्गराहित्यम् अद्य तव पूजावसरे ध्रुवम् खलु निश्चितमित्यर्थः । निन्दिष्यति धिक्करिष्यति । यत्

---

तुम्हारे द्वारा और भी, प्रिये ! कामदेव की पूजा में व्यापृत हाथ से स्पर्श किये जाने पर यह अशोक वृक्ष, निकले हुए दूसरे कोमल पल्लव जैसा प्रतीत हो रहा है ॥२१॥

और भी—

यह अनङ्ग (कामदेव) अपने देहरहित होने का आज अवश्य परिताप कर रहा

यदनेन न संप्राप्तः पाणिस्पर्शोत्सवस्तव ॥ २२ ॥

काञ्चनमाला—भट्टिणि अच्चिदो भअवं पज्जुणो । ता करेहि भत्तुणो उइदं पूजासक्कारम् । [ भर्त्रि ! अचितो भगवान्प्रद्युम्नः तत्कुरु भर्तुरुचितं पूजासत्कारम् ]

वासवदत्ता—तेण हि उवणेहि मे कुसुमाइं विलेवणं च । [ तेन हि उपनय मे कुसुमानि । विलेपनं च ]

काञ्चनमाला—भट्टिणि एदं सव्वं सज्जं । [भर्त्रि एतत्सर्वं सज्जम् ।]

( वासवदत्ता नाट्येन राजानं पूजयति । )

सागरिका—( गृहीतकुसुमा । ) हद्धी हद्धी । कहं कुसुमलोहोक्खित्तहिअआए अदिचिरं ज्जेव मए किदम् । ता जाव इमिणा सिन्दुवारविडवेण

---

यस्मात् अनेन मदनेन तवपाणिस्पर्शोत्सवः तवहस्तस्पर्शजनितपरमानन्दो न सम्प्राप्तः । स्पर्शस्य त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वात्, त्वचश्च शरीरमन्तरेणासद्भावादिति-भावः । स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यस्त्वचः स्यादुपकारक इति ॥ अनुष्टुब्वृत्तम् । यथा—श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् । द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोरिति ॥ २२ ॥

काञ्चनमालेति । अर्चितः पूजितः । पूजासत्कारम् पूजारूपं अर्घ्यादिरूपं सत्कारम् ।

सागरिकेति । गृहीतकुसुमा पुष्पाणि गृहीत्वेत्यर्थं । कुसुमेति । कुसुमलोभेन पुष्पाभिलाषेण उत्क्षिप्तमाकृष्टं हृदयं मनो यस्याः सा तथोक्ता । अतिचिरमति-

---

होगा, क्योंकि उसे तुम्हारे हाथ के स्पर्श का आनन्द सुख प्राप्त नहीं हुआ ॥२२॥

काञ्चनमाला—स्वामिनी ! भगवान् कामदेव का पूजन अर्चन पूर्ण हुआ । सम्प्रति आप महाराजा का उचित पूजा-सत्कार करें ।

वासवदत्ता—तो पुष्प-पाद्यादि और चन्दन मेरे पास लाओ ।

काञ्चनमाला—स्वामिनी ! यह सब सामग्री तैयार है ।

( वासवदत्ता राजा की पूजा का अभिनय करती है )

सागरिका—( पुष्प लिये हुए ) हाय धिक्कार है, हाय ! क्यों मेरे द्वारा

ओवारिअसरीरा भविअ पेक्खामि। कहं पच्चक्खो एव्व भअवं कुसुमाउहो इह पूअं पडिच्छदि अम्हाणं तादस्स अन्तेउरे उण चित्तगदो अच्चीअदी। ता अहं वि इह त्थिदा ज्जेव इमेहिं कुसुमेहिं भअवन्तं कुसुमाउहं पूअइस्सं। णमो दे भअवं कुसुमाउह अमोइदंसणो मे दाणिं तुमं भविस्ससि। दिट्ठं जं दिट्ठव्वम्। पा जाव ण कोवि मं पेक्खदि ताव ज्जेव गमिस्सम्। [हा धिक् हा धिक्। कथं कुसुमलोभोत्क्षिप्तहृदययातिचिरमेव मया कृतम्। तद्यावदनेन सिन्धुवारविटपेनापवारितशरीरा भूत्वा प्रेक्षे। (तथा कृत्वा विलोक्य सविस्मयम्।) कथं प्रत्यक्ष एव भगवान्कुसुमायुध इह पूजां प्रतीच्छति। अस्माकं तातस्यान्तःपुरे पुनश्चित्रगतोऽर्च्यते। तदहमपीह स्थितैवैभिः कुसुमैर्भगवन्तं कुसुमायुधं पूजयिष्ये। (कुसुमानि प्रक्षिप्य।) नमस्ते भगवन्कुसुमायुध अमोघदर्शनो मे इदानीं त्वं भविष्यति। (इति प्रणम्य।) दृष्टं यद् द्रष्टव्यम्। तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तावदेव गमिष्यामि।] (इति कतिचित्पदानि गच्छति)

---

विलम्बः। सिन्धुवारस्य वृक्षस्य अनोकहेन वृक्षेण वा शाखाप्रशाखाविस्तारे अपवारितशरीरा अन्तर्हितं शरीरं तनुः यस्या सा तथोक्ता। विलोक्येति। तातस्य अन्तःपुरे चित्रगतोऽर्च्यते, इह तु प्रत्यक्षीकृतरित्यर्थः। अमोघ अव्यर्थं सफलमिति यावत् दर्शनं यस्य स तथोक्तः।

---

पुष्पों से आकृष्ट होकर अत्यधिक विलम्ब किया गया? अधुना इस सिंधुवार वृक्ष से अपने शरीर को प्रच्छन्न करके देखती हूँ (वैसा करके आश्चर्य से देखकर) भगवान् कामदेव कैसे यहाँ प्रत्यक्ष ही पूजा ग्रहण कर रहे हैं? हमारे पिताश्री के अन्तःपुर में तो चित्र में बने हुए कामदेव की पूजा होती है। तो मैं भी यहाँ स्थिर रहकर इन पुष्पों से भगवान् प्रद्युम्न का अर्चन करूँगी। (फूलों को अर्पित करके) भगवान् मीनकेतन! आपको नमस्कार है। आपका दर्शन मेरे लिए सफल हो। (इस प्रकार प्रणाम करती है।) जो देखने योग्य था उसे देख लिया। अतः जब तक कोई मुझे देख न ले, उसके पूर्व ही चली जाती हूँ। (इतना कहकर कुछ पग चलती है।)

काञ्चनमाला—अज्ज वसन्तअ एहि संपद तुमं वि सोत्थिवाअणं पडिच्छ। [ आर्य वसन्तक एहि सांप्रतं त्वमपि स्वस्तिवाचनं प्रतीच्छ। ]

( विदूषक उपसर्पति । )

वासवदत्ता—( विलेपनकुसुमाभरणदानपूर्वकम् । ) अज्ज सोत्थिवाअणं पडिच्छ । [ आर्य स्वस्तिवाचनं प्रतीच्छ । ] ( इत्यर्पयति )

विदूषकः—( सहर्षं गृहीत्वा । ) सोत्थि भोदीए । [ स्वस्ति भवत्यै । ]

( नेपथ्ये वैतालिकः पठति । )

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन् ।

---

काञ्चनमालेति । साम्प्रतमिदानीम् । स्वस्तिवाचनमाभरणादि । 'स्वस्ति-भवन्तोऽधिब्रुवन्तु' 'ओम् स्वस्ति' इत्यादिवाक्यवत् ॥

वासवदत्तेति । विलेपनादिदाने इयं प्रसिद्धोक्तिः स्मर्यते —सम्पूज्य गन्ध-पुष्पाद्यैर्ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत् । धर्मे कर्मणि मङ्गल्ये सङ्ग्रामाद्भुतदर्शने ॥ इति

वैतालिकेति—वैतालिको राज्ञां कार्यबोधकः । 'वैतालिकाः बोधकराः' इत्यमरः । विविधश्चासौ तालः वितालस्तेन चरतीति वैतालिका ।

अन्वयः—सम्प्रति सायन्तने समये नभसः पारं प्रयाते रवौ अस्तापास्त-समस्तभासि ( सति ) एष नृपजनः समम् आस्थानीं सम्पतन् इन्दोः इव दृशां प्रीत्युत्कर्षकृतः उदयनस्य तव सरोरुहद्युतिमुषः पादान् आसेवितुम् उद्वीक्ष्यते॥ २३॥

अस्तेति—सम्प्रतीदानीम् । सायन्तने समये सायंकाले । नभसः गगनस्य

---

काञ्चनमाला—आर्यवसन्तक ! आओ, अधुना तुम भी स्वस्तिवाचन ग्रहण करो । ( विदूषक ग्रहण करने हेतु जाता है । )

वासवदत्ता—( पुष्प-आभरण-लेपादि देते हुए । ) आर्य ! स्वस्तिवाचन ग्रहण करो । ( इस प्रकार अर्पित करती हैं । )

विदूषक—( प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करके ) आपका कल्याण हो ।

( नेपथ्य में वैतालिक पढ़ता है )

इस समय सान्ध्य बेला में सूर्य के आकाश के पार चले जाने पर और

सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं ।
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥ २३ ॥

सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य राजानं सस्पृहं पश्यन्ती ।) कहं अअं सो राआ उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा ता परप्पेसणदूसिदं पि मे जीविदं एदस्स दंसणेण दाणि बहुमतं संवृत्तम् । [ कथमयं स राजा

---

पारं परसीमां प्रयाते गते सति, अस्ते चरमाचले अपास्ता निक्षिप्ताः समस्ताभासः प्रभा येन स तस्मिन् । एषः अयम् । नृपजनः सभाजनार्थं समागतो राजलोकः । समं युगपत् । आस्थानीं सभां सम्पतन् आगच्छन् । 'सभासमितिसंसदः । आस्थानी क्लीबमास्थानमि'त्यमरः । इन्दोश्चन्द्रस्येव । दृशां चक्षुषां प्रीत्युत्कर्षं हर्षातिशयं करोतीति तस्य उदयनस्य तन्नाम्नः, इन्दुपक्षे-उद्गच्छतः इन्दोश्चन्द्रस्येव तव सरोरुहाणां पद्मानां द्युतिं शोभां मुष्णन्ति तदधिकशोभाधारितया तन्मुद्रा विधायितया वा अपहरन्ति ये तान् पादान् चरणानि गौरवात् बहुत्वं, पक्षे-किरणान् आसेवितुम् उद्वीक्ष्यते अपेक्षते, पक्षे-ऊर्ध्वमालोकयति । अत्र पूर्णोपमालङ्कारः । यदुक्तं काव्यप्रकाशे साधर्म्यमुपमा भेदे इति ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२३॥

सागरिकेति । परिवृत्य भ्रान्त्वा । दत्ता दातुं प्रतिश्रुता । तत्परप्रेषण-

---

अस्ताचल पर अपनी सम्पूर्ण कान्ति फैला देने पर, एक साथ सभामण्डप की ओर जाता हुआ यह राजवृंद चन्द्रमा के समान नेत्रों को अत्यानन्द देने वाले आप ( उदयन ) के कमल की कान्ति को लज्जित करने वाले (पक्षा०—संकुचन करने वाली ) चरणों ( पक्षा०–किरणों ) का सेवन करने हेतु ऊपर की ओर मुख करके देख रहा है ॥२३॥

सागरिका—(सुनकर सहर्ष घूमकर राजा को साभिलाष देखती हुई) क्या यही वह राजा उदयन है, जिनको मुझे पिताश्री ने अर्पित किया है। ( लम्बी साँस लेकर ) तब अन्य की सेवा से दूषित हुआ भी मेरा जीवन इस समय धन्य हो गया है ।

उदयनो यस्याहं दत्ता तातेन । ( दीर्घं निःश्वस्य । ) तत्परप्रेषणदूषितमपि मे जीवितमेतस्य दर्शनेनेदानीं बहुमतं संवृत्तम् । ]

राजा—अये कथमुत्सवापहृतचेतोभिः सन्ध्यातिक्रमोऽप्यस्माभिर्नोपलक्षितः । सम्प्रति परिणतमहः । देवि पश्य—

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम् ।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥ २४ ॥

---

दूषितमपि अपरजनस्य भृत्यभावेन दुःस्थीकृतं मे शरीरं एतस्य राज्ञः दर्शनेन इदानीं बहुमतं धन्यं संवृत्तं जातम् । एतद्दर्शनात् पूर्वं शरीरं प्रति न तादृक् समादर आसीदिति भावः ॥

राजेति । उत्सवापहृतचेतोभिः उत्सवेन अपहृतानि आकृष्टानि चेतांसि मनांसि येषां तैः ॥ संध्यातिक्रमः संध्यायाः अतिक्रमणं समाप्तिः । उपलक्षितः अनुभूतः ।

अन्वयः—इयं प्राचीदिक् परिपाण्डुना मुखेन हृदयस्थितं प्रियं रमणीव उदयतटगिरितटान्तरितं निशानाथं सूचयति ॥२४॥

उदयेति । इयम् एषा । प्राची पूर्वादिक् दिशा । परिपाण्डुना सर्वतः पाण्डुवर्णेन । मुखेन निशानाथं चन्द्रमुदयगिरेः पूर्वपर्वतस्य तटेन क्षेत्रेण अन्तरितं व्यवहितं सूचयति अनुमापयति ॥ 'उदयः पूर्वपर्वत' इत्यमरः । यथा रमणी प्रोषितभर्तृका परिपाण्डुनामुखेन प्रियं वल्लभं हृदयस्थितं चिन्ताविषयं सूचयति तथा । असन्निहिते हि भर्तरि शोकशोषादङ्गनानामङ्गेषु पाण्डुता जायते । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिरिति ॥ अत्रोपमालङ्कारः ॥२४॥

---

राजा—अरे ! उत्सव में दत्तचित्त हमलोगों को संध्याकाल व्यतीत होने का पता भी नहीं चला । इस समय दिन समाप्त हो गया है । देवी ! देखो—

यह पूर्वदिशा, विरह के कारण पीले मुख से हृदय में अवस्थित प्रियतम को विदित कराती हुई वनिता के समान उदयाचल में अपह्नुत दिशानाथ चन्द्रमा की सूचना दे रही है ॥२४॥

देवि तदुत्तिष्ठ । आवासाभ्यन्तरमेव प्रविशावः । ( सर्वे उत्थाय परिक्रामन्ति । )

सागरिका—कधं पत्थिदा देवी । भोदु । ता अहंवि तुरिदं गमिस्सम् । हद्धी हद्धी । मन्दभाइणीए मए पेक्खिदुमपि चिरं ण पारिदो अअं जणो । [ कथं प्रस्थिता देवी । भवतु । तदहमपि त्वरितं गमिष्यामि । ( राजानं सस्पृहं दृष्ट्वा । निःश्वस्य । ) हा धिक् हा धिक् । मन्दभागिन्या मया प्रेक्षितुमपि चिरं न पारितोऽयं जनः । ]

( इति राजानं पश्यन्ती निष्क्रान्ता )

राजा—( परिक्रामन् )

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम् ।

---

देवीति । हे राजमहिषि आवासाभ्यन्तरम् गृहाभ्यन्तरम् । त्वरितं शीघ्रम् । परिक्रामन्ति भ्रमन्ति ।

सागरिकेति । मन्दभागिन्या मन्दभाग्यमस्याऽस्तीति मन्दभागिनी तया । पारितः शक्तः ।

अन्वयः—हे देवि ! पश्य शशिनः शोभातिरस्कारिणा त्वन्मुखपङ्कजेन विनिर्जितानि अब्जानि सहसा विच्छायताम् गच्छन्ति । ते परिवारवारवनितागीतानि श्रुत्वा सञ्जातलज्जा इव शनकैः मुकुलान्तरेषु लीयन्ते ।।२५।।

देवीति । हे देवि प्रिये । पश्य अवलोकयत । शशिनश्चन्द्रस्य शोभायास्तिर-

---

देवी ! तो उठने का उपक्रम करें । प्रासाद में ही चलते हैं । ( सभी उठकर चलने लगते हैं । )

सागरिका—क्या महारानीजी चल दीं । अस्तु ! तो मुझे भी शीघ्र चलना पड़ेगा । ( राजा को स्पृहा से देख कर और साँस लेकर ) हाय, हाय ! मन्दभाग्या मैं इस मनुष्य को बहुत समय तक देख भी न सकी ।

( इस प्रकार राजा को देखकर चली जाती है )

राजा—(घूमकर) देवी ! देखो-चन्द्रमा की शोभा को मलीन करने वाले

श्रुत्वा त्वत्परिवारवारवनितागीतानि भृङ्गाङ्गना
लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः सञ्जातलज्जा इव ॥ २५ ॥

( इति निष्क्रान्ताः सर्वे । )

इति मदनमहोत्सवो नाम प्रथमोऽङ्कः ।

---

स्कारिणा अनुकारिणा । तव भवत्याः । मुखमाननमेव पंकजम् कमलम् तेन । विनिर्जितानि पराजितानि न्यक्कृतानीत्यर्थः । अब्जानि कमलानि सहसा झटिति अधुनेव विगताच्छाया कान्तिर्येषां तानि तथाभूतां गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । तथा ते तव परिवाराणां परिवेष्टिकानां वारवनितानां वाराङ्गनानां गीतानि श्रुत्वा भृङ्गाङ्गनाः भ्रमर्यः सञ्जातलज्जा इव सञ्जाताल्लज्जा उत्पन्ना त्रपा यासां तथाविधा इव मुकुलानामभ्यन्तरेषु शनकैर्मन्दं प्रविशन्ति लीना भवन्तीत्यर्थः। 'अद्रुतैशनकैरि'त्यमरः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २५ ॥

इतीति । इत्युक्तौ सत्यामित्यर्थः । प्रथमोङ्कः प्रथमः परिच्छेदः । स च अखिलपात्रनिष्क्रान्तौ कार्यः । यथाह दर्पणे—

अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तित इति ॥

( इति मदनमहोत्सवो नाम प्रथमोङ्कः )

**इति डॉ० राजेश्वरकेशवशास्त्रिमुसलगाँवकरकृतायां**
**रत्नावली नाटीकायां किरणावलीसमाख्यायां**
**प्रथमाङ्कविवरणं समाप्तिमगमत् ॥**

---

तुम्हारे मुखारविन्द से तिरस्कृत कमल सहसा कान्तिहीन होते जा रहे हैं। और तुम्हारी पारिवारिक गणिकाओं के गीतों को सुनकर भ्रमरियाँ हतप्रभ होकर धीरे-धीरे कलियों के भीतर छिप रही हैं।

( सभी निकल जाते हैं )

**॥ मदनमहोत्सवनामक प्रथमाङ्क समाप्त ॥**

# द्वितीयोऽङ्कः

( ततः प्रविशति सारिकापञ्जरव्यग्रहस्ता सुसंगता । )

सुसंगता—हद्धी हद्धी । कहिं दाणिं मम हत्थे सारिआपञ्जरं णिक्खिविअ गदा मे पिअसही साअरिआ । ता कहिं पुण एणं पेक्खिस्सम् । कह एसा खु णिउणिआ इदो ज्जेव आअच्छदि । ता जाव एदं पुच्छिस्सम् । [हा धिक् हा धिक् । कुत्रेदानीं मम हस्ते सारिकापञ्जरं निक्षिप्य गता मे प्रियसखी सागरिका । तत्क्व पुनरेनां प्रेक्षिष्ये ? ( अग्रतोऽवलोक्य । ) कथमेषा खलु निपुणिकेत एवागच्छति । तद्यावदेनां प्रक्ष्यामि । ]

( ततः प्रविशति निपुणिका । )

निपुणिका—(सविस्मयम् ।) अच्चरिअं अच्चरिअं अणण्णसदिसो पभावो

---

सारिकेति । सारिकायाः पञ्जरे बन्धनगृहे व्यग्रो व्यासक्तो हस्तो यस्याः सा सारिकापञ्जरव्यग्रहस्ता । 'व्यग्रो व्यासक्त आकुले' इत्यमरः । निक्षिप्य समर्प्य एनां सागरिकां । एनां निपुणिकाम् । प्रक्ष्यामिजिज्ञासिष्ये ।

निपुणिकेति । उपलब्धोऽवगतः । वृत्तान्तो वार्ता । भर्त्र्यै देव्यै ।

---

(तत्पश्चात् सारिका के पिंजड़े को हाथ में लिये सुसंगता प्रवेश करती है)

सुसंगता—हाय धिक् हाय धिक् । इस समय मेरे हाथ में सारिका के पिंजड़े को छोड़ कर मेरी प्रिय सखी सागरिका कहाँ चली गई ? तो फिर इसे कहाँ देखूंगी । ( आगे देख कर ) क्या यह निपुणिका इधर ही आ रही है। तो इसी से पूछती हूँ ।

( तदनन्तर निपुणिका प्रवेश करती है । )

निपुणिका—( विस्मय के साथ ) आश्चर्य है, आश्चर्य है । देवता का मैं विलक्षण प्रभाव मानती हूँ । महाराजश्री का मैंने समाचार प्राप्त

मण्णे देवदाए । उवलद्धो ख मए भट्टिणो वुत्तन्तो । ता गंदुअ भट्टिणीए णिवेदइस्सम् । [ आश्चर्यमाश्चर्यम् । अनन्यसदृशः प्रभावो मन्ये देवतायाः । उपलब्धः खलु मया भर्तुर्वृत्तान्तः । तद्गत्वा भर्त्र्यै निवेदयिष्यामि । ] ( इति परिक्रामति । )

सुसंगता—( उपसृत्य ) सहि णिउणिए कहिं दाणिं तुमं विम्हओक्खित्तहिअआ विअ इह ट्ठिदं मं अवधीरिअ इदो अदिक्कामसि । [ सखि निपुणिके क्वेदानीं त्वं विस्मयोत्क्षिप्तहृदयेव इह स्थितां मामवधीर्येतोऽतिक्रामसि । ]

निपुणिका—कधं सुसंगदा । हला सुसंगदे सुट्ठुतुए जाणिदं । एदं क्खु मम विम्हअस्स कारणम् । अज्ज किल भट्टा सिरिपव्वतादो आअदस्स सिरिखण्डदासणामधेअस्स धम्मिअस्स सआसादो अकालकुसुमसंजणदोहलअं सिक्खिअ अत्तणो पडिगिहीदं णोमालिअं कुसुमसमिद्धिसोहिदं करिस्सदित्ति तह्नि एदं वृत्तान्तं जाणिदुं देवीए पेसिदम्हि । तुम उण कहिं पत्थिदा ।

---

सुसंगतेति । विस्मयेन उत्क्षिप्तमुत्तरलीकृतं हृदयं मनो यस्याः सा विस्मयोत्क्षिप्तहृदया । अवधीर्य अवज्ञाय । अतिक्रामसि गच्छसि ।

निपुणिकेति । सुष्ठु प्रशंसनीयम् । ज्ञातमनुमितम् अवगतमित्यर्थः । किलेति श्रुतवार्तायाम् । धार्मिकस्य धर्मपरायणस्य । अकालकुसुमसंजननदोहदं अकाले यत् कुसुमसंजननं पुष्पोत्पादनं तद्दोहदं तदुपयोगिद्रव्यम् । तद्गुल्मलतादीनां अकाले

---

कर लिया है । अतः अब जाकर महारानी जी को निवेदन कर देती हूँ । ( यह कह कर घूमती है । )

सुसङ्गता—( समीप पहुँचकर ) सखि निपुणिके ! इस समय आश्चर्य चकित चित्तवाली की भाँति तुम, यहाँ उपस्थित मेरा तिरस्कार करके कहाँ जा रही हो ?

निपुणिका—अरी सुसंगता कैसे ? सखि सुसङ्गते ! तुमने ठीक जान लिया । वस्तुतः मेरे विस्मय का कारण यह है कि आज महाराज उदयन

[ कथं सुसंगता। हला सुसंगते सुष्ठु त्वया ज्ञातम्। एतत्खलु मम विस्मयस्य कारणम्। अद्य किल भर्ता श्रीपर्वतादागतस्य श्रीखण्डदासनामधेयस्य धार्मिकस्य सकाशादकालकुसुमसंजननदोहदं शिक्षित्वात्मनः परिगृहीतां नवमालिकां कुसुमसमृद्धिशोभितां करिष्यतीति तदेतं वृत्तान्तं ज्ञातुं देव्या प्रेषितास्मि। त्वं पुनः कुत्र प्रस्थिता।]

सुसंगता—पिअसहिं साअरिअं अण्णेसिदुम्। [प्रियसखीं सागरिका अन्वेष्टुम्।]

निपुणिका—सहि दिट्ठा मए दे पिअसही साअरिआ गहिदचित्तफलकवत्तिआसमुग्गआ समुव्विग्गा विअ कदलीघरअं पविसन्ती। ता गच्छ तुमं। अहं पि देवीए सआसं गमिस्सम्। [ सखि दृष्टा मया ते प्रियसखी सागरिका

---

कुशलैः कृतम्। 'पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तत् क्रिये'ति शब्दार्णवः। इत्युक्तं शिवनाथशर्मणा विद्योतिनीसमाख्यायां। शिक्षित्वा ज्ञात्वा। इति पर्यन्तेन विस्मयकारणं प्रकाशितम्। तत्रेति प्रेषितेत्यनेनान्वितम्। प्रस्थिता गच्छसि।

निपुणिकेति। समुद्गकी वर्त्तिका वर्णवर्तिकाद्याधारसम्पुटकः 'समुद्गकः सम्पुटकः' इत्यमरः। चित्रफलकश्चित्रार्थं काष्ठादिपट्टकः।

प्रवेशकोऽशविशेषः। अतीतस्याकृताभिनयस्यापि श्रीकण्ठदासागमनस्य नृपतेरकालकुसुमसंजननप्रयोगशिक्षाया देव्यास्तदवगमकौतुहलस्य गृहीतचित्रोप-

---

श्रीपर्वत से समागत श्रीखण्डदास नामक तपस्वी से असमय में पुष्पोद्गम के विशेष साधन को सीखकर स्वयं अङ्गीकार की हुई नवमालिका को पुष्पसमृद्धि से सुशोभित करेंगे। इस वृत्तान्त को जानने हेतु महारानी ने मुझे यहाँ भेजा है। किन्तु तुम कहाँ जा रही हो?

सुसङ्गता—प्रिय सखी सागरिका को ढूंढने।

निपुणिका—सखी! मैंने तुम्हारी प्रियसखी सागरिका को चित्रपटट,

गृहीतचित्रफलकवर्तिकासमुद्गका समुद्विग्नेव कदलीगृहं प्रविशन्ती। तद्गच्छ त्वम्, अहमपि देव्याः सकाशं गमिष्यामि। ]

( निष्क्रान्ते। )

इति प्रवेशकः

( ततः प्रविशति गृहीतचित्रफलवर्तिका मदनावस्थां नाटयन्ती सागरिका )

सागरिका—( निःश्वस्य ) हिअअ पसीद पसीद। किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण। अण्णं च। जेण एव्व दिट्ठेण दे

---

करणसागरिकाया मदनावस्थाविर्भावस्य च भविष्यताच्च तथाविधसागरिकाप्रवेशचित्रकर्मकारणाकालिकानवमालिकाकुसुमसञ्जनानां नीचपात्रद्वयकृतनीचोक्तिप्रयोगेग निदर्शकत्वात्। रूपकनिर्माणेऽपेक्ष्यमाणः क्रमविशेषबद्धवाक्यसमुदयः तत्फलं च कथायोजनमित्यर्थः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके तथा॥

अनुदात्तोक्त्या नीचोक्त्या प्राकृतभाषयेति यावत्। अतएव भरतपादाः प्राकृत भाषाचारः प्रवेशको नाम विज्ञेय इति।

तत इति। मदनावस्थां कामपीडितदशां। नाटयन्तीं अभीनयन्तीं।

सागरिकेति। आयासमात्रफलेन आयासमात्रं क्लेशमात्रं फलं यस्य सः

---

तूलिका और पेटिका लिये अन्यमनस्क सी कदलीगृह में प्रवेश करते हुए देखा है। तब तुम वहाँ जाकर देखो। मैं भी महारानी जी के पास जाऊँगी।

( दोनों निकल जाती हैं। )

( इति प्रवेशक )

( तत्पश्चात् सागरिका हाथों में चित्रपट्ट, तूलिका लिये कामावस्था का अभिनय करती हुई प्रवेश करती है। )

सागरिका—( दीर्घश्वास लेकर ) हृदय! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो।

ईदिसो संतावो णं वड्ढदि तं एव्व पुणो वि पेक्खिदुं अहिलससित्ति अहो दे मूढदा। कहं अ अदिविसंस जम्मदो पहुदि सहसंवड्ढिदं इमं जणं परिच्चइअ खणमेत्तदंसणपरिचिदं जणं अणुगच्छन्तो ण लज्जसि। अह वा को तुह दोसो। अणङ्गसरपडणमोदेण तुए एव्वं अज्ज व्ववसिदम्। भोदु। अणङ्ग दाव उवालहिस्सं। भअवं कुसुमाउह णिज्जिअसअलसुरासुरो भविअ इत्थिआजणं पहरन्तो कध ण लज्जसि। अह वा अणङ्गोसि। सव्वहा मम मन्दभाइणीए मरणं एव्व इमिणा दुण्णिमित्तेण उवत्थिदम्। ता जाव ण को वि इह आअच्छदि ताव आलेक्खसमप्पिदं तं अहिमदं जणं पेक्खिअ जहासमीहिदं करिस्सम्। जइ वि मे अदिसद्धसेण वेवदि अअं अतिमेत्तं अग्गहत्थो तहा वि णत्थि तस्स जणस्स अण्णो दसणावाओ त्ति जहा तहा आलिहिअ णं पेक्खिस्सम्। [ हृदय प्रसीद

---

तेन। दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन दुःखेन लभ्यते असौ दुर्लभः तथाभूतस्य जनस्य प्रार्थनाया अनुबन्धेन पौनः पुन्येन। ईदृशोऽनुभूयमानः। अहो विस्मये। नृशंस क्रूरः। 'नृशंसघातकः क्रूर' इत्यमरः। जन्मतः प्रभृति जन्मकालादारभ्य। सहसंवर्धितं सहसाकं संवर्धितं पोषितं। सास्रमिति। अस्रेणाश्रुणा सह वर्तमानं सास्रम्। निर्जितसकलसुरासुरः निर्जिताः विजिताः सकला अखिलाः सुराः देवाः असुराः राक्षसाश्च येन सः। अनङ्गः कायरहितः। मन्दभागिन्याः अल्पभाग्यायाः। दुर्निमित्तेन दुस्संयोगेन। फलकमवलोकयेति। आलेख्यसमर्पितं

---

केवल दुःखद फल देने वाले इस दुर्लभ व्यक्ति की कामना का हठ करने से क्या लाभ? और भी, जिसको देखने से तुम्हारा संताप बढ़ रहा है, उसी को पुनः देखने की कामना कर रहे हो, कैसी यह तुम्हारी मूर्खता है। हे अति कठोर! जन्म लेकर एक साथ पालित-पोषित जन (अर्थात् मुझ सागरिका) को छोड़कर क्षणमात्र के दर्शन से परिचित हुए मनुष्य का अनुगमन करते हुए तुम्हें लज्जानुभव नहीं हो रहा है? अथवा, इसमें तुम्हारा क्या दोष? पुष्पधन्वा कामदेव के कामबाण के प्रहार के भय से तुमने आज ऐसा किया है। (नेत्राश्रुहोकर) ठीक है, कामदेव को उलाहना दूंगी। (हाथ जोड़कर) भगवन् प्रद्युम्न! देव-दानवों को जीतकर अबला पर प्रहार करते लज्जित क्यों

प्रसीद । किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन । अन्यच्च येनैव दृष्टेन त ईदृशः सन्तापो ननु वर्धते तमेव पुनरपि प्रेक्षितुमभिलषसीत्यहो ते मूढता । कथं चातिनृशंस जन्मतः प्रभृति सह संवर्धितमिमं जनं परित्यज्य क्षणमात्र-दर्शनपरिचितं जनमनुगच्छन्न लज्जसे । अथवा कस्तव दोषः अनङ्गशरपत-नभीतेन त्वयैवमद्य व्यवसितम् । ( सास्रम् । ) अनङ्गं तावदुपालप्स्ये । ( अञ्जलिं बद्ध्वा । ) भगवन्कुसुमायुध निर्जितसकलसुरासुरो भूत्वा स्त्रीजनं प्रहरन्कथं न लज्जसे । ( विचिन्त्य ) अथवा अनङ्गोऽसि । ( दीर्घं निश्वस्य । ) सर्वथा मम मन्दभागिन्या मरणमेवानेन दुर्निमित्तेनोपस्थितम् । ( फलकम-वलोक्य । ) तद्यावन्न कोऽपीहागच्छति तावदालेख्यसमर्पितं तमभिमतं जनं प्रेक्ष्य यथासमीहितं करिष्यामि । ( सावष्टम्भमेकमना भूत्वा नाट्येन फलकं गृहीत्वा निःश्वस्य ) यद्यपि मेऽतिसाध्वसेन वेपतेऽयमतिमात्रमग्रहस्तस्तथापि नास्ति तस्य जनस्यान्यो दर्शनोपाय इति यथातथालिख्यैनं प्रेक्षिष्ये । ] ( इति नाट्येन लिखति । )

---

चित्रितम् । अभिमतं मनोगतं । समीहितमभिलषितम् । सावष्टम्भमिति । अवष्टम्भेन आरम्भेण सह वर्तमानमित्यर्थः । अतिसाध्वसेन अतिभयेन । वेपते कम्पते । अग्रहस्तः हस्ताग्रभागः यथा तथा येन तेनापि प्रकारेण । आलिख्य चित्रयित्वा । यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ । स च पूर्वरागा-द्यात्मकश्चतुर्धा स्यात् । इत्युक्ते पूर्वरागात्मकविप्रलम्भावस्थत्वादत्र चित्रक्रियाया औचित्यम् । यदुक्तं वियोगावस्थासु प्रियजनसदृशानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वप्न समये दर्शनमपि इत्यादि ।

---

नहीं हो रहे हो ? ( सोचकर ) अथवा तुम तो शरीर रहित हो । ( दीर्घ श्वांस के साथ ) इस दुर्योग से मुझ मन्दभागिनी की मृत्यु ही अब तक तो उत्पन्न हो गई है । ( चित्रपट्ट को देखकर ) तो जब तक यहाँ कोई अन्य व्यक्ति आ नहीं जाता है तब तक चित्राङ्कित उस अभीष्ट व्यक्ति को जैसा चाहती हूँ वैसा करती हूँ । ( दुःखित मन को संयमित कर, चित्रपट्ट को उठाकर दीर्घ श्वांस लेकर ) यद्यपि अत्यन्त घबराहट के कारण मेरी अंगुलियाँ काँप रही हैं तथापि उस मनुष्य को देखने का अन्य कोई उपाय नहीं है, जैसे-तैसे चित्र बनाकर उसको देखूंगी । ( चित्रालेखन का अभिनय करती है । )

( ततः प्रविशति सुसङ्गता । )

सुसङ्गता—एदं तं कदलीघरअम् । ता पविसामि । एसा मे पिअसही साअरिआ । किं उण एसा गुरुआणुराओक्खित्तहिअआ विअ किंवि आलिहन्ती ण मं पेक्खदि । भोदु । ता जाव से दिट्ठिपहं परिहरिअ णिरूवइस्सं किं एसा आलिहदित्ति । कहं भट्टा आलिहिदो । साहु साअरिए । अह वा ण कमलाअरं वज्जिअ राअहंसी अण्णहि अहिरमदि । [ एतत्तत्कदलीगृहम् । तत्प्रविशामि ( प्रविश्याग्रतो विलोक्य सविस्मयम् । ) एषा मे प्रियसखी सागरिका । किं पुनरेषा गुरुकानुरागोत्क्षिप्तहृदयेव किमप्यालिखन्ती न मां प्रेक्षते । भवतु । तद्यावदस्या दृष्टिपथं परिहृत्य निरूपयिष्यामि किमेषाऽऽलिखतीति । ( स्वैरं पृष्ठतोऽस्याः स्थित्वा दृष्ट्वा सहर्षम् । ) कथं भर्ता लिखितः । साधु सागरिके साधु । अथवा न कमलाकरं वर्जयित्वा राजहंस्यन्यत्राभिरमते । ]

---

सुसंगतेति । कदलीगृहम् रम्भानिकुञ्जम् । गुर्व्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयेवगुरुणा महता अनुरागेण उत्क्षिप्तमाकृष्टं हृदयं यस्याः सा तथा । यावदवधारणार्थः । परिहृत्य परित्यज्य । निरूपयिष्यामि किं लिखतीति विचारयिष्यामि ।

---

( तदनन्तर सुसंगता प्रवेश करती है )

सुसंगता—यही वह रम्भा-निकुञ्ज है । तो प्रवेश करती हूँ । ( प्रवेश करके सामने देखकर आश्चर्य के साथ ) यह मेरी प्रिय सखी सागरिका है । क्यों यह अत्यधिक अनुराग से व्याकुल हृदय की तरह कुछ चित्रित करती हुई, मुझे नहीं देख रही है । ठीक है, मैं इसके दृष्टि पथ से बिलग होकर ( दृष्टि बचाकर ) देखती हूँ कि क्या यह चित्रित कर रही है । ( शनैः उसके पीछे खड़ी होकर देखकर प्रसन्नता से ) अरे यह क्या ! महाराज को चित्रित किया है । बहुत ठीक सागरिके ! बहुत ठीक । अथवा राजहंसी कमलवन को छोड़कर अन्यत्र विहार नहीं करती ।

सागरिका—आलिहिदो ख मए एसो । किं उण अणवरदणिवडन्त-बाप्फसलिलेण ण मे दिट्ठी पेक्खिदुं पभवदि । कहं पिअसही सुसंगदा । सहि इदो उवविश । [ आलिखितः खलु मयैषः । किं पुनरनवरतनिपतद्बाष्प-सलिलेन न मे दृष्टिः प्रेक्षितुं प्रभवति ( मुखमुत्तानीकृत्याश्रूणि निवारयन्ती सुसंगतां दृष्ट्वोत्तरीयेण फलकं प्रच्छादयन्ती सविलक्षस्मितम् । ) कथं प्रियसखि सुसंगता । सखि इत उपविश । ]

सुसंगता—( उपविश्य बलात्फलकमाकृष्य । ) सहि को एसो तुए एत्थ आलिहिदो । [ सखि क एष त्वयाऽत्रालिखितः । ]

सागरिका—( सलज्जम् ) । सहि पउत्तमअणमहूसवे भअवं अणङ्गो । [ सखि प्रवृत्तमदनमहोत्सवे भगवाननङ्गः । ]

---

सागरिकेति । अनवरतनिपतद्बाष्पसलिलेन अनवरतं निरन्तरं निपतता प्रवहता बाष्पसलिलेन अश्रुजलेन । किं पुनः किन्तु । प्रभवति शक्नोति । उत्तानीकृत्य आनमय्य । अश्रूणि नेत्रजलानि । निवारयन्ती दूरीकुर्वन्ती ।

सुसंगतेति । बलात् निवारयन्तीमपि सागरिकां पराभूय ।

सागरिकेति । प्रवृत्तमदनमहोत्सवे प्रवृत्त आगतो यो मदनमहोत्सवस्तस्मिन् ।

---

सागरिका—मैंने इन्हें चित्रित तो कर लिया है किन्तु निरन्तर अश्रुपात से मेरी दृष्टि इसे देखने में असमर्थ है ( मुख को ऊपर उठाकर आँसूओं को दूर करती हुई, और सुसंगता को देखकर उतरवस्त्र से चित्रफलक को आच्छादित करती हुई लजाकर हँसते हुए ) क्या प्रियसखी सुसंगता है ? सखी ! यहाँ बैठो ।

सुसंसगता—( बैठकर बलात् चित्रफलक खींचकर ) सखी ! तुम्हारे द्वारा इस पर किसका चित्र बनाया गया है ।

सागरिका—( लज्जा के साथ ) सखी ! वर्तमान में प्रवृत्त मदनमहोत्सव में भगवान् कामदेव का ।

सुसंगता—( सस्मितम् ) अहो दे णि उणत्तणं किं वुण सुण्णं विअ एदं चित्तं पडिभादि । ता अहं पि आलिहिअ रतिसणाहं करिस्सम् । [ अहो ते निपुणत्वम् । किं पुनः शून्यमिवैतच्चित्रं प्रतिभाति । तदहमप्यालिख्य रतिसनाथं करिष्यामि । ] ( वर्तिकां गृहीत्वा नाट्येन रतिव्यपदेशेन सागरिकां लिखति । )

सागरिका—( विलोक्य सासूयम् । ) सुसंगदे कीस तुए अहं एत्थ हिदा । [ सुसंगते कस्मात्त्वयाहमत्रालिखिता । ]

सुसंगता—( विहस्य । ) सहि किं अआरणं कुप्पसि । जादिसो तुए कामदेवो आलिहिदो तादिसी मए रइ आलिहिदा । ता अण्णधासम्भाविणि किं तुह एदिणा आलाविदेण । कहेहि दाव सव्वं वुत्तन्तम् । [ सखि,

---

सुसंगतेति । निपुणत्व शिक्षितत्वम् । 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिता' इत्यमरः । किं पुनः किन्तु । शून्यमिव नायिका विरहादितिभावः । रतिसनाथं रतिः कामपत्नी तद्युक्तम् । रतिव्यपदेशेन रतिच्छलेन ।

सागरिकेति । सासूयम् ईर्ष्यया सहितम् । अहं सागरिका ।

सुसंगतेति । अन्यथा सम्भाविनी अन्यप्रकारेण तत्त्वापलापेन संभावयति कल्पयति तच्छीले । अथवा अन्यथा अन्यप्रकारेण प्रकाशात् रहस्यभेदस्यादित्येवं

---

सुसंगता—( सस्मित होकर ) धन्य है तुम्हारी चातुरी ! तथापि यह चित्र सूना सा लग रहा है । इस हेतु मैं भी चित्र बनाकर इन्हें रति युक्त कर देती हूँ ( कूँची लेकर अभिनय के साथ रति के व्याज से सागरिका का चित्र बनाती है । )

सागरिका—( ईर्ष्यापूर्वक देखकर ) सुसंगता ! तुमने यहाँ मेरा चित्र क्यों बना दिया ?

सुसंगता—( हँसकर ) सखी ! क्यों निष्कारण कुपित हो रही हो ? जिस प्रकार तुमने कामदेव का चित्र बनाया उसी प्रकार मैंने रति का चित्र बना

किमकारणं कुप्यसि । यादृशस्त्वया कामदेव आलिखितस्तादृशी मया रतिरालिखिता । तदन्यथासम्भाविनि किं तवैतेनालपितेन । कथय तावत्सर्वं वृत्तान्तम् । ]

सागरिका—( सलज्जा-स्वगतम् । ) णं जाणिदम्हि पिअसहीए। पिअसहि महदी क्खु मे लज्जा । ता तहा करेसु जहा ण को बि अवरो एदं वृत्तन्तं जणेदि। [ ननु ज्ञातास्मि प्रियसख्या । ( सुसंगतां हस्ते गृहीत्वा प्रकाशम् । ) प्रियसखि महती खलु मे लज्जा । तत्तथा कुरु यथा न कोऽप्यपर एतं वृत्तान्तं जानाति । ]

सुसंगता—सहि मा लज्ज । ईदिसस्स कण्णारअणस्स अवस्सं एव्व ईदिसे वरे अहिलासेण होदव्वम् । तहवि जहा ण कोवि अवरो एदं वुत्तन्तं जाणिस्सदि तह करेमि । एदाए उण मेधाविणीए सारिआए एत्थ

---

प्रकारेण संभावयति मन्यते या सा अन्यथा संभाविनी हे तथाभूते । एतेन सकपटेन । आलपितेन वाक्प्रयोगेण ।

सागरिकेति । ननु अवधारणार्थः । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे नन्वि'त्यमरः । ज्ञाता राज्ञि सानुरागतयावगता । हस्ते हस्तावच्छेदेन गृहीत्वा आलम्ब्य । अपरः त्वदितरः ।

सुसंगतेति । कन्यारत्नस्य कन्याजातिषु श्रेष्ठायाः । जातौ जातौ यदुत्कृष्टं

---

दिया है । अत. अन्यथा सझमने वाली । तुम्हारे इस प्रलाप से क्या लाभ ? इस हेतु सम्पूर्ण वृत्तान्त कहो ।

सागरिका--( लज्जापूर्वक अपने मन में ) प्रिय सखी ने मुझे जान लिया है । ( सुसंगता का हाथ पकड़कर, प्रकट रूप में ) प्रिय सखी ! मुझे तो महती लज्जा का अनुभव हो रहा है । इसलिए वैसा करो, जिससे कोई अन्य व्यक्ति इस वृत्तान्त को न जान पाये ।

सुसंगता—सखी ! लज्जित न हो । ऐसे कन्यारत्न को अवश्य ही ऐसे ही

काअणेग होदव्वम् । कदा वि एसा इमस्स अलावस्स गहिदक्खरा भविअ कस्स वि पुरओ मन्तइस्सदि । [ सखि मा लज्जस्व । ईदृशस्य कन्यारत्नस्यावश्यमेवेदृशे वरे अभिलाषेण भवितव्यम् । तथापि यथा न कोऽप्यपर एतं वृत्तान्तं ज्ञास्यति तथा करोमि । एतया पुनर्मेधाविन्या सारिकयात्र कारणेन भवितव्यम् । कदाप्येषास्यालापस्य गृहीताक्षरा भूत्वा कस्यापि पुरतो मन्त्रयिष्यते । ]

सागरिका—ता किं दाणिं एत्थ करइस्सम् । अदोवि अहिअदरं मे संतावो बड्ढदि । [ तत्किमिदानीमत्र करिष्यामि । अतोऽप्यधिकतरं मे संतापो वर्धते । ] ( मदनावस्थां नाटयति । )

सुसंगता—(सागरिकाया हृदये हस्तं दत्त्वा ।) सहि समस्सस समस्सस ।

---

तद्रत्नमिति यादवः । वरे वरणीये । मेधाविन्या धारणावती बुद्धिः, सा अस्ति अस्याः प्रशस्ता इति । मेधाविनीति सारिकाया यथार्थं नाम । अत्र रहस्य निर्भेदे । कथमित्यपेक्षायामाह कदापीत्यादि । गृहीताक्षरा गृहीतानि शिक्षितानि अक्षराणि वर्णाः यया तादृशी । अक्षरं ब्रह्मवर्णयोरिति मेदिनी । मन्त्रयिष्यति उच्चारयिष्यति ।

सागरिकेति । अतः एतद्वृत्तान्तस्य अन्यगोचरीभावसम्भावनातः । अधिकतरं बाधनक्रिया विशेषणम् । मदनावस्थां कामजदाहम् । अत्र श्रूयते आलंकारिकाणां प्रसिद्धिः 'कामादभ्रमोऽरुचिर्दाहोह्रीनिद्राधीधृतिक्षय' इति ।

सुसंगतेति । समाश्वसिहि सज्ञां प्राप्नुहि सम्यक् सुस्थाभव इत्यर्थः ।

---

वर के प्रति अभिलाष युक्त होना चाहिए । तथापि जिससे कोई अन्य व्यक्ति यह वृत्तान्त न जाने, वैसा ही उपाय करती हूँ । किन्तु वह बुद्धिमती सारिका ( मैना ) इस ( वृत्तान्त के उद्घाटन में ) कारण हो सकती है । यह सारिका इस वार्तालाप को अक्षरशः ग्रहण करके कभी किसी के सामने बोल सकती है ।

सागरिका—तो ऐसी परिस्थिति में अब मैं क्या करूँगी ? इससे तो मेरा संताप और अधिक बढ़ रहा है । ( मदनावस्था का अभिनय करती है । )

सुसंगता—( सागरिका के वक्षःस्थल पर हाथ रखकर ) सखी ! धैर्य

जाव इमाओ दिग्घिआओ णलिणोवत्ताइं मुणालिआओ अ गिण्हिअ लहुं आअच्छामि। [सखि समाश्वसिहि समाश्वसिहि। यावदस्या दीर्घिकाया नलिनीपत्राणि मृणालिकाश्च गृहीत्वा लध्वागच्छामि।] (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च नाटयेन नलिनीपत्रैः शयनीयं मृणालैर्वलयानि च रचयित्वा परिशिष्टानि नलिनीपत्राणि सागरिकाया हृदये निक्षिपति।)

सागरिका—सहि अवणेहि इमाइं णलिणोवत्ताइं मुणालवलआइं अ। अलं एदेहिं। कीस अअरणे अत्ताणं आआसेसि। णं भणामि। [सखि अपनयेमानि नलिनीपत्राणि मृणालवलयानि च। अलमेतैः। किमित्यकारण आत्मानमायासयसि। ननु भणामि।]

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गुरुई परव्वसा अप्पा।
पिअसहि विसमं प्पेमं मरणं सरणं णवरमेक्कम्॥

---

दीर्घिकायाः वाप्याः। 'वापी तु दीर्घिका' इत्यमरः। नलिनीपत्राणि कमलिनीदलानि। लघु शीघ्रम्। नलिनीपत्रादीनां दाहनिवारकत्वात् तदुक्त्या समाश्वासनम्। शयनीयं शय्यां। परिशिष्टानि शयनीयरचनावशिष्टानि।

सागरिकेति। अपनय अपसारय। अलं एतैः नलिनीपत्रादिभिः दाहोपशमनेन। आयासयसि क्लेशयसि। भणामि कथयामि।

अन्वयः—दुर्लभजनानुरागः, लज्जागुर्वी, आत्मा परवशः। प्रियसखि! प्रेम विषमम्। (अतः) नवरं मरणम् एकं शरणं (वर्तते)॥ १॥

दुर्लभेति। दुर्लभजनानुरागः दुर्लभेदुःखेनासादनीये जने अनुरागो प्रेम विद्यते

---

रखो, धैर्य रखो। जब तक मैं इस बावड़ी से कमलपत्र और मृणालिका लेकर शीघ्र आ रही हूँ। (बाहर जाकर और पुनः प्रवेश करके अभिनयपूर्वक कमलिनी पत्रों से शय्या तथा मृणालों से कड़े बनाकर अवशिष्ट कमलपत्रों को सागरिका के वक्ष पर रखती है।)

सागरिका—सखि! इन कमल पत्रों तथा मृणाल कड़ों को दूर हटाओ। ये व्यर्थ हैं। क्यों व्यर्थ अपने को कष्ट दे रही हो? मैं कहती हूँ—

[ दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं नवरमेकम् ॥ १ ॥ ]

( इति मूर्च्छति । )

---

इत्यर्थः। विदितानुरागोऽपि राजा न मां परिग्रहीष्यति स एव हि लोकैः कृच्छ्रेणासादनीय इति भावः। ननु त्वमेव स्वयमुपगत्यात्मानमासादय तु इत्यत आह लज्जा त्रपा गुर्वी महती। तथा च वंशक्रमागतां लज्जामपहातुं न शक्नोमीति भावः। अस्तु, तर्हि स्वजन एव त्वां तस्मै दास्यति अलमावेगेनेत्यत आह--आत्मा परवशः अपरजनायत्तः न बन्धुजनायत्त इति यावत्। तथा च प्रतिपादकपित्रादिविरहान्न मां कोप्यस्मै प्रतिपादयिष्यतीति भावः। हे प्रियसखि ! हे प्रिय आलि ! प्रेम विषमं तस्मिञ्जने प्रणयसंञ्चारः अनुपयुक्तः। अतः नवरं केवलम् नास्ति श्रेष्ठमिति वा। एकं मरणं शरणं नान्यदित्यर्थः। अत्र सागरिकया मदनवेदना निवारणोपायदर्शनात् तापनं नाम प्रतिमुखसन्ध्याङ्गत्वमुक्तम्। उपायदर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् इति च तल्लक्षणात्।

इतीति। एवमुक्त्वेत्यर्थः। मूर्छति इयं मनङ्गावस्थायाः नवमीदशा। यदाह वात्सायनः 'दृङ्मनस्यङ्गसकल्पाजागरः कृशता रतिः। ह्रीत्यागोन्माद-मूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशादश'। असति प्रत्युज्जीवने मरणस्यावर्णनीयत्वात् युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं समरस्य रोधनं चैव। प्रत्यक्षाणि नवाङ्के प्रवेशके सम्बन्धेयानि इति भरतेन नाटकादौ विशेषतः प्रतिषेधाच्च अत्रैव विरहवर्णना समाप्तिः॥

---

दुर्लभ व्यक्ति के प्रति ( मेरा ) प्रेम है, लज्जा भी भारी है, और शरीर पराधीन है ! ( ऐसी परिस्थिति में मेरा ) प्रेम सङ्कटापन्न है। ( अतएव ) मात्र मरण ही ( मेरा ) सबसे बड़ा शरण है अथवा रक्षक है ॥ १ ॥

( इस प्रकार मूर्छित हो जाती है )

सुसंगता—( सकरुणम् । ) सहि साअरिए समस्सस समस्सस। [ सखि सागरिके, समाश्वसिहि समाश्वसिहि । ]

( नेपथ्ये । )

कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्

क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किंकिणीचक्रवालः ।

---

सुसंगतेति । सकरुणम् करुणया सहितम् । समाश्वासनं ददाति ।

अन्वयः—मन्दुरायाः प्रभ्रष्टः, अश्वपालैः सम्भ्रमात् अनुसृतसरणिः हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः अयं प्लवङ्गः कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयं शृङ्खलादाम अधः कर्षन् द्वाराणि क्रान्त्वा अङ्गनानां दत्तातङ्कः ( सन् ) नृपतेः मन्दिरम् प्रविशति ॥२॥

कण्ठ इति । मन्दुरायाः वाजिशालायाः अश्वशालायाः वा । 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः । अश्वपालैः अश्वरक्षिभिः । सम्भ्रमात् त्वरया त्वरावशात् वा । अनुसृतसरणिः अनुसृता अनुगता सरणिः पन्था यस्य सः । 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः । हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः हेलया अवज्ञया चलयोः गच्छतोः चरणयोः रणन्ती शब्दायमाने किङ्किणीनां क्षुद्रघण्टिकानां चक्रवाले मण्डले यस्य सः । 'हेलावज्ञाविलासयोः' इति त्रिकाण्डशेषः । 'चक्रवाले तु मण्डलम्' इत्यमरः । अयं दृश्यमानः । प्लवङ्गः वानरः । कण्ठे ग्रीवायां । कृत्तावशेषं द्विधाकुर्बन् अवशेषमवशिष्टं ( कण्ठेकृत्वा ) इति शेषः । कनकमयं सुवर्णमयं । शृङ्खलादाम बन्धनरज्जुम् । 'शृङ्खला पुंस्कटावस्त्रबन्धे च निगडे त्रिषु' इति मेदिनी । अधः भूमौ कर्षन् आकर्षन् । द्वाराणि गृहनिर्गम-

---

सुसंगता—(करुणापूर्वक) सखी सागरिके ! धैर्य धरो, धैर्य धरो ।

( नेपथ्य में )

अश्वशाला से बलपूर्वक छूट कर भागा हुआ, अश्वरक्षकों द्वारा मार्ग में महती त्वरा से अनुगमन किया जाता हुआ एवं हाव-भाव पूर्ण पादविक्षेपों से

दत्तातङ्कोऽङ्गनानामनुसृतसरणिः संभ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः ॥ २ ॥

अपि च—

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।

---

प्रवेशद्वाराणिक्रान्त्वा अतिक्रम्य अङ्गनानां स्त्रीणां । दत्तातङ्कः दत्त उत्पादितः आतङ्कः भयं येन सः । 'अपशंकास्वातङ्कः' इत्यमरः । तादृशः सन् नृपतेः राज्ञः मन्दिरम् भवनम् । प्रविशति प्रवेशं करोतीति । अत्र औचित्यविचार-चर्चाकाराः प्रकृतश्लोके भयानकरसस्य औचित्यं प्रतिपादयन्ति । तेषां मते अत्र अङ्गनानां निशितदशननखशिखोल्लेखातङ्कदानेन रुचिरौचित्यमाचकास्ति । दशरूपककाराः अत्र आरभटी वृत्तेः अवपाताख्यमङ्गमामनन्ति । कस्यचिदपि प्रवेशेन निष्क्रमणेन वा भयविद्रवादीनां स्थितिरवपातः इति । अत्र प्रवेशजन्य भयवर्णनादवपातः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । स्रग्धरावृत्तम् ॥२॥

प्रभ्रष्टवानरदर्शनादन्तः पुरसहायानां नपुंसकादीनां भयविक्रियां निर्दिशति—

अन्वयः—वर्षवरैः मनुष्यगणनाभावात् त्रपाम् अपास्य नष्टम् । अयं वामनः त्रासात् कञ्चुकिकञ्चुकस्य अन्तः प्रविशति । किरातैः पर्यन्ताश्रयिभिः ( सद्भिः ) निजस्य नाम्नः सदृशं कृतम् । कुब्जाः आत्मेक्षणाशङ्किनः ( सन्तः ) नीचतया एव शनकैः यान्ति ॥३॥

वर्षवरैरिति । वर्षवरैः अन्तःपुरचारिभिर्नपुंसकैः । 'षण्ढोवर्षवर' इत्यमरः ।

---

ध्वनित घुंघरूओं वाला यह वानर गले में टूटन से अवशिष्ट जंजीर को नीचे भूमि पर घसीटता हुआ और दरवाजों को लाँघ कर वनिताओं को आतंकित करता हुआ राजभवन में प्रवेश कर रहा है ॥ २ ॥

और भी—

नपुंसक पुरुषों में गणना न होने के कारण लज्जा छोड़कर पलायित हो

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥ ३ ॥

---

मनुष्यगणनाभावात् मनुष्येष्वगणनाभावात् त्रपां लज्जामपास्य त्यक्त्वा नष्टं पलायितम्। 'नाशः पलायने प्रोक्तो निधनानुपलम्भयोरिति' विश्वः। मनुष्याणामेव लज्जाभीरुत्वमिति भावः। अयं एषः। वामनः खर्वाकृतिः नरः। त्रासात् भयात्। कञ्चुकिकञ्चुकस्य कञ्चुकिनो अन्तःपुरवृद्धस्य कञ्चुकस्य अङ्गावरणवस्त्रस्य। अन्तः अभ्यन्तरम् प्रविशति। किरातैः किरम् प्रान्तदेशं अतन्ति गच्छन्तीति तैः अन्तःपुररक्षिभिः म्लेच्छैः। पर्यन्ताश्रयिभिः पर्यन्तं अङ्गणसीमानमाश्रयन्ते ये ते तथाभूतैः। निजस्य स्वीयस्य नाम्नः अन्तेवासिसंज्ञायाः सदृशमनुरूपं कर्मकृतम्। कुब्जाः कुब्जशरीराः आत्मेक्षणाशङ्किनः आत्मन ईक्षणं वानरकृतदर्शनमाशङ्कते ये ते तथोक्ताः सन्तः नीचतया नीचत्वेनैवहेतुना। शनकैः मन्दं मन्दं यान्ति। नीचानामेवातिभीरुत्वं नीचैः शीरसानतः स्वभावतो नीचाः कथमात्मदर्शनं नाशङ्केरन्निति भावः। वर्षवरादीनामन्तःपुर सहायत्वेन सततमङ्गणसञ्चारित्वात् तेषामेव निर्देशः कृतः। उक्तञ्च दशरूपके 'अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः। म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिन' इति। क्षेमेन्द्राचार्याः प्रकृते भयानकरसस्यौचित्यं प्रतिपादयन्ति। तेषां मते पूर्वोक्तयोः श्लोकयोः अङ्गनानां निशितदशननखशिखोल्लेखातङ्कदानेन प्रचुरतरवानराभिसरणभयसम्भ्रान्तान्तः पुरिकवृद्धवामनकिरातकुब्जादीनां पुरुषगणना विहीनतया धैर्यविरहकातराणामुचितचेष्टानुभाववर्णनया भयानकरससवादिरुचिरौचित्यमाचकास्ति' अत्र निशितदशनादीनामुल्लेखो ग्रन्थकृदुल्लिखितो मूले क्वेति न विद्मः। एवमेव वामनादिसह वृद्धस्योपात्तस्य कुत आगमः कश्चार्थं इत्यपि नावगच्छामः। अत्रापि स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ३ ॥

---

गये हैं, यह बौना भी भयवश होकर कंचुकी के अंगरखे मे घुस रहा है। किरातों ने अन्तःपुर की प्रान्तभूमि का आश्रय लेकर अपने नाम को चरितार्थ किया। (और ये) कुबड़े अपने देखे जाने की शंका से झुककर ही चुपके से चले जा रहे हैं॥३॥

सुसंगता—( आकर्ण्याग्रतोऽवलोक्य सुसम्भ्रममुत्थाय सागरिकां हस्ते गृहीत्वा ) सहि उट्ठेहि उट्ठेहि । एसो खु दुट्ठवाणरो इदो ज्जेव आअच्छदि । ता आलक्खिदं तमालविडवान्धआरे पविसिअ इमं आदिवाहेम । [ सखि, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । एष खलु दुष्टवानर इत एवागच्छति । तदलक्षितं तमालविटपान्धकारे प्रविश्यैनमतिवाहयावः ] । ( तथा कृत्वा उभे सभयं पश्यन्त्यौ स्थिते । )

सागरिका—सुसंगदे कहं तुए चित्तफलहओ उज्झिदो । कदावि कोवि तं पेक्खदि । [ सुसङ्गते कथं त्वया चित्रफलक उज्झितः । कदापि कोऽपि तं प्रेक्षते । ]

सुसंगता—अइ सुत्थिदे किं अत्त वि चित्तफलएण करिस्ससि । एसो क्खु दधिभत्तलम्पडो सारिआपञ्जरं उग्घाडिअ अवक्कन्दो दुट्ठवाणरो । मेहाविणी वि उड्डीणा एषा गच्छदि । ता एहि । लहुं अणुसरम्ह इमस्स-

---

सुसंगतेति । आकर्ण्य श्रुत्वा । ससम्भ्रमम् सत्वरम् । अलक्षितम् गुप्तभावेन । तमालविटपान्धकारे तमालस्य विटपेन शाखाप्रशाखाविस्तारेण यो अन्धकारः तस्मिन् । अतिवाहयावः यापयावः । एवम् दुष्टवानरम् ।

सागरिकेति । उज्झितः त्यक्तः ।

सुसंगतेति । अद्यापि अधुना । दधिभक्तलम्पटः तन्नामा । उद्घाट्य

---

सुसंगता—( सुनकर, सामने देखकर, हड़बड़ा से उठकर सागरिका को हाथ से पकड़ कर ), सखी ! उठो, उठो । यह दुष्ट वानर इधर ही आ रहा है । अतः तमालवृक्ष की शाखाओं के अंधकार में गुप्त रूप से रहकर इसे निकल जाने दे । ( वैसा करके दोनों भयपूर्वक देखती हुई खड़ी रहती है । )

सागरिका—सुसङ्गते ! तुमने चित्रफलक कैसे छोड़ दिया । कदाचित् कोई उसे देख ले ।

सुसंगता—अरी निश्चिन्तमना ! अब चित्रफलक लेकर क्या करोगी ? दही और भात का लोलुप यह वानर तो सारिका का पिंजड़ा खोल कर भाग

आलावस्स गहिदक्खरा कस्स वि पुरदो मन्तइस्सदि। [ अयि सुस्थिते, किमद्यापि चित्रफलकेन करिष्यसि। एष खलु दधिभक्तलम्पटो सारिकापञ्जर-मुद्घाट्यापक्रान्तो दुष्टवानरः। मेधाविन्यप्युड्डीनैषा गच्छति। तदेहि। लघ्वनुसरावः। अस्यालापस्य गृहीताक्षरा कस्यापि पुरतो मन्त्रयिष्यते। ]

सागरिका—सहि एव्वं करेम्ह। [ सखि एवं कुर्वः। ] ( इति परिक्रामतः। )

( नेपथ्ये )

ही ही भो अच्चरिअं अच्चरिअम्। [ ही ही भोः आश्चर्यमाश्चर्यम्। ]

सागरिका—( विलोक्य सभयम् ) सुसङ्गदे जाणिअदि पुणो वि सो दुट्ठ वाणरो आअच्छदित्ति। [ सुसङ्गते ज्ञायते पुनरपि स दुष्टवानर आगच्छतीति। ]

---

विवृतद्वारं कृत्वा अतिक्रान्तो गतः। मेधाविनी सारिका। उड्डीना उत्प्लुता गृहीताक्षरा गृहीतानि कण्ठीकृतानि अक्षराणि यया सा॥

नेपथ्य इति। ही ही भो आश्चर्यमाश्चर्यम्। ही ही विस्मये। ही ही शब्दो विस्मयहास्ययोरिति मेदिनी॥

---

गया। और यह मेधाविनी मैना भी उड़ी जा रही है। अतः आओ, शीघ्र ( इसका ) पीछा करें। ( नहीं तो ये ) वार्तालाप के अक्षरों को ग्रहण की हुई किसी के सामने कह देगी।

सागरिका—सखी! ऐसा ही करते हैं। (यह कहकर दोनों घूमती हैं।)

( नेपथ्य में )

अहा हा अहा हा! आश्चर्य है, आश्चर्य है।

सागरिका—(डर के साथ देखकर) सुसंगते! ज्ञात होता है कि वह दुष्ट वानर पुनः आ रहा है।

सुसङ्गता—( विदूषकं दृष्ट्वा विहस्य ) अइ काअरे मा भेहि भत्तुणो पासवत्तो अज्जवसन्तओ क्खु एसो। [ अयि कातरे मा बिभीहि। भर्तुः पार्श्ववर्ती आर्यवसन्तक. खल्वेषः। ]

सागरिका—( सस्पृहमवलोक्य। ) सहि सुसंगदे दंसणीओ क्खु अअंजणो। [ सखि सुसंगते दर्शनीयः खल्वयं जनः। ]

सुसंगता—अइ सुत्थिदे किं इमिणा दिट्ठेण। दूरे भोदि क्खु सारिआ। ता एहि। अणुसरम्ह। [ अयि सुस्थिते किमनेन दृष्टेन। दूरे भवति खलु सारिका। तदेहि। अनुसरावः। ]

( उभे निष्क्रान्ते। )

( ततः प्रविशति प्रहृष्टो विदूषकः )

विदूषकः—ही ही भो अच्चरिअं अच्चरिअम्। साहु रे सिरिखण्डदास

---

सुसंगतेति। कातरे भीरु ! अधीरे वा। 'अधीरे कातर' इत्यमरः। बिभीहि भयं कुरु। पार्श्ववर्ती नित्यसहचरः। आर्यवसन्तक—माननीयः वसणतकनामा राज्ञो वयस्यः।

सागरिकेति। दर्शनीयः द्रष्टुं योग्यः। दूरे भवति दूरवर्तिनी जायते।

विदूषकेति। साध्विति कृतमित्यध्याहर्त्तव्यक्रियाविशेषणम्। रे सम्बोधने।

---

सुसंगता—( विदूषक को देख कर हँस के ) अरि कातरहृदये ! डरो मत। यह तो स्वामी का सहचर आर्य वसन्तक है।

सागरिका—( साभिलाष देख कर ) सखी सुसंगते ! यह व्यक्ति तो दर्शनीय है।

सुसंगता—अरी सुस्थिरे ! इसे देखने से क्या लाभ ? सारिका तो दूर चली गई। अतः आओ। इसका पीछा करें।

( इस प्रकार दोनों निकल जाती हैं )

(तत्पश्चात् अति प्रसन्न विदूषक प्रवेश करता है।)

विदूषक—अहा हा, अहा हा ! आश्चर्य है, आश्चर्य है। वाह रे धर्मात्मा

धम्मिअ साहु । जेण दिण्णमेत्तेण ज्जेव्व तेण दोहएण ईदिसो णोमालिआ संवुत्ता जेण निरन्तरुब्भिण्णकुसुमगुच्छशोभिअविडवा उवहसन्तीविअ लक्खिअदि देवीपरिगहिदं माधवीलदं । ता जाव गदुअपिअवअस्सं बद्धावइस्सम् । एसो क्खु पिअवअस्सो तस्स दोहदस्स लद्धपच्चअदाए परोक्खंवि तं णोमालिअं पच्चक्खं विअ कुसुमिदं पेक्खन्तो हरिसुप्फुल्ललोअणो इदो ज्जेव आअच्छदि । ता जाव णं उवसप्पामि । [ ही ही भोः आश्चर्यमाश्चर्यम् । साधु रे श्रीखण्डदास धार्मिक साधु । येन दत्तमात्रेणैव तेन दोहदेनेदृशी नवमालिका संवृत्ता येन निरन्तरोद्भिन्नकुसुमगुच्छशोभितविटपा उपहसन्तीव लक्ष्यते देवीपरिगृहीतां माधवीलताम् । तद्यावद् गत्वा प्रियवयस्यं वर्धयिष्यामि । ( परिक्रम्यावलोक्य च । ) एष खलु प्रियवयस्यस्तस्य दोहदस्य लब्धप्रत्ययतया परोक्षामपि तां नवमालिकां प्रत्यक्षामिव कुसुमितां प्रेक्षमाणः हर्षोत्फुल्ललोचन इत एवागच्छति । तद्यावदेनमुपसर्पामि । ]

---

दत्तमात्रेण प्रयुक्तमात्रेण । दोहदेन वृक्षादीनां प्रसवकारणसंस्कारेण । येन यादृशेन भावेन । निरन्तरोद्भिन्नकुसुमगुच्छशोभितविटपाः निरन्तरमुद्भिन्नैरुद्भूतैः कुसुमगुच्छैः पुष्पस्तबकैः शोभिता विटपाः पल्लवाः यस्याः सा तथा भूता सती । 'गुच्छस्तबकहारयोः' इत्यमरः । देवीपरिगृहीतां देव्या वासवदत्तया पालितां ।

परीति । तस्य श्रीखण्डोदासोदितस्य । दोहदद्रव्य वृक्षादीनामकालप्रसवकारणद्रव्यस्य । लब्धप्रत्ययतया जातविश्वासतया परोक्षः अक्षाणामिन्द्रियाणां परः परा इति परोक्षा ताम् । 'अक्षमिन्द्रियमि'त्यमरः । हर्षोत्फुल्ललोचनः हर्षेणानन्देन उत्फुल्लं विकाशितं लोचनं यस्य स तथोक्तः ।

---

श्रीखण्डदास वाह । जिसके द्वारा प्रदत्त औषधि मात्र से शीघ्र ही 'नवमालिका ऐसी हो गई है, जिससे निरन्तर पुष्पित पुष्पों के गुच्छों से शोभित शाखाओं वाली वह मानों महारानी द्वारा अपनाई हुई माधवीलता को लज्जित करती हुई सी दिखाई दे रही है । इस हेतु चलकर प्रिय मित्र को बहुमान ( बधाई ) दे आता हूँ । ( घूमकर देखते हुए ) उस ( खण्डदास ) द्वारा प्रदत्त दोहद पर विश्वास होने के कारण उस अप्रत्यक्ष नवमालिका को प्रत्यक्ष में पुष्पित देखते हुए हर्षोत्फुल्ल नेत्रोंवाले ये प्रिय इधर ही आ रहे हैं । तो इनके पास चलता हूँ ।

( ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा । )

राजा—( सहर्षम् । )

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः ।

अन्वयः—क्षणात् उद्दामोत्कलिकाम् प्रारब्धजृम्भाम् विपाण्डुररुचम्, अविरतैः श्वसनोद्गमैः, आत्मनः आयासम् आतन्वतीम्, इमाम् उद्यानलताम्, समदनाम् अन्याम् नारीम् इव पश्यन् अहम् अद्य ध्रुवम् देव्याः मुखम् कोपविपाटलद्युतिम् करिष्यामि ॥४॥

उद्दामेति। क्षणात् सद्यःएव। उद्दामोत्कलिकां उद्दामा उद्गता उत्कलिकां ऊर्ध्वमुखाः कलिकाः कोरका यस्याः सा ताम्। नारीपक्षे—उद्दामा अनिवार्या उत्कलिका उत्कण्ठा यस्याः सा ताम्। 'उत्कण्ठोत्कलिका समे' इत्यमरः। प्रारब्धजृम्भाम् प्रारब्धः प्रवर्तितो जृम्भो विकाशः यस्याः सा ताम्। नारीपक्षे—प्रारब्धा प्रकान्ता जृम्भणं यया सा ताम्। विपाण्डुररुचम् विपाण्डुरा पाण्डुवर्णा रुक् रुचिर्यस्याः सा ताम्। नारीपक्षेऽपि तथैव। नवमालिकायाः पुष्पोद्गमात् तथा च नार्यास्तु भवेद्व्याधिस्तथाष्टमे इति भरतोक्ताष्टमदनावस्थत्वात् पाण्डुवर्णत्वम्। तथा च दर्पणे 'व्याधिस्तु दीर्घनिश्वासपाण्डुताकृशतादय' इति। अविरतैः अनवरतैः। श्वसनोद्गमैः अनिलोद्गमैः हेतुभिः, नारीपक्षे निश्वासप्रवाहैः। आत्मनःस्वस्याः। आयासम् खेदम्। आतन्वतीम् प्रकाशयन्तीम्। इमाम् दृश्यमानाम्। उद्यानलताम् नवमालिकां। समदनां मदनेन वसन्तसमयेन सहवर्तमानां, नारीपक्षे-कामेन सह वर्तमानां। अन्यां नारीम् इव इमामुद्या-

( तत्पश्चात् यथोक्त दशा में राजा प्रवेश करता है )

राजा—( हर्षित होकर )

क्षण भर में प्रस्फुटित कलियों से युक्त (नारी पक्ष में—अतिशय उत्कंठित) उसी समय विकसित होती हुई (पक्षा—जम्हाई लेती हुई), कलियों के कारण श्वेत वर्ण ( पक्षा—पाण्डुरवर्ण ) और निरन्तर प्रवाहित वायु के कारण

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥४॥

---

नलतां नवमालिकां पश्यन् वीक्षमाणः। अहं, देव्याः वासवदत्तायाः मुखं। कोपविपाटलद्युति कोपेन विपाटला अतिपाटलवर्णा द्युतिः कान्तिर्यस्य तत् तथाभूतं करिष्यामि। मत्परिगृहीतनवमालिकया अकालपुष्पप्रसवशोभाति- रेकेण देव्या परिगृहीताया माधवीलतायाः न्यक्कारादिति भावः। तादृश- नायिकान्तरदर्शनेन देव्याः मुखं तादृशं भवति इति उपमा निवेशेन अनन्तरं राज्ञः सागरिका दर्शनमपि सूचितम्। अत्र उद्दामोत्कलिकामित्यादीनां विशेषणानां लतापक्षे नायिका पक्षे च तुल्यत्वात् लतावृत्तान्तेन नायिकावृत्तान्तेन च सूचितः। तेनैतत् तुल्यविशेषणैः समासोक्त्या सूचितं पताकास्थानकमिति। यदाह दशरूपककारः "पताकास्थानकं तुल्यसंविधान विशेषणं।" ध्वन्या- लोककाराः अत्र उपमाश्लेषस्य, रसस्य प्रमुखीभावदशायां ग्रहणमामनन्ति। तद्यथा—उद्दामा उद्गताः कलिका यस्याः। उत्कलिकाश्च उत्कण्ठा। क्षणात्तस्मिन्नेवावसरे प्रारब्धा जृम्भा विकासो यया। जृम्भा च मन्मथ- कृतोऽङ्गमर्दः। श्वसनोद्गमैः वसन्तमारुतोल्लासैः आत्मनो लतालक्षणस्यायाा- समायासनमान्दोलनयत्नमातन्वतीम्। निःश्वासपरम्पराभिश्चात्मन आयासं हृदयस्थितं संतापमातन्वतीं प्रकटीकुर्वाणाम्। सह मदनाख्येन वृक्षविशेषेण मदनेन कामेन च। अत्र उपमाश्लेष ईर्ष्याविप्रलम्भस्य भाविनो मार्गपरिशोधक- त्वेन स्थितस्तच्चर्वणाभिमुख्यं कुर्वन्नवसरे रसस्य प्रमुखीभावदशायां पुरस्सराय- माणो गृहीत इति भावः। शार्दूलविक्रीडितंवृत्तम् ॥ ४ ॥

---

विकम्पित होती हुई (पक्षां—निरन्त श्वास वायु से आयास प्रकट करती हुई)

मदन से युक्त ( पक्षां—मदन नामक वृक्ष से लिपटी हुई ) परकीया नारी की

भांति इस उद्यान लता को देखता हुआ मैं आज निश्चित ही देवी (वासवदत्ता)

के मुख को क्रोध से लाल कर दूँगा ॥४॥

तद्वृत्तान्तमुपलब्धुं गतो वसन्तकोऽद्यापि नायाति ।

विदूषकः—( सहसोपसृत्य ) जअदु जअदु पिअवअस्सो । भो वअस्स दिट्ठुआ वड्ढसि । [ जयतु जयतु प्रिय वयस्यः । भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे । ] ( जेण दिण्णमेत्तेण ज्जेव तेण दोहएण ईदिसी णोमालिआ संवुत्तेत्यादि पठति । )

राजा—वयस्य कः सन्देहः अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः । पश्य—

कण्ठे पुरुषोत्तमस्य समरे दृष्ट्वा मणिं शत्रुभि-
र्नष्टं मन्त्रबलाद्वसन्ति वसुधामूले भुजङ्गा हताः ।

---

विदूषकेति । सहसा अतर्कितम् । 'अतर्किते तु सहसे'त्यमरः । दिष्ट्या आनन्दसूचकम् । 'दिष्ट्या समुपजोषश्चेत्यानन्दे'इत्यमरः । वर्द्धसे अभ्युदयवानसि । 'वृद्धिरभ्युदयोऽस्त्रियामि'त्यमरः । जेणेत्यादि । येन दत्तमात्रेणैव तेन दोहदेन इत्यादि पुनः पुनः पठति ।

राजेति । अचिन्त्यो अनिर्वचनीयः । प्रभावः शक्तिः । मणिमन्त्रौषधीनामचिन्तनीयप्रभावं दर्शयति पश्येति ।

अन्वय :—समरे श्रीपुरुषोत्तमस्य कण्ठे मणिं दृष्ट्वा शत्रुभिः नष्टम् । मन्त्रबलात् हताः भुजङ्गाः वसुधामूले वसन्ति । पूर्वं ये लक्ष्मणवीरवानरभटाः मेघनादाहताः ते अपि गुणनिधेः महौषधेः गन्धं पीत्वा पुनः जीविताः ॥५॥

कण्ठ इति । समरे युद्धे । श्रीपुरुषोत्तमस्य जनार्दनस्य । कण्ठे ग्रीवायाम् ।

---

उसी समाचार को ज्ञात करने के लिए गया हुआ वसन्तक अभी तक नहीं आया है ।

विदूषक—( अकस्मात् पास पहुँचकर ) प्रिय मित्र की जय हो, जय हो । हे मित्र ! सौभाग्य की अभिवृद्धि हेतु आपको शुभकामना । ( क्योंकि जिसके द्वारा उस दोहद को देने मात्र से नवमालिका ऐसी हो गई इत्यादि पढ़ता है । )

राजा—मित्र ! ( इसमें ) क्या संदेह है ? मणि, मन्त्र तथा औषधियों का प्रभाव अचिन्तनीय होता है । देखो—

युद्ध में भगवान् विष्णु के गले में मणि को देखकर शत्रु पलायित हो गए ।

पूर्वं लक्ष्मणवीरवानरभटा ये मेघनादाहताः
पीत्वा तेऽपि महौषधेर्गुणनिधेर्गन्धं पुनर्जीविताः ॥ ५ ॥

तदादेशय मार्गं येन वयमपि तदवलोकनेन चक्षुषः फलमनुभवामः ।

विदूषकः—( साटोपम् ) एदु एदु भवं । [ एत्वेतु भवान् । ]

---

मणि कौस्तुभमणि । दृष्ट्वा अवलोक्य । शत्रुभिः अरिभिः नष्टं पलायितम् । भुजङ्गाः सर्पाः मन्त्रबलात् मन्त्रप्रभावात् । हताः पराभूताः । सन्तो वसुधामूले भूतले वसन्ति वासं कुर्वन्ति । तथा पूर्वं रामरावणसमरावसरे । ये लक्ष्मण-वीरवानरभटाः वानरा एव भटाः, वीराः वानरभटाः, लक्ष्मणश्च वीरवानर-भटश्च । मेघनादाहताः मेघनादेन रावणात्मजेन हताः शक्त्या अस्त्रेण ताडिता-स्तेपि । गुणनिधेः गुणाः उज्जीवनप्रभृतिशक्त्यो निधीयन्ते यस्याः । तस्या महौषधेः विशल्यकरण्यादेः । तथा च रामायणे हनूमन्तं प्रति पूर्वन्तु कथितो योऽसौ वीरजाम्बवता तव । दक्षिणेशिखरे जातां महौषधिमिहानय । विशल्य-करणी नामा सावर्ण्यकरणी तथा । संजीवकरणीं वीर सन्धानीञ्च महौषधीमिति । गन्धम् आमोदम् । पीत्वा आघ्राय । पुनर्जीविताः मृतप्राया अपि उत्थिताः । रामायणे विशल्यः समाघ्राय लक्ष्मणः परवीरहा । विशल्योविरूजः शीघ्र-मुदतिष्ठन्महीतलादिति । अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

तदिति । चक्षुषः फलम् रम्यवस्तुदर्शनजनितं सुखम् ।

विदूषकेति । साटोपं आवेशेन सहितं यत्नेनेति यावत् । आवेशाटोप-संरम्भा इति त्रिकाण्डशेषः ।

---

गारूडी मन्त्रों के प्रभाव से निर्वीर्य अवस्था को प्राप्त हुए सर्प पाताल में निवास करते हैं । प्राचीनकाल में मेघनाद द्वारा जो लक्ष्मण एवं सुग्रीवादि वानरयोद्धा आहत हुए थे, वे भी गुणों की निधि संजीवनी औषधि को सूंघकर पुनः जीवित हो उठे थे ॥ ५ ॥

इसलिए मार्ग बताओ, जिससे हम लोग भी उस ( नवमालिका ) को देखकर नेत्रों को सफल बनायें ।

विदूषक—( गर्व के साथ ) आप आइए, आइए ।

राजा—गच्छाग्रतः।

( उभौ सगर्वं परिक्रामतः )

विदूषकः—( आकर्ण्य सभयं परावृत्य राजानं गृहीत्वा ससम्भ्रमम्। ) भो वअस्स एहि पलाअम्ह। [ भो वयस्य एहि पलायावहे। ]

राजा—किमर्थम्।

विदूषकः—एअस्सि वउलपाअवे कोवि भूदो पडिवसदि। [ एतस्मिन्बकुलपादपे कोऽपि भूतः प्रतिवसति। ]

राजा—धिङ् मूर्ख! विस्रब्धं गम्यताम्। कुत ईदृग्विधानामत्र प्रभावः।

---

उभाविति। राजाविदूषकावित्यर्थः।

विदूषकेति। भो एतस्मिन् बकुलपादपे कोपि भूतः पिशाचादिः प्रतिबसति।

राजेति। धिगिति निर्भर्त्सने। विस्रब्धं न भूत एवेति विश्वास युक्तं यथास्यात्तथा। ईदृग्विधानाम् भूतपिशाचादीनाम्। अत्र मदालये।

---

राजा—आगे चलो।

( दोनों गर्व के साथ घूमते हैं )

विदूषक—( सुनकर, भय के साथ लौटकर, राजा को पकड़ कर घबराहट के साथ ) हे मित्र! आओ, भाग चलते हैं।

राजा—किस कारण?

विदूषक—इस मोलसिरी के वृक्ष पर कोई भूत रहता है।

राजा—अरे मूर्ख! निर्भीक होकर चलो। यहाँ भूत-पिशाचादिकों का प्रभाव कहाँ से सम्भव है।

विदूषकः—भो एसो क्खु फुडक्खरं एव्वं मन्तेदि । ता जइ मम वअणं न पत्तिआअसि ता अग्गदो भविअ सअं एव्व दाव आअण्णेहि । [ भोः एषः खलु स्फुटाक्षरमेव मन्त्रयते । तद्यदि मम वचनं न प्रत्येषि तदग्रतो भूत्वा स्वयमेव तावदाकर्णय । ]

राजा—( तथा कृत्वा श्रुत्वा च । )

स्पष्टाक्षरमिदं यस्मान्मधुरं स्त्रीस्वभावतः ।
अल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मन्ये वदति सारिका ॥ ६ ॥

( ऊर्ध्वं निरूप्य ) कथं सारिकैवेयम् ।

---

विदूषकेति । स्फुटाक्षरम् स्फुटं व्यक्तमक्षरं वर्णो यत्र तत् । प्रत्येषि—विश्वसिसि । अग्रतः पुरः स्थितः ।

अन्वय :—यस्मात् इदं स्पष्टाक्षरं स्त्रीस्वभावतः मधुरम् । अल्पाङ्गत्वात् अनिर्ह्रादि ( तस्मात् ) सारिका वदति ( इति ) मन्ये ॥ ६ ॥

स्पष्टेति । यस्मात् यतः । इदम् एतत् । स्पष्टाक्षरं सुव्यक्तवर्णं । तथा स्त्रीस्वभावतः नारीस्वभावात् । मधुरं । तथा अल्पाङ्गत्वात् क्षुद्रपक्षित्वात् । अनिर्ह्रादि मृदुस्वरमिदं तावत् सारिका वदति इत्यहं मन्ये सम्भावयामि ॥ अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तं ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वमिति । ऊर्ध्वं उपरिष्टादित्यर्थः । निरुप्य अवधार्य ।

कथमित्यादि । कथं सत्यमेव सारिका ॥

---

विदूषक—अरे ! यह तो स्पष्ट अक्षरों में ही बोल रहा है । इस हेतु यदि तुम्हें मेरी बातों पर विश्वास नहीं है तो आगे आकर स्वयं ही सुन लो ।

राजा—(वैसा करके तथा सुनकर)

जिस कारण से यह ( वचन ) सुव्यक्त अक्षरों वाला है, स्त्री स्वभाव से ( सम्पृक्त होने के कारण ) मधुर हैं तथा लघुकाय अंगों से निकलने के कारण मन्द हैं, (उससे) मैं समझता हूँ कि सारिका बोल रही है ॥६॥

(ऊपर देखकर) क्या यह सारिका (मैना) ही है ।

विदूषकः—( ऊर्ध्वमवलोक्य । ) आः कथं सच्चं एव्व सारिआ । आः दासीएधीए किं तुए जाणिदं सच्चं ज्जेव्व वसन्तओ भाअदित्ति । ता चिट्ठ मुहुत्तअम् । जाव इमिणा पिसुणजणहिअअकुडिलेण दण्डकट्ठेण परिपक्कं विअ कइत्थफलं इमादो वउलपाअवादो आहणिअ भूमीए तुमं पाडइस्सं । [ आः कथं सत्यमेव सारिका । ( सरोषं दण्डकाष्ठमुद्यम्य । ) आः दास्याः पुत्रि किं त्वया ज्ञातं सत्यमेव वसन्तको बिभेतीति । तत्तिष्ठ मुहूर्त्तम् । यावदनेन पिशुनजनहृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन परिपक्वमिव कपित्थफलमस्माद् बकुलपादपादाहत्य भूमौ त्वां पातयिष्यामि । ] ( इति हन्तुमुद्यतः । )

राजा—(निवारयन्) मूर्ख किमप्येषा रमणीयं व्याहरति । तत्किमेनां त्रासयसि । शृणुवस्तावत् ।

---

विदूषकेति । दण्डकाष्ठं काष्ठमयदण्डम् । आ इति कोपे । 'आस्तु स्याव कोपपीड़योरि'त्यमरः । दास्याः पुत्रीति सम्बोधनमपकर्षसूचकम् । पिशुनजनहृदयकुटिलेन पिशुनजनस्य खलजनस्य हृदयं मन इव कुटिलं वक्रं तेन । 'पिशुनो दुर्जनः खल' इत्यमरः । परिपक्वं कपित्थफलमिव पक्वं कपित्थफलं यथा आहितमात्रेणैवायासं विना भूमौ पातयति तथेत्यर्थः ।

राजेति । व्याहरति वदति । किं कथम् ।

---

बिदूषक—( ऊपर देखकर ) आऽऽ ! क्या सत्य ही यह सारिका है ? (क्रोधपूर्वक डंडा उठाकर) आऽऽ ! दासी पुत्री ! क्या तूने समझा कि वसन्तक सत्य में डर रहा है । तो क्षण भर ठहर । दुर्जन के हृदय के समान बक्र इस डंडे से मारकर पके हुए कठबेल के समान तुझे इस मौलसिरी के पेड़ से धरती पर गिराता हूँ ।

( यह कहकर मारने को उद्यत होता है । )

राजा—(रोकते हुए) मूर्ख ! यह कुछ रमणीय बात कह रही है । अतः इसे क्यों डरा रहे हो ? सुनें तो ।

( उभावाकर्णयतः । )

विदूषकः—( आकर्ण्य । ) भो वअस्स सुदं तुए जं एदाए मन्तिदं । एसा भणादि सहि को एसो तुए एत्थ आलिहिदो । सहि पउत्तमअण-महूस्सवे भअवं अणङ्गोत्ति । पुणोवि एसा भणादि सहि कीस तुए अहं एत्थ आलिहिदा । सहि किं अआरण कुप्पसि । जादिसो तुए कामदेओ आलिहिदो तादिसी मए रइ आलिहिदेत्ति । ता अण्णधासम्भाविणि किं तुए एदिणा आलविदेण । कहेहि सव्वं वृत्तन्तम् । भो वअस्स किं ण्णेदम् ।

[ भो वयस्य श्रुतं त्वया यदेतया मन्त्रितम् । एषा भणति सखि क एष त्वयात्रालिखितः । सखि प्रवृत्तमदनमहोत्सवे भगवाननङ्ग इति । पुनरप्येषा भणिति सखि कस्मात्त्वयाहमत्रालिखिता । सखि किमकारणं कुप्यसि । यादृशस्त्वया कामदेव आलिखितस्तादृशी मया रतिरालिखितेति । तदन्यथासम्भाविनि किं तवैतेनालापतेन । कथय सर्वं वृत्तान्तम् । भो वयस्य किं न्विदम् ।

---

विदूषकेति । प्रवृत्तमदनमहोत्सवे प्रवृत्तः प्रचलितः यो मदनमहोत्सवः वसन्तोत्सवः तस्मिन् । अकारणं कारणेन विना । रतिः कामपत्नी । आलिखितः चित्रितः । सखिकस्मादित्यादि सागरिकावाक्यम् । सखि किमित्यादि सुसङ्गता वाक्यम् सारिका पठति । भो इत्यादि आदिवन्ते च विदूषक वाक्यम् ।

---

( दोनों सुनते हैं । )

विदूषक—( सुनकर ) मित्र ! सुना तुमने, जो इसने कहा ? यह कहती है—'सखी ! तुमने यहाँ किसका चित्र आलेखित किया है ? सखी ! वर्तमान में प्रवृत्त मदनमहोत्सव में भगवान् अनङ्ग का ।' फिर यह कहती है—'सखी ! यहाँ तुमने मुझे चित्रित क्यों किया है ? सखी ! क्यों अकारण कुपित हो रही हो ? जैसा तुमने कामदेव का चित्र बनाया वैसे ही मैंने रति को चित्रित किया है । इसलिए हे कुछ का कुछ समझने वाली ! तुम्हारे इस प्रलाप से क्या लाभ ! सम्पूर्ण वृत्तान्त कहो ।' हे मित्र ! यह क्या है ?

राजा—वयस्यैवं तर्कयामि। कयापि हृदयवल्लभोऽनुरागादालिख्य-कामदेवव्यपदेशेन सखीपुरतोऽपह्नुतः। तत्सख्याऽपि प्रत्यभिज्ञाय वैदग्ध्यादसावपि तत्रैव रतिव्यपदेशेनालिखितेति।

विदूषकः– (छोटिकां दत्त्वा।) भो वअस्स जुज्जसि। एवं क्खु एदं। [ भो वयस्य युज्यते। एवं खल्वेतत्। ]

राजा—वयस्य तूष्णीं भव। पुनरप्येषा व्याहरति।

विदूषकः—भो एसा भणादि सहि मा लज्ज। ईदिसस्स कण्णार-अणस्स अवस्सं एव्व ईदिसे वरे अहिलासेण होदव्वम्। भो वअस्स जा एसा आलिहिदा सा क्खु कण्णा दंसणीआ।

[ भो एषा भणति सखि मा लज्जस्व। ईदृशस्य कन्यारत्नस्यावश्यमेवेदृशे वरेऽभिलाषेण भवितव्यम्। भो वयस्य यैषाऽऽलिखिता सा खलु कन्या दर्शनीया। ]

---

राजेति। तर्कयामि अनुमिनोमि। हृदयवल्लभो मनःप्रियः। प्रत्यभिज्ञाय आलिखितं जनममुकोयमिति निश्चित्य। वैदग्ध्यात् लिपिनैपुण्यात्। असावपि स्वप्रियसख्यपि। तत्रैव तस्मिन्नेव।

विदूषकेति। छोटिकामङ्गुलिशब्दम्।

राजेति। तूष्णीं मौनभावं प्राप्नुहि।

विदूषकेति। मालज्जस्व लज्जां मा कुरु।

---

राजा—मित्र! मेरा विचार यह है कि किसी (प्रेयसी) ने प्रेमवश अपने वल्लभ (प्रियतम) का चित्र बनाकर ( उसे ) सखी के सामने कामदेव के व्याज से छिपा दिया। तो उसकी सखी ने ( रहस्य को ) जानकर बड़ी निपुणता से वहीं उसका भी चित्र रति के व्याज से बना दिया।

विदूषक–(चुटकी बजाकर) मित्र! सम्यक् प्रतीत होता है। ऐसा ही है।

राजा—मित्र! शान्त रहो। यह पुनः कुछ बोल रही है।

विदूषक—अरे! यह कह रही है—'सखी! लज्जा न करो। ऐसे कन्या रत्न को अवश्य ऐसे वर में अभिलाषा होनी चाहिए। मित्र! जो इस प्रकार चित्रित की गई है वह तो निश्चय ही देखने योग्य होगी।

राजा—यद्येवमवहितौ श्रृणुवस्तावत् । अस्त्यत्रावकाशो नः कुतूहलस्य ।

( इत्युभावाकर्णयतः । )

विदूषकः—भो वअस्स सुदं तुए जं एदाए मन्तिदम् । सहि अवणेहि इमाइं णालणीवत्ताइं मुणालवलआइं अ । अलं एदिणा । कीस अआरणे अत्ताणं आआसेसि ।

[ भो वयस्य श्रुतं त्वया यदेतया मन्त्रितम् । सखि अपनयेमानि नलिनीपत्राणि मृणालवलयानि च । अलमेतेन । कथमकारण आत्मानमायासयसि । ]

राजा—वयस्य न केवलं श्रुतमभिप्रायोऽपि लक्षितः ।

---

राजेति । यदि एवं यदि सा कन्यादर्शनीयेत्यर्थः । अवहितौ साभिनिवेशौ । अत्र कन्यारत्ने नो अस्माकं कौतूहलस्य दर्शनाभिलाषस्य अवकाशो अवसरो अस्ति । रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात् कुतूहलमिति ।

विदूषकेति । अपनय अपसारय । मृणालवलयानि कमलमूलनिर्मितानि कङ्कणानि । आयासयसि खिन्नां करोषि ।

राजेति । स्मरदशोपस्थितौ कामजदाहोपशमनाय अस्या अङ्गेषु सख्या अर्पितानि नलिनीपत्रादीनि दाहं न शमयन्तीति भावः । लक्षितोऽनुमितः ।

---

राजा—यदि ऐसी बात है तो हम दोनों सावधान होकर सुनें । हमारे कुतूहल का यहाँ अवसर है ।

( ऐसा कहकर दोनों सुनते हैं । )

विदूषक—मित्र ! तुमने सुना, जो इसने कहा । 'सखी ! इन कमल पत्रों एवं मृणाल कङ्कणों को दूर करो । यह सब व्यर्थ हैं । अकारण अपने को क्यों थका रही हो ?

राजा—मित्र ! केवल सुना ही नहीं, अपितु अभिप्राय भी समझ लिया ।

विदूषकः—भो मा तुमं पण्डिअव्वमव्वं उव्वह। अहं दे एदाए मुहादो सुणिअ सव्वं वाक्खाणइस्सम्। ता सुणम्ह; अज्ज वि कुरकुराअदि एव्व एसा सारिआ दासीएधीआ।

[ भो मा त्वं पाण्डित्यगर्वमुद्वह। अहं तु एतस्या मुखाच्छ्रुत्वा सर्वं व्याख्यास्यामि। तच्छृणुवः। अद्यापि कुरकुरायत एव एषा सारिका दास्याः पुत्री। ]

राजा—युक्तमभिहितम्। ( पुनराकर्णयतः। )

विदूषकः—भो वअस्स एसा वखु सारिका दासीएदुहिदा चतुव्वेदो बम्हणो विअ रिचाइं पढिदुं पवुत्ता।

[ भो वयस्य एषा खलु सारिका दास्या दुहिता चतुर्वेदी ब्राह्मण इव ऋचः पठितुं प्रवृत्ता। ]

---

विदूषकेति। पाण्डित्यगर्वं पाण्डित्याभिमानम्। व्याख्यास्यामि प्रकाशयिष्यामि। इति एतत्परमित्यर्थः।

राजेति। युक्तमुचितम्। अभिहितमुक्तम्।

विदूषकेति। चत्वारो वेदा ऋग्यजुः सामाथर्वाणः सन्त्यस्येति चतुर्वेदी अधीतचतुर्वेद इति यावत्। ऋचः तेषामृक् यत्रार्थवशेनपादव्यवस्थितिरिति जैमिन्युक्तलक्षणान् वैदिकमन्त्रान्।

---

विदूषक—अरे! तुम विद्वत्ता का गर्व मत करो। मैं तो इसके मुख से सुनकर ही सबकी व्याख्या कर दूँगा। आओ सुने। अभी भी यह दासी पुत्री कूजन कर ही रही है।

राजा—(तुमने) ठीक कहा। ( पुनः दोनों सुनते हैं )

विदूषक—मित्र! यह दासी पुत्री सारिका त्रयीविद् ब्राह्मण के समान ऋचाएँ पढ़ने लगी है।

राजा—वयस्य कथय किमप्यन्यचेतसा मया नावधारितं किमनयोक्तमिति ।

विदूषकः—भो एदाए पडिदम् । [ भो एतदेतया पठितम् । ]

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गुरुई परव्वसो अप्पा ।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवरमेक्कम् ॥ ७ ॥

[ दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं न वरमेकम् ॥ ७ ॥ ]

राजा—( सस्मितम् ) साधु भवन्तं महाब्राह्मणं मुक्त्वा कोऽन्य एवमृचामभिज्ञः ।

विदूषकः—तदो किं णु क्खु एदं । [ ततः किं नु खल्विदम् । ]

---

राजेति । अन्यचेतसा अन्यस्मिन् विषये चतो मनो यस्य स तेन । नावधारित ननिरूपितम् । दुर्लभजनानुरागेति इत्यस्य व्याख्या तु द्वितोयाङ्कस्य प्रथमश्लोकव्याख्यायां द्रष्टव्या ।

राजेति— ऋचाम् मन्त्राणाम् । मुक्त्वा वर्जयित्वा । भवन्तं विनेत्यर्थः ।

विदूषकेति—राजवाक्यभङ्ग्या नैषा ऋगिति प्रतिपादितत्त्वादाह तदोत्यादि । तदा कि नु इदम् । यदोयं न ऋक् तदेत्यर्थः ।

---

राजा—मित्र ! करो व्याख्या । अन्यमनस्क होने के कारण मैं यह न जान सका कि इसने क्या कहा ।

विदूषक—मित्र ! इसने यह कथन किया है 'दुर्लभ मनुष्य से प्रेम करती हूँ, लज्जा अधिक है और आत्मा पराधीन है । हे सखी ! (ऐसी परिस्थिति में) प्रेम करना अपराध है । अब तो मृत्यु ही एकमात्र शरण है' ॥७॥

राजा—( हँसकर ) मित्र ! साधु, आप महाब्राह्मण के व्यतिरिक्त दूसरा कौन ऐसो ऋचाओं का ज्ञाता है ।

विदूषक—तब यह क्या है ?

राजा—ननु गाथेयम्।

विदूषकः—किं गाथा। [ किं गाथा। ]

राजा—कयापि श्लाघ्ययौवनया प्रियतममनासादयन्त्या जीवित-निरपेक्षयोक्तम्।

विदूषकः—( उच्चैर्विहस्य ) भो किं एदेहिं वक्कभणिदेहि। उज्जुअं एव्व किं ण भणासि जहा मं अणासादअन्तीएत्ति। अण्णहा को अण्णो कुसुमचावव्ववदेसेण एवं णिण्हवीअदि।

[ भोः किमेतैर्वक्रभणितैः। ऋज्व्वेव किं न भणसि यथा मामनासादयन्त्येति। अन्यथा कोऽन्यः कुसुमचापव्यपदेशेनैवं निह्नूयते। ] ( हस्ततालं दत्वोच्चैर्विहसति। )

---

राजेति। गाथा गाथिका। तल्लक्षणं पूर्वमुक्तम्।

विदूषकेति। किं गाथा तदा किं कथ्यताम्। किं कथ्यताम् एतेन किमुक्तं तत् कथ्यतामित्यर्थः।

राजेति। श्लाघ्ययौवनया श्लाघ्यं प्रशस्यं यौवनं यस्याः सा श्लाघ्ययौवना तया। प्रियतम् प्राणप्रियं। अनासादयन्त्या अप्राप्नुवन्त्या। जीवितनिरपेक्षया जीविते जीवने निर्नास्ति अपेक्षा आकाङ्क्षा यस्याः सा तया।

विदूषकेति—वक्रभणितैः कुटिलवचनैः। ऋज्व्वेव सरलमेव। अन्यो भवदितरः। कुसुमचापव्यपदेशेन कामच्छलेन। निह्नूयते गोप्यते।

---

राजा—निश्चितरूपेण यह गाथा है।

विदूषक—गाथा अर्थात् क्या?

राजा—किसी अनिन्द्य नवयुवती ने अपने प्रियतम को न पाकर जीवन से हताश होकर यह कहा है।

विदूषक—(ऊँचे स्वर में हँसकर) मित्र! इन कूटवचनों से क्या लाभ? सरलता से यह क्यों नहीं कहते हो कि मुझे न पाती हुई। अन्यथा दूसरा कौन है, जो भगवान् अनङ्ग के व्याज से इस प्रकार छिपाया जा रहा है। ( हाथ से ताली बजाकर ऊँचे स्वर में हँसता है )

राजा—( ऊर्ध्वमवलोक्य । ) धिङ् मूर्ख, किमुच्चैर्हसता त्वयेयमुत्त्रासिता येनोड्डीयान्यत्र क्वापि गता ।

( उभौ निरूपयतः । )

विदूषकः—( विलोक्य ) भो एसा क्खु कअलीघरं एव्व गदा । ता एहि । लहुं अणुसरह्म ।

[ भो एषा खलु कदलीगृहमेव गता । तदेहि लघ्वनुसरावः । ]

राजा—दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या
कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम् ।
तद्भूयः शिशुशुकसारिकाभिरुक्तं
धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥ ८ ॥

---

राजेति । उत्त्रासिता भयविह्वला । इयं सारिका ।

विदूषकेति । भो वयस्य अन्यथा मा सम्भावय । एषा सारिका । अनुसराव: अनुचलावः ।

अन्वयः—दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या कामिन्या सखीनां पुरः यत् अभिहितम् तत् शिशुशुकसारिकाभिः भूयः उक्तं ( सत् ) धन्यानां श्रवणपथातिथित्वम् एति ॥ ८ ॥

दुर्वारामिति । दुर्वारां दुःखेण वार्यते या तां । कुसुमशरव्यथां कामदेवस्य व्यथां पीडां । वहन्त्या धारयन्त्या । कामिन्या तरुण्या सखीनां पुरः अग्रतः । यद् अभिहितम् उक्तम् । तत् शिशुशुकसारिकाभिः शिशुभिः शुकैः सारिकाभिः

---

राजा—( ऊपर देखकर ) धिक्कार है मूर्ख ! ऊंचे स्वर से हँसकर तुमने इसको डरा दिया, जिससे वह उड़कर कहीं अन्यत्र चली गई ।

( दोनों मनोयोग से देखते हैं )

विदूषक—(देखकर) यह कदलीगृह की ओर ही गई है । अतः आओ । शीघ्र अनुसरण करें ।

राजा—दुर्दमनीय कामव्यथा को वहन करती हुई, कामिनी अपनी

विदूषकः—एदु एदु भवं। [ एत्वेतु भवान्। ] ( परिक्रामतः। )

विदूषकः—भो यदं क्खु कअलीघरम्। जाव पविसह्म।

[ भोः एतत्खलु कदलीगृहम्। यावत्प्रविशावः। ]

( उभौ प्रविशतः। )

विदूषकः—भो गदा दासीएधीआ। एत्थ दाव मन्दमारुदुव्वेल्वन्त-बालकअलीदलसीदले सिलातले उपविसिअ मुहुत्तअं वीसह्म।

[ भोः गता दास्याः पुत्री। अत्र तावन्मदमारुतोद्वेल्लद्बालकदलीदल-शीतले शिलातल उपविश्य मुहूर्तंविश्राम्यावः। ]

---

च। भूयः पुनः उक्तं कथितं सत्। धन्यानां पुण्यवताम् पुरुषाणां। 'सुकृती-पुण्यवान् धन्य' इत्यमरः। श्रवणपथातिथित्वं श्रवणस्य पन्था श्रवणपथः कर्ण इति यावत्। तस्य अतिथित्वं तदागतत्वम् एति प्राप्नोति। दूरभाषितं तद्-वचनस्य साक्षाच्छ्रवणं पक्षिभिरुच्चिरितं पुनस्तद्वचन येषां कर्णगोचरी भवति ते धन्या इति भावः। अर्थान्तरन्यासालङ्कारः। प्रहर्षिणी वृत्तम्। तदुक्तं म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयमिति ॥८॥

विदूषकेति। मारुतोद्वेल्लद्बालकदलीदलशीतले मलयमारुतेन दक्षिणा-निलेन उद्वेल्लत् सञ्चलत् यत् बालमभिनवं कदलीदलं तेन शीतले।

---

सखियों के समक्ष जो कुछ कहती है वह बच्चे, तोते एवं सारिकाओं के द्वारा दुहराया जाता हुआ भाग्यवानों के ही कर्णगोचर होता है ॥८॥

विदूषक—आओ मित्र ! आओ। ( दोनों घूमते हैं )

विदूषक—महाराज ! यह कदलीगृह है। चलें प्रवेश करें।

( दोनों प्रवेश करते हैं )

विदूषक—महाराज ! दासी पुत्री ( सारिका ) पलायित हो गई है। यहीं मन्द-मन्द समीर से आन्दोलित हुए नूतन कदलीपत्रों से शीतल शिलाखण्ड पर क्षण भर बैठकर विश्राम करें।

राजा—यदभिरुचितं भवते।

( इत्युपविशतः। )

राजा—( निःश्वस्य। दुर्वारामित्यादि पुनः पठति। )

विदूषकः—(पार्श्वतोऽवलोक्य।) भो एदेण क्खु उग्घाडिअदुवारेण ताए मारिआए पञ्जरेण होदव्वम्। एसो वि सो चित्तफलओ। जाव णं गेण्हामि। भो वअस्स दिट्ठिआ वड्ढसि।

[ भो एतेन खलूद्घाटितद्वारेण तस्याः सारिकायाः पञ्जरेण भवितव्यम्। एषोऽपि स चित्रफलकः। यावदेनं गृह्णामि। ( फलकं गृहीत्वा निरूप्य च। ) भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे। ]

राजा—( सकौतुकम्। ) वयस्य किमेतत्।

विदूषकः—भो एदं क्खु तं जं मए भणिदम्। तुमं ज्जव एत्थ आलिहिदो। को अण्णो कुसुमचावव्ववदेसेण णिण्हवीअदित्ति।

---

राजेति। यत् कर्मेति शेषः। तथा च यत् कर्म भवते अभिरुचितं भवतः प्रीतिकरं तत् कुर्म इत्यर्थः।

विदूषकेति। उद्घाटितद्वारेण उद्घाटितं विवृतं द्वारं यस्य सः तेन। यावदेनं गृह्णामि एनं चित्रफलकम्।

राजेति। सकौतुकम् किमिदमाप्तमनेनेति कौतूहलेन सहितम्।

विदूषकेति। यन्मया भणितं मन्त्रितं इदं वस्तु तत् तस्यैव प्रमाणम्।

---

राजा—जैसी तुम्हारी इच्छा। ( दोनों बैठ जाते हैं )

राजा— (लंबी साँस लेकर, 'दुर्वाराम्' इत्यादि पुनः पढ़ता है। )

विदूषक—( पार्श्व में देखकर ) महाराज! यह खुले हुए द्वार वाला पिंजड़ा उसी सारिका का होना चाहिए। और यही वह चित्रफलक है। तो लेता हूँ। (फलक को लेकर और देखकर) बधाई है मित्र।

राजा—( कुतूहलपूर्वक ) मित्र! यह क्या है।

विदूषक—मित्र! यह वही है, जो मैंने कहा था। तुम हो यहाँ आलेखित

[ भोः एतत्खलु तद्यन्मया भणितम् । त्वमेवात्रालिखिता । कोऽन्यः कुसुमचापव्यपदेशेन निह्नूयत इति । ]

राजा—( सहर्षं हस्तौ प्रसार्य । ) सखे दर्शय दर्शय ।

विदूषकः—ण दे दंसइस्सम् । सा वि कण्णआ एत्थ ज्जेव आलिहिदा चिट्ठदि । ता किं पारितोसिएण विणा ईदिसं कण्णारअणं दंसाअदि ।

[ न ते दर्शयिष्यामि । सापि कन्यकात्रैवालिखिता तिष्ठति । तत्किं पारितोषिकेण विनेदृशं कन्यारत्नं दर्श्यते । ]

राजा—( कटकमर्पयन्नेव बलाद् गृहीत्वा विलोक्य सविस्मयम् । )

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः ।

---

विदूषकेति । कुतो न दर्शयिष्यसीत्यत आह सापीत्यादि । इति हेतोरित्यर्थः ।

राजेति । कटकं वलयम् । 'कटकं वलयोऽस्त्रियामि'त्यमरः । अर्पयन् ददत् ।

अन्वयः—लीलावधूतपद्मा चित्रगता इयं का नः अधिकं पक्षपातं कथयन्ती राजहंसीव मानसम् उपैति ॥९॥

लीलेति । लीलावधूतपद्मा लीलया क्रीडया अवधूतं कम्पितं पद्मं यया सा । नार्यो लीलार्थं कमलमेकं पाणिना बिभ्रति । यथा दृष्टं मेघदूते हस्ते लीलाकमलमिति । राजहंसी पक्षे—लीलया सलीलसंचरणेन अवधूतानि कम्पितानि पद्मानि यया सा । चित्रगता आलेख्यगता प्राप्ता, पक्षे-चित्रं मनोहरं गमनम्

---

हो । और दूसरा कौन है ? जिसे कामदेव के व्याज से छिपाया जा सकता है ।

राजा—(सहर्ष हाथ फैलाकर) मित्र ! दिखाओ, दिखाओ ।

विदूषक—तुम्हें नहीं दिखाऊँगा । वह कन्या भी इसमें चित्रित है । क्या बिना पुरस्कार के ही ऐसा कन्यारत्न दिखाया जाता है ।

राजा—( कंकण देते हुए ही बलात् फलक लेकर और देखकर आश्चर्य के साथ । )

अपने विलास से लक्ष्मी को तिरस्कृत करने वाली ( पक्षा—लीलापूर्वक

मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव ॥ ९ ॥

अपि च—

विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूद् ध्रुवम् ।
धाता निजासनाम्भोजविनिमीलनदुःस्थितः ॥ १० ॥

---

यस्याः सा । इयं चित्रे दृश्यमाना । का कतमा । नः अस्माकं अधिकं अतिरिक्तं पक्षपातमनुरागं कथयन्ती प्रकाशयन्ती, पक्षे—कं जलमधिकृत्य पक्षपातं पक्षविधूननम्, नो अस्मान् कथयन्ती पक्षध्वनिनैव वेगबाहुल्यं बोधयन्ती । राजहंसीव मरालीव । मानसं चित्तक्षेत्रं पक्षे-सरोविशेषमुपैति विशति । इयं पूर्णोपमा । यदुक्तं काव्यादर्शे यथाकथञ्चित सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते । उपमा सेति । आर्याभेदो वृत्तम् ॥९॥

अन्यदप्याह अपि चेति—

अन्वयः—धाता अपूर्वपूर्णेन्दुम् अस्याः मुखं विधाय ध्रुवं निजासनाम्भोजविनिमीलनदुःस्थितः अभूत् ॥१०॥

विधायेति । धाता स्रष्टा धाताब्जयोनिर्द्रुहिणो विरिञ्चिः कमलासनः स्रष्टेत्यमरः । अपूर्वपूर्णेन्दुम् अपूर्वमद्भुतं पूर्णेन्दुं पूर्णचन्द्रात्मकम् । अस्याः कन्यायाः । मुखम् आननं । विधाय निर्माय । ध्रुवं नूनम् । निजासनाम्भोजविनिमीलनदुःस्थितः निजं स्वीयं यदासनाम्भोजम् आसनरूपं पद्मं तस्य विनिमीलनेन मुद्रितभावेन दुःस्थितः कष्टां दशाम् आपन्नः, अभूत् सञ्जातः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥१०॥

---

गमन से कमलों को प्रकम्पित करने वाली ) चित्रलिखित ( पक्षां—चित्ताकर्षक गमन वाली ) यह कौन हमारे प्रति अधिक पक्षपात प्रकट करती हुई राजहंसी के समान मन (पक्षां—मानसरोवर) में प्रविष्ट हो रही है ॥९॥

और भी—

विधाता अप्रतिमपूर्णचन्द्र के समान आह्लादक इसका मुख बनाकर अवश्यमेव अपने आश्रयभूत कमल के संकुचित हो जाने से संकटापन्न हो गये होंगे॥१०॥

( ततः प्रविशति सागरिका सुसंगता च । )

सुसंगता—सहि ण समासादिदा अह्मेहिं सारिआ। ता चित्तफलअं पि दाव इमादो कदलीघरादो गेण्हिअ लहुं आगच्छह्म।

[ सखि न समासादितावाभ्यां सारिका । तच्चित्रफलकमपि तावदस्मात्कदलीगृहाद् गृहीत्वा लघ्वागच्छाव: । ]

सागरिका—सहि एवं करेह्म । [ सखि एवं कुर्व: । ]

( उभे परिक्रामत: । )

विदूषक:—भो वअस्स कीस उण एसा अवणदमुही आलिहिदा। [ भो वयस्य कस्मात्पुनरेषाऽवनतमुख्यालिखिता । ]

सुसंगता—( आकर्ण्य । ) सहि जहा वसन्तआ मन्तेदि तहा तक्केमि भट्टिणा वि एत्थ ज्जेव्व होदव्वम् । ता कअलीगुम्मन्तरिदाओ भविअ पेक्खह्म दाव ।

[ सखि यथा वसन्तको मन्त्रयते तथा तर्कयामि भर्त्राप्यत्रैव भवितव्यम् । तत्कदलीगुल्मान्तरिते भूत्वा प्रेक्षावहे तावत् । ]

---

सागरिकेति । समासादिता प्राप्ता ।

विदूषकेति । अवनतमुखी अवनतं मुखं यस्या: सा, नम्रमुखी इति यावत् ।

सुसगतेति । कदलीगुल्मान्तरिते कदलीगृहगुल्मेन कदलीगृहस्तम्बेन अन्तरिता व्यवहिता । प्रेक्षावहे पश्याव: ।

---

( तत्पश्चात् सागरिका और सुसंगता प्रवेश करती है )

सुसंगता—सखी ! हमें सारिका नहीं मिली । इस हेतु तब तक चित्रफलक ही कदलीकुञ्ज से लेकर शीघ्र आ जायँ ।

सागरिका—सखी ! ऐसा ही करते हैं ।

( दोनों घूमती हैं )

विदूषक—मित्र ! इसको अवनतमुखी क्यों चित्रित किया गया है ।

सुसंगता—(सुनकर) सखी ! जब वसन्तक बोल रहे हैं, उससे मैं अनुमान करती हूँ कि महाराजश्री यहीं होंगे । अत: कदलीकुञ्ज में छिप कर देखें ।

( उभे पश्यतः । )

राजा—वयस्य पश्य पश्य । ('विधायापूर्वपूर्णेन्दुमि'त्यादि पुनः पठति ।)

सुसंगता—सहि दिट्ठिआ वड्ढसि । एसो दे हिअअवल्लहो तुमं ज्जेव्व णिव्वण्णअन्तो चिट्ठदि ।

[ सखि दिष्ट्या वर्धसे । एष ते हृदयवल्लभस्त्वामेव निर्वर्णयंस्तिष्ठति । ]

सागरिका-(सलज्जम् ।) कीस परिहासशीलदाए इमं जणं लहुंकरोसि ।

[ कस्मात्परिहासशीलतयेमं जनं लघुं करोषि । ]

विदूषकः—( राजानं चालयित्वा । ) णं भणामि । कीस एसा अवणदमुही आलिहिदेत्ति ।

[ ननु भणामि । कस्मादेषाऽवनतमुख्यालिखितेति । ]

राजा—ननु सारिकयैव सकलमावेदितम् ।

---

राजेति । अन्यमनस्कत्वात् विदूषकवाक्यमनाकर्ण्याह वयस्येति ।

सुसंगतेति । दिष्ट्येत्यानन्दे । हृदयवल्लभो मनःप्रियः ।

सागरिकेति । परिहासशीलतया परिहासे शीलं स्वभावो यस्यास्तत्तया । इमं जनं मामित्यर्थः । लघुं सारशून्यम् ।

विदूषकेति । चालयित्वा हस्तेन सम्पादयित्वा ।

राजेति । सकलं मुखावनतिकारणादि । आवेदितं स्मरदशोपस्थितिप्रकाशादिति भावः ।

---

( दोनों देखती हैं । )

राजा—मित्र ! देखो, देखो । ( 'विधायपूर्वपूर्णेन्दु' इत्यादि श्लोक पुनः पढ़ता है )

सुसंगता—सखी ! बधाई है । ये तुम्हारे प्रियतम तुम्हें ही निहार रहे हैं ।

सागरिका—( लज्जापूर्वक ) क्यों विनोदी स्वभाव से इस मनुष्य को अपमानित कर रही हो ।

विदूषक—( राजा को हिला कर ) मैं कह रहा हूँ, यह अवनतमुखी करके क्यों चित्रित की गई है ।

राजा—सारिका ने ही सम्पूर्ण वृत्तान्त कह दिया है ।

सुसंगता—सहि दंसिदं क्खु मेहाविणीए अत्तणो मेहावित्तणम् ।
[ सखि दर्शितं खलु मेधाविन्याऽऽत्मनो मेधावित्वम् । ]
विदूषकः—भो वअस्स अवि सुहाअदि दे लोअणम् ।
[ भो वयस्य अपि सुखयति ते लोचनम् । ]
सागरिका—( ससाध्वसमात्मगतम् । ) किं एसो भणिस्सदित्ति जं सच्चं जीविदमरणाणं अन्तरे वट्टामि ।
[ किमेष भणिष्यतीति यत्सत्यं जीवितमरणयोरन्तरे वर्ते । ]
राजा—सुखयतीति किमुच्यते—
कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निस्पन्दतामागता ।

---

सुसंगतेति । मेधावित्वम् धारणशीलत्वम् ।

विदूषकेति । अपि सुखयति ते लोचनम् न वेति । अपि प्रश्ने । 'गर्हासमुच्चय-प्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपो'त्यमरः ।

सागरिकेति । ससाध्वसम् । आत्मगतमनतिस्पष्टम् ।

राजेति । सुखयतीति किमुच्यते सुखयति एवेति भावः ।

अन्वयः—कृच्छ्रात् ऊरुयुगम्, व्यतीत्य, नितम्बस्थले, सुचिरम् भ्रान्त्वा, त्रिवलीतरङ्गविषमे, मध्ये, निष्पन्दताम् आगता मद् दृष्टिः सम्प्रति तृषिता इव तुङ्गौ स्तनौ शनैः आरुह्य यस्याः जललवप्रस्यन्दिनी लोचने सकाङ्क्षम् मुहुः ईक्षते ॥ ११ ॥

नयनस्य क्रिया प्रदर्शनया सुखानुभवमवगमयति—

---

सुसंगता—सखी ! मेधाविनी ने अपना बुद्धिचातुर्य प्रदर्शित कर दिया है ।

विदूषक—क्या यह तुम्हारे नयनों को आनन्द दे रही है ?

सागरिका—( लज्जापूर्वक स्वगत ) ये क्या कहेंगे ? यह सत्य है कि मैं जीवन एवं मरण के मध्य हूँ ।

राजा—सुख दे रही है, ऐसा क्यों कह रहे हो ? देखो—

अत्यन्त कष्ट से इसकी जङ्घाओं को लांघ कर नितम्बस्थल में पर्याप्त

मद्दृष्टिस्तृषितेव संप्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥११॥

सुसंगता—सहि सुदं तुए । [ सखि, श्रुतं त्वया । ]

सागरिका—( विहस्य । ) तुमं एव्व सुणु जाए आलेहविण्णाणं एवं वण्णीअदि । [ त्वमेव शृणु यस्या आलेख्यविज्ञानमेवं वर्ण्यते । ]

---

कृच्छ्रादिति । कृच्छ्रात् कष्टात् । अस्याः ऊरुयुगं ऊर्वोः सक्थ्नोः युगम्, 'युगलम्', सक्थि क्लीबे पुमानूरुः इत्यमरः । व्यतीत्य अतिक्रम्य । नितम्बस्थले कट्याः पश्चाद्भागे, 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्या' इत्यमरः । सुचिरम् बहुकालं । भ्रान्त्वा भ्रमणं कृत्वा । त्रिवलीतरङ्गविषमे तिसृणां वलीनां त्रिवली त्रिवल्याः बलित्रयस्य तरङ्गः भङ्गैः विषमे उन्नतानते । मध्ये मध्यदेशे । निस्पन्दताम् गतिराहित्यम् । आगता प्राप्ता । मद्दृष्टिः मन्नेत्रम् । सम्प्रति इदानीं । तृषिता पिपासिता इव । तुङ्गौ उन्नतौ । स्तनौ कुचौ । शनैः मन्दं मन्दं । आरुह्य आक्रम्य । अस्याः एतस्याः । जललवप्रस्यन्दिनी जललवान् वाष्पबिन्दून् प्रस्यन्दयतः स्रावयतः ये तथाविधे, 'लवलेशकणाणवः' इत्यमरः । लोचने चक्षुषी । साकाङ्क्षं सस्पृहं । मुहुः पुनः पुनः । ईक्षते विलोकयति । प्रस्तुतश्लोके आचार्यानन्दवर्धनमनिना असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकारः दर्शितः । तेषां मते अत्र नायिकाकारानुवर्ण्यमानस्वात्मप्रतिकृतिपविश्रितचित्रफलकावलोकनाद् वत्सराजस्य परस्परास्थाबन्धरूपो रतिस्थायिभावो विभावानुभावसंयोजनवशेन चर्वणारूढ इति । उत्प्रेक्षालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

सागरिकेति । आलेख्यविज्ञानम् चित्रकौशलम् । तत् त्वदीयमेव चित्रविन्यासकौशलं स्तूयते तेन तवैव तच्छ्रवणेऽधिकारः न ममेति भावः ।

---

भ्रमण करके त्रिवली रूप तरंगों से उन्नतावनत मध्यभाग में निश्चल होकर मेरी दृष्टि इस समय प्यासे के समान उन्नत स्तनों पर धीरे धीरे आरूढ होकर इसके अश्रुबिन्दुओं को टपकाने वाले नेत्रों को चाह से देख रही है ॥११॥

सुसगता—सखी ! तुमने सुना ।

सागरिका—( हँसकर ) तुम स्वयं ही सुनो, जिसके चित्र कौशल का इस प्रकार वर्णन किया जा रहा है ।

विदूषकः—भो वअस्स जस्स उण ईदिसीओ वि एवं समागमं बहु मण्णन्ति तस्स वि अत्तणो उवरि को पराहवो जेण एत्थ एव्व ताए आलिहिदं अताणअं ण पेक्खसि ।

[ भो वयस्य यस्य पुनरीदृश्योऽप्येवं समागमं बहुमन्यन्ते तस्याप्यात्मान उपरि कः परिभवः येनात्रैव तयाऽऽलिखितमात्मानं न प्रेक्षसे । ]

राजा—( निर्वर्ण्य । ) वयस्य अनयाऽऽलिखितोऽहमिति यत्सत्यं ममात्मन्येव बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि । पश्य--

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौघः ।

---

विदूषकेति । ईदृश्यः रूपातिशयसम्पन्नाः । प्रियसमागमम् भर्त्रान्वेन-समागमम् । बहुमन्यन्ते आद्रियन्ते । परिभवः तिरस्कारः । 'परभवस्तिरस्कारे विनाशे' चेति विश्वः । अत्रैव अस्मिन्नेव फलके ।

राजेति । निर्वर्ण्य निरीक्ष्य । बहुमानः समादरः ।

अन्वयः—मे वपुषि पतितः एषः बाष्पाम्बुशीकरकणौघः लिखन्त्याः तस्याः करतलसंस्पर्शात् स्वेदोद्गम इव भाति ॥१२॥

भातीति । मे मम । वपुषि शरीरे, 'वपुः संहननं शरीरमि'त्यमरः । पतितः च्युतः नेत्राद् नयनाभ्यां पतताश्रुणरित्यर्थः । एषः दृश्यमानः । बाष्पाम्बुशीकर कणौघः बाष्पाम्बूनामश्रुजलानां शीकरः बिन्दवः तेषामोघः निकरः । बाष्प-

---

विदूषक—मित्र ! जिसके मिलाप को ऐसी सुन्दरियाँ भी इस प्रकार बहुत चाहती हैं, उसका अपने प्रति कैसा उपेक्षा भाव है ? जिस कारण से यही ( चित्रपट्ट ) पर उस अप्रतिहत सुन्दरी के द्वारा चित्रित स्वयं अपने को तुम नहीं देख रहे हो।

राजा—( दत्तचित्त होकर देखते हुए ) मित्र ! इस सुन्दरी ने मेरा चित्र बनाया है, यदि यह सत्य हैं तो स्वयं अपने प्रति मेरा अनुराग बढ़ गया है । अतः देखूंगा क्यों नहीं ? देखो—

मेरे चित्रित शरीर पर गिरा हुआ यह अश्रुजलकणिकाओं का समूह चित्र

स्वेदोद्गम तव करतलसंस्पर्शादिष मे वपुषि ॥ १२ ॥

सागरिका--( आत्मगतम् । ) हिअअ समस्सस समस्सस । मणोरथो वि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो ।

[ हृदय समाश्वसिहि समाश्वसिहि । मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः । ]

सुसंगता--सहि तुमं एव्व एक्का सलाहणीआ जाए भट्टा वि एवं मन्तीअदि ।

[ सखि त्वमेवैका श्लाघनीया यथा भर्त्राप्येवं मन्त्र्यते । ]

विदूषकः--( पार्श्वतोऽवलोक्य । ) भो वअस्स एदं सरसकमलिणीदल-

---

मूष्माश्रुइति, स्तोमौघनिकरैरित्युभयत्रात्यमरः । लिखन्त्याश्चित्रयन्त्याः । तस्याः सुन्दर्याः । करतलसंस्पर्शात् चित्रनिर्माणे हस्ततलसम्पर्कात् । जायमानः । स्वेदोद्गमः घर्मोदय इव । भाति शोभते । स्वेदोद्गमः सात्त्विकभावः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । आर्यावृत्तम् ॥१२॥

सागरिकेति । समाश्वसिहि सुस्थिरं भव । मनोरथोऽपि अभिलाषोऽपि । एतावतीं भूमिं न गतः एतत्पर्यन्तं न प्रसृतः ।

विदूषकेति । सरसकमलिनीदलमृणालविरचितं सरसानि सजलानि यत्

---

बनाती हुई उस सुन्दरी के पाणिपल्लवों के स्पर्श से निकलते हुए पसीने के समान प्रतीत हो रहा है ॥१२॥

सागरिका—( मन ही मन ) हृदय ! धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो । यहाँ तक तो तुम्हारा मनोरथ भी पहुँचा नहीं था ।

सुसंगता—सखि ! तुम एक मात्र प्रशंसनीय बाला हो, जिस कारण महाराज भी इस प्रकार वर्णन कर रहे हैं ।

विदूष०—( पार्श्व में देख कर ) मित्र ! यह सजल कमलिनी पत्रों

मुणालविरइदं ताए एव्व मअणावस्थासूअअं सअणीअं लक्खीअदि ।

[ **भो वयस्य एतत्सरसकमलिनीदलमृणालविरचितं तस्या एव मदनावस्था-सूचकं शयनीयं लक्ष्यते ।** ]

राजा--वयस्य निपुणमुपलक्षितम् । तथा हि--

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।

---

कमलिनीदलानि पद्मिनीपत्राणि मृणालानि च तैः विरचितम् । मदनावस्था-सूचकम् कामदशावस्थाबोधकम् । राजेति । निपुणं साधु । उपलक्षितमव-लोकितम् ।

अन्वयः—पीनस्तनजघनसङ्गात् उभयतः परिम्लानं तनो मध्यस्य परि-मिलनम् अप्राप्य अन्तः हरितम्, श्लथभुजालताक्षेपवलनैः व्यस्तन्यासम् इदं नलिनीपत्रशयनं कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति ॥१३॥

परीत । पीनस्तनजघनसङ्गात् स्तनौ च जघने च स्तनजघनम् पीनस्य स्थूलस्य स्तनजघनस्य सङ्गात् संयोगात् पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरमित्यमरः । उभयतः प्रान्तद्वये, प्रान्तयोरूर्ध्वमधश्चेत्यर्थः । परि-म्लानं कान्तिहीनं । तथा तनोः क्षीणस्य । मध्यस्य कटिप्रदेशस्य परिमिलनं संसर्गम् । अप्राप्य अनासाद्य अन्तः मध्यभागे । हरितम् कान्तियुक्तं । श्लथ-भुजलताक्षेपवलनैः तथा श्लथयोः शिथिलयोः भुजलतयोः लताकारयोर्भुजयोः । क्षेपेण वलनैः संस्थापनैः । व्यस्तन्यासम् व्यस्तो अन्योन्यसंयोगरहितो न्यासः रचना यस्य तादृशम् । इदं पुरो दृश्यमानम् । नलिनीपत्रशयनं नलिनीपत्रैः रचितं यत् शयनं तत् । शय्यायां शयनीयवत् शयनमित्यमरः कृशाङ्ग्याः सन्त-

---

एवं मृणालों से रचित, उस ( सुन्दरी ) की ही कामदशा को सूचित करने वाली शय्या प्रतीत हो रही है ।

राजा—मित्र ! तुम्हारा अनुमान ठीक है । क्योंकि—

मोटे मोटे स्तनों और जघन प्रदेश के सम्पर्क से दोनों तरफ मुरझाई हुई,

इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः संतापं वदति नलिनीपत्रशयनम् ॥ १३ ॥

अपि च—

स्थितमुरसि विशालं पद्मिनीपत्रमेतत्
कथयति न तथान्तर्मन्मथोत्थामवस्थाम् ।

---

ङ्ग्याः । सन्तापं खेदम् । वदति प्रकाशयति । अत्र तु प्रसादगुणः, यतः सङ्गात्, कृशाङ्ग्या इत्यादौ माधुर्योचिता वर्णाः । झटिति चान्वयबोधात् प्रसादः, येन शब्देन समासेन वा रचनया च श्रुतिमात्रेण शब्दादर्थप्रत्ययो भवेत् स प्रसादव्यञ्जक इत्यर्थः । तदुक्तं काव्यप्रकाशकारैः—

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥

शिखरिणी वृत्तम् । तद्यथा—रसैः रुद्रैः छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी ॥ १३ ॥

अन्यदप्याह अपि चेति ।

अन्वयः—अस्याः उरसि स्थितं विशालम् एतत् पद्मिनीपत्रम् अतिगुरुपरितापम्लापिताभ्यां मण्डलाभ्यां अन्तः मन्मथोत्थाम् अवस्थां न तथा

---

मध्य भाग ( कटिप्रदेश ) के बीच सम्पर्क न प्राप्त होने से हरी और शिथिल भुजलताओं के इधर-उधर प्रक्षेप से अस्त-व्यस्त यह कमलिनी—पत्रों की शय्या ( उस ) कृशाङ्गी के सन्ताप अर्थात् कामपीड़ा को व्यक्त कर रही है ॥ १३ ॥

और भी—

इस सुन्दरी के वक्षःस्थल पर रखा गया यह विशाल कमलिनी पत्र अति

अतिगुरुपरितापम्लापिताभ्यां यथास्याः

स्यनयुगपरिणाहं मण्डलाभ्यां ब्रवीति ॥ १४ ॥

विदूषकः—( नाट्येन मृणालिकां गृहीत्वा । ) भो वअस्स अअं अवरो ताए एव्व पीणत्थणुह्माकिलिसन्तकोमलमुणालहारो । ता पेक्खदु भवं ।

[भो वयस्य अयमपरस्तस्या एव पीनस्तनोष्मक्लिश्यमानकोमलमृणालहारः । तत्प्रेक्षतां भवान् । ]

---

कथयति यथा स्तनयुगपरिणाहं ब्रवीति ॥ १४ ॥

स्थितमिति । अस्याः सागरिकायाः । उरसि वक्षसि । स्थितमारोपितं । विशालम् महत् । एतत् इदम् । पद्मिनीपत्रम् नलिनीदलम् । अतिगुरुपरितापम्लापिताभ्याम् अतिगुरुः अतिमहान् यः परितापः तेन म्लापिताभ्यां म्लानिं गमिताभ्यां । मण्डलाभ्यां मण्डलाकारचिह्नाभ्यां । अन्तः मध्ये । मन्मथोत्थाम् कामोद्भूताम् । अवस्थां दशां । न तथा कथयति न तेन प्रकारेण प्रकाशयति । यथा येन प्रकारेण । स्तनयुगपरिणाहं स्तनयोः कुचयोः युगं युगलम् तस्य परिणाहः विशालता तम् । 'परिणाहो विशालता इत्यमरः' ॥ अत्र मालिनीवृत्तम् । तदुक्तं ननमयययुतेयं मालिनीभोगिलोकैरिति ॥ १४ ॥

विदूषकेति । पीनस्तनोष्मक्लिश्यमानकोमलमृणालहारः पीनाभ्यां स्तनाभ्यां स्खलनेन क्लिश्यन् शुष्यंश्चासौ कोमलमृणालहारः च इति सः । तत्, तस्मात् ।

---

सन्ताप से मुरझाये हुए मण्डलाकार चिह्नों के द्वारा ( इसके ) हृदय की कामजनित पीड़ा को उस प्रकार नहीं बता रहा हैं जिस प्रकार ( इसके ) दोनों स्तनों की विशालता को व्यक्त कर रहा है ॥ १४ ॥

विदूषक—( नाटकीय प्रकार से मृणालहार लेकर ) मित्र ! यह दूसरा उसी के स्थूल स्तनों की उष्णता से कान्तिहीन ( अर्थात् मुरझाया हुआ ) कोमल मृणालहार है । आप इसे देखिए ।

राजा--( गृहीत्वोरसि विन्यस्य । ) अयि जडप्रकृते !

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्

किं शोषमायासि मृणालहार ।

न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य

तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ॥ १५ ॥

---

राजेति। उरसि वक्षसि। जडप्रकृते! जडा अचेतना प्रकृतिः स्वभावो यस्य सः हे तथाभूत !

अन्वयः—मृणालहार ! तत्कुचकुम्भमध्यात् परिच्युतः किं शोषम् आयासि। तत्र तावकस्य सूक्ष्मतन्तोः अपि अवकाशः न, भवतः किमु स्यात् ॥ १५ ॥

परीति। मृणालहार ! मृणालानां हारः तत्सम्बुद्धौ। तत्कुचकुम्भमध्यात् तस्याः कुचकुम्भयोः मध्यात् मध्यभागात् परिच्युतः परिस्खलितः सन्। किम् किमर्थम्। शोषम् शुष्कताम्। आयासि प्राप्नोषि। तत्र कुचकुम्भयोर्मध्ये। तावकस्य तव सम्बन्धिनः सूक्ष्मतन्तोः सूक्ष्मसूत्रस्यापि। अवकाशः स्थानं नास्ति कथं भवतः स्यादवकाश इति शेषः। अत्र परिच्युत इत्यादिना च उदयनविदूषकसागरिकासुसङ्गतानां परस्परालापेन उत्तरोत्तरानुरागबीजप्रकटनात् प्रगमनम्। प्रगमनं प्रेम्णः प्रथमाभिव्यक्तिः प्रेमव्यापारे प्रथमा प्रगतिः। अतः बीजस्योत्तरोत्तरोद्घाटनसहायभूतं वचनन्तु प्रगमनं नाम सन्ध्यङ्गं भवति। तदुक्तं दशरूपककारेण उत्तरावाक् प्रगमनमिति। उपजातिच्छन्दः। तदुक्तं स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ १५ ॥

---

राजा—( हार को छाती पर रख कर ) हे जड स्वभाववाले !

हे मृणालहार ! उस ( अप्रतिम सुन्दरि ! ) के स्थूल स्तनों के मध्य से गिर जाने की चिंता से तुम क्यों सूखे जा रहे हो। उन पीन स्तनों के मध्य तुम्हारे सूक्ष्म तन्तु के प्रवेश तक का स्थान नहीं है, ऐसी दशा में तुम्हारा प्रवेश कैसे संभव है ॥ १५ ॥

सुसंगता—(स्वगतम् ।) हद्धी हद्धी । गुरुआणुराओक्खित्तहिअअ भट्टा असंबद्धं पि मन्तेदं पउत्तो । ता ण जुत्तं अदो वरं उवेक्खितुम् । भोदु । एव्वं दाव । सहि । जस किदे तुमं आगदा सो अअं ते पुरदो चिट्ठदि ।

[ हा धिक् हा धिक् । गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयो भर्ताऽसंबद्धमपि मन्त्रयितुं प्रवृत्तः । तन्न युक्तमतः परमुपेक्षितुम् । भवतु । एवं तावत् ( प्रकाशम् । ) सखि । यस्य कृते त्वमागता सोऽयं ते पुरतस्तिष्ठति । ]

सागरिका—( सासूयम् । ) सुसंगदे कस्स किदे अहं एत्थ आगदा ।

[ सुसंगते कस्य कृतेऽहमत्रागता । ]

सुसंगता—( विहस्य । ) अइ अण्णसङ्किदे णं चित्तफलअस्स । ता गेण्ह एदम् ।

[ अयि अन्यशङ्किते ननु चित्रफलकस्य तद् गृहाणैतम् । ]

---

सुसंगतेत्ति । स्वगतमनतिस्पष्टमित्यर्थः । गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयः गुरुः महान् यः अनुरागः प्रेमा तेन उत्क्षिप्तम् आकुलितं हृदयं चेतो यस्य तादृशः । असम्बद्धमयुक्तम् । अचेतनेपि चेतनवदालापादिति भावः । एवं तावत् कर्त्तव्यमिति शेषः । कृते अर्थे ।

सागरिकेति । सासूयं दोषारोपणसहितम् ।

सुसंगतेति । अन्यशङ्किते मां प्राणप्रियामपि सखीमन्यत्वेन शङ्कमाने ।

---

सुसंगता—(मन ही मन) हाय-हाय ! अत्यन्त प्रेम से व्याकुल हृदयवाले स्वामी अब असम्बद्ध प्रलाप भी करने लगे हैं, इस हेतु अब और उपेक्षा करना ठीक नहीं है अच्छा । ऐसा ही सही । (प्रकाश रूप में) सखि ! जिसके लिए तुम आयी थीं, वह तुम्हारे सामने विद्यमान है ।

सागरिका—(ईर्ष्यापूर्वक) सुसंगते ! मैं किसके लिए यहाँ आई हूँ ।

सुसंगता—( स्मितमुखी होकर ) मुझ जैसी प्राणप्रिय सखी को अन्य समझने वाली ! चित्रफलक के लिए (आयी थी । ) अतः इसे ले लो ।

सागरिका—( सरोषम् । ) अउसलह्मि तुह ईदिसाणं आलावाणम् । ता अण्णदो गमिस्सम् ।

[ अकुशलास्मि तवेदृशानामालापानाम् । तदन्यतो गमिष्यामि । ] (इति गन्तुमिच्छति । )

सुसंगता—( सागरिकां हस्ते गृहीत्वा । ) अइ असहणे इह चिट्ठ दाव मुहुत्तअं जाव इमादो कदलीघरादो चित्तफलअं गण्हिअ आअच्छामि ।

[ अयि असहने इह तिष्ठ तावन्मुहूर्तं यावदस्मात्कदलीगृहाच्चित्रफलकं गृहीत्वागच्छामि । ]

सागरिका—सहि एव्वं करेहि ।

[ सखि एवं कुरु । ]

( सुसंगता कदलीगृहाभिमुखं परिक्रामति । )

---

सागरिकेति । अकुशला अनभिज्ञा ।

सुसंगतेति । असहने क्रुद्धे । मुहुर्तम् क्षणमात्रम् ।

सागरिकेति । एवं कुरु यदुक्तं तदित्यर्थः ।

---

सागरिका—( क्रोधपूर्वक ) तुम्हारे इस प्रकार के वार्तालाप को समझने में मैं अक्षम हूँ । अतः अन्यत्र चले जाना ही श्रेयस्कर होगा । (इस प्रकार जाने के लिए उद्यत होती है )

सुसंगता—( सागरिका का हाथ पकड़कर ) अरी क्रोधी । क्षणमात्र तुम यहाँ रुको तब तक मैं इस कदलीगृह से चित्रफलक लेकर आती हूँ ।

सागरिका—सखि ! इस प्रकार ही करो ।

( सुसंगता कदलीगृह की ओर जाने लगती है । )

विदूषकः--( सुसंगतां दृष्ट्वा ससंभ्रमम । ) भो वअस्स पच्छादेहि एदं चित्तफलअं । एसा क्खु देवीए परिचारिआ सुसंगदा आगदा ।
[ भो वयस्य, प्रच्छादयैतं चित्रफलकम् । एषा खलु देव्याः परिचारिका सुसंगताऽऽगता । ]

( राजा पटान्तेन फलकं प्रच्छादयति । )

सुसंगता—( उपसृत्य ) जअदु जअदु भट्टा ।
[ जयतु जयतु भर्ता । ]

राजा--सुसंगते, स्वागतम् । इहोपविश्यताम् ।

( सुसंगतोपविशति । )

राजा--सुसंगते कथमहमिहस्थो भवत्या ज्ञातः ।

सुसंगता--( विहस्य ) भट्टा ण केवलं तुमं अअं पि चित्तफलएण सह सव्वो वुत्तन्तो मए विण्णादो । ता गदुअ देवीए णिवेदइस्सम् ।

---

विदूषकेति । ससम्भ्रमम् सत्वरम् । सम्भ्रमस्त्वरेत्यमरः । परिचारिका सेविका । पटान्तेन वस्त्रान्तेन ।

सुसंगतेति । देवो विज्ञातः इति सम्बन्धः । विदूषकेति । अपवार्य व्यवधाय स्वयं परावृत्येति यावत् । यत्र समीपस्थपात्रान्मुखमन्यदिशं कृत्वा अपरपात्रस्य रहस्यं कथ्यते तत् अपवारितम् । तदुक्तं दशरूपककारेण—

---

विदूषक—( सुसंगता को देखकर घबराहट के साथ ) हे मित्र ! इस चित्रफलक को आवृत कर लो । यह स्वामिनी की परिचारिका सुसगता आ रही है ।

( राजा उत्तरीयवस्त्र से चित्रफलकको ढँक देता है )

सुसंगता—( समीप जाकर ) महाराज की जय हो, जय हो ।

राजा—सुसंगते ! स्वागत है । यहाँ बैठो । ( सुसंगता बैठती है । )

राजा—मैं यहाँ हूँ यह तुमने कैसे जान लिया ?

[ भर्तः, न केवलं त्वमयमपि चित्रफलकेन सह सर्वो वृत्तान्तो मया विज्ञातः । तद्गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि । ]

विदूषकः—( अपवार्य सभयम् ) भो वअस्स सव्वं संभावीअदि । मुहरा क्खु एसा गब्भदासी । ता पारितोसिएण संपीणेहि णम् ।

( भो वयस्य सर्वं संभाव्यते । मुखरा खल्वेषा गर्भदासी । तत्पारितोषिकेण संप्रीणयैनाम् । )

राजा—युक्तमुक्तं भवता ( सुसङ्गतां हस्ते गृहीत्वा । ) सुसङ्गते क्रीडा-मात्रमेवैतत् । अकारणे त्वया देवी न खेदयितव्या । इदं ते पारितोषिकम् । ( कर्णाभरणं प्रयच्छति । )

---

'रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम्' । मुखरा अबद्धमुखा । दुर्मुखे मुखरा-बद्धमुखावित्यमरः । गर्भदासी दास्याः पुत्री । गर्भावस्थायामेव तस्या दासी-भावोत्पत्तेः । जन्मतो दासी इत्यर्थः । सम्प्रीणय प्रसादय । येनेयं रहस्यं न प्रकाशयेत् ।

राजेति । क्रीडामात्रम् परिहासमात्रं । परिहासः क्रीडा लीला च नर्मचेत्यमरः । कर्णाभरणम् कर्णस्य आभरणमाभूषणं तत् । प्रयच्छति ददाति ।

---

सुसंगता—( सस्मित होकर ) महाराज केवल आपको ही नहीं, चित्र-फलक के साथ सम्पूर्ण वृत्तान्त को भी मैंने जान लिया है । अतः जाकर महारानी जी को अवश्य कथन करूँगी ।

विदूषक—( मुँह छिपा कर कान में गोप्य बात कहते हुए ) मित्र ! सब कुछ सम्भव है । यह दासी पुत्री अतीव वाचाल है । इस हेतु पारितोषिक ( पुरस्कार ) देकर इसे सन्तुष्ट करें ।

राजा—आपने ठीक कहा । ( सुसंगता का हाथ पकड़ कर ) सुसंगते । यह सब परिहास-क्रीडा मात्र था । इस हेतु तुम्हें महारानी को अकारण खेद नहीं पहुँचाना चाहिए । यह रहा तुम्हारा पुरस्कार । ( कान का आभूषण देते हैं )

सुसंगता--( प्रणम्य सस्मितम् । ) भट्टा अलं सङ्काए । मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व । ता किं कण्णाभरणेण । एसो ज्जेव मे गुरुओ पसाओ जं कीस तुए अहं एत्थ चित्तफलए आलिहिदत्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ । ता गदुअ पसादेदु णं भट्टा ।

[भर्तः अलं शङ्कया । ममापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव । तत्किं कर्णाभरणेन । एष एव मे गुरुः प्रसादो यत्कस्मात्त्वयाहमत्र चित्रफलक आलिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका । तद्गत्वा प्रसादयत्वेनां भर्ता । ]

राजा--( ससंभ्रममुत्थाय ) क्वासौ क्वासौ ।

सुसंगता--इदो इदो भट्टा ।

[ इत इतो भर्ता ]

विदूषकः--भो गण्हामि एदं चित्तफलअम् । कदा वि पुणो वि एदिणा कज्जं भविस्सदि ।

[ भो गृह्णाम्येतं चित्रफलकम् । कदाऽपि पुनरप्येतेन कार्यं भविष्यति । ]

---

सुसंगतेति । प्रसादयतु प्रसन्नीकरोतु । एनां सागरिकाम् ।

राजेति । असौ सागरिका ।

सागरिकेति । सहर्षम् हर्षेण सहितम्, प्रियदर्शनजन्योऽत्र हर्षः ससाध्वसं सभयम् । सकम्पं गात्रकम्पनसहितम् । अतिसाध्वसेन अतिभयेन । पदात्पदमपि पदमात्रमपि ।

---

सुसंगता -( नमस्कार कर हँसती हुई )

स्वामी ! व्यर्थ शंका न करें । मैं भी महाराज की कृपा से क्रीडा ही कर रही थी । इस हेतु कर्णाभरण की क्या आवश्यकता ? यही मुझ पर महती दया होगी "तुमने इस चित्र पट पर मुझे आलेखित क्यों किया ?" इस कारण मेरी प्रिय सखी क्रुद्ध है । अतः स्वामी चल कर उसे प्रसन्न कर लें ।

राजा -( शीघ्रता से उठ कर ) वह कहाँ है ? वह कहाँ है ?

सुसंगता—भट्टा इयं सा ।
[ भर्तः ! इयं सा । ]

( सर्वे कदलीगृहान्निष्क्रामन्ति । )

सागरिका—( राजानं दृष्ट्वा ससाध्वसं सकम्पं च स्वगतम् । ) हद्धी हद्धी । एदं पेक्खिअ अतिसद्धसेण न सक्कणोमि पदादो पदं वि गन्तुम् । ता किं दाणि एत्थ करिस्सम् ।

[ हा धिक् हा धिक् । एतं प्रेक्ष्यातिसाध्वसेन न शक्नोमि पदात्पदमपि गन्तुम् । तत्किमिदानीमत्र कारिष्यामि । ]

विदूषकः—( सागरिकां दृष्ट्वा । ) ही ही भोः अच्चरिअं अच्चरिअम् । ईदिसं रूवं माणुसलोए ण पुणो दीसदि । ता तक्केमि पआवइणो वि एदं णिम्मविअ विम्हओ समुप्पण्णोत्ति ।

[ ही ही भोः आश्चर्यमाश्चर्यम् । ईदृशं रूपं मनुष्यलोके न पुनर्दृश्यते । तत्तर्कयामि प्रजापतेरप्येतन्निर्माय विस्मयः समुत्पन्न इति । ]

---

विदूषकेति । ईदृशं रूपम् ईदृक् सौन्दर्यम् । मनुष्यलोके संसारे । निर्माय विधाय । विस्मयः आश्चर्यं समुत्पन्नः सञ्जातः ।

---

सुसंगता—स्वामी इधर आइए, इधर आइए ।

विदूषक—महाराज ! यह चित्रफलक ले लेता हूँ । कदाचित् फिर से इसकी कुछ आवश्यकता पड़ सकेगी ।

( सभी कदली गृह से बाहर निकलते हैं । )

सागरिका—( राजा को देख कर हर्ष, भय तथा कम्पन सहित, स्वगत ) हाय धिक्कार है, धिक्कार है ! इनको देख कर अत्यन्त भय के कारण मैं एक पग भी नहीं चल सकती । तो अब मैं क्या करूँ ।

विदूषक—( सागरिका को देख कर ) हा,हा आश्चर्य है ! आश्चर्य है । इस प्रकार का रूप सौन्दर्य मनुष्यलोक में दृष्टिगोचर नहीं होता है । इससे प्रतीत होता है कि इसको बनाकर विधाता को भी आश्चर्य हुआ होगा ।

राजा--वयस्य ममाप्येवं मनसि वर्तते ।

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष-
श्चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम् ।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम् ॥१६॥

---

अन्वयः—जगत्त्रयललामभूताम् इमां ललनां विधाय विस्मयवशात् वेधसा ध्रुवं जितनिजाब्जपत्रत्विषो दृशः पृथुतरीकृताः, शिरांसि चलितानि, चतुर्भिः अपि मुखैः समं साधु साधु इति व्याहृतम् ॥ १६ ॥

दृश इति । जगत्त्रयललामभूतां जगत्त्रयस्य त्रिलोक्याः ललामभूतां त्रिभुवनालङ्कारभूताम् । इमां दृश्यमानाम् । ललनां प्रमदां । विधाय निर्माय । विस्मयवशात् आश्चर्यवशात् । वेधसा ब्रह्मणा । ध्रुवं निश्चितरूपेण । जितनिजाब्जपत्रत्विषः जिताः पराजिताः निजस्य आत्मनः निजस्य स्वस्य: ( निजासनस्य ) अब्जस्य कमलस्य पत्राणि दलानि तेषां त्विषः कान्तयः याभिस्ताः । दृशः चक्षूंषि । पृथुतरीकृताः अतिशयेन विस्फारिताः, पृथुबृहत्—विशालमि'त्यमरः । शिरांसि मस्तकानि । चलितानि कम्पितानि । चतुर्भिः चतुस्संख्याकैरपि । मुखैः आननैः । समं युगपत् । साधु साधु इति व्याहृतमुच्चरितम् । अत्र वेधस. तत्तत् क्रियासम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः । तदुक्त काव्यप्रकाशे 'निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् । प्रस्तुतस्य यदन्यत्व यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥ कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः । विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा' इति । पृथ्वीवृत्तम्, तदुक्तं 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरूः' इति ॥ १६ ॥

---

राजा—मित्र ! मेरे मन मे भी यही है ।

त्रिभुवन के अलङ्कार तुल्य इस सुन्दरी को बना कर विस्मय के कारण विधाता ने निश्चित ही अपने आसन रूप कमल-पत्रों की कान्ति को जीतने वाले अपने नेत्रों को विस्फारित किया होगा, विस्मय से उनके शिर हिलने लगे होंगे और चारों मुख एक साथ साधुवाद कहने लगे होंगे ॥ १६ ॥

सागरिका—( सासूयं सुसङ्गतामालोक्य ) सहि ईदसो चित्तफलओ तुए आणीदो ।

[ सखि ईदृशः चित्रफलकस्त्वयाऽऽनीतः । ] ( इति गच्छति । )

राजा—

दृष्टिं रुषा क्षिपसि भामिनि यद्यपीमां
स्निग्धेयमेष्यति तथापि न रूक्षभावम् ।
त्यक्त्वा त्वरां व्रज पदस्खलितैरयं ते
खेदं करिष्यति गुरुर्नितरां नितम्बः ॥ १७ ॥

---

सागरिकेति । सासूयम् ईर्ष्यया सहितम् । त्वया सुसङ्गतया ।

अन्वयः—भामिनि ! इमाम् दृष्टिं यदि रुषा क्षिपसि तथापि स्निग्धा इयं रूक्षभावं न एष्यति । त्वरां त्यक्त्वा व्रज । गुरुः अयं नितम्बः पदस्खलितैः ते नितरां खेदं करिष्यति ॥ १७ ॥

दृष्टिमिति । भामिनि ! कोपने ! कोपना सैव भामिनीत्यमरः । यदि अपि इमां दृष्टिं त्वदीयां दृशं । रुषा क्रोधेन । क्षिपसि पातयसि । तथापि स्निग्धा स्नेहवती । इयं दृष्टिः । रूक्षभावं रूक्षतां । न एष्यति न यास्यति । त्वरां शीघ्रगामित्वं । त्यक्त्वा विहाय । व्रज याहि । अन्यथा, गुरुः विशालः । नितम्बः कटिपश्चाद्भागः । पदस्खलितैः पदानां चरणानां स्खलितैः स्वस्थानाद्विचलितैः चरणन्यासैः । ते तव । नितरां निरतिशयं यथा तथा । खेदं करिष्यति क्लेशं गमिष्यति । वसन्ततिलकावृत्तम् । तद्यथा 'उक्ता वसन्ततिलकातभजाजगौगः' इति ॥ १७ ॥

---

सागरिका—( इर्ष्या से सुसंगता को देखकर ) सखी ! तुम ऐसा चित्रपट लायी हो । (यह कहकर जाती है)

राजा—हे भामिनि ! इस दृष्टि को यदि तुम क्रोध पूर्वक डालती हो तो भी स्नेहार्द्र यह दृष्टि रुक्षभाव को प्राप्त नहीं हो सकती । ( अतः ) शीघ्रता का त्याग कर चलो । ( अन्यथा ) यह भारी नितम्ब पैर फिसलने पर तुम्हें बहुत कष्ट देगा ॥ १७ ।

सुसंगता--भट्टा अदिकोवगा क्खु एसा। ता हत्थे गेण्हिअ पसादेहि णम्।

[ भर्तः अतिकोपना खल्वेषा। तद्धस्ते गृहीत्वा प्रसादयैनाम्। ]

राजा--( सानन्दम्। ) यथाह भवती। ( सागरिका हस्ते गृहीत्वा स्पर्शसुखं नाटयति। )

विदूषकः--भो एसा क्खु तुए अपुव्वा सिरी समासादिदा।

[ भोः एषा खलु त्वयाऽपूर्वा श्रीः समासादिता। ]

राजा--वयस्य सत्यम्।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्साः पारिजातस्य पल्लवः।

---

सुसंगतेति। अतिकोपना अतीवरुष्टा। प्रसादय प्रीणीहि।

विदूषकेति। अपूर्वा श्रीः अलौकिका लक्ष्मीः शोभावम्। समासादिता प्राप्ता।

अन्वयः—एषा श्रीः अस्याः पाणिरपि पारिजातस्य पल्लवः। अन्यथा कुतः एषः स्वेदच्छद्माऽमृतद्रवः स्रवति ॥१८॥

श्रीरिति। एषा सागरिका। श्रीः लक्ष्मीः। अस्याः पाणिरपि हस्तः अपि। पारिजातस्य देवतरुविशेषस्य। पल्लवः किसलयम्। अन्यथा अस्याः पाणेः देवतरुपल्लवत्वाभावे। एषः पाणिः। स्वेदछद्मामृतद्रवः स्वेदस्य सात्विकस्य घर्मस्य छद्मव्याजो यस्य सः तथोक्तः अमृतद्रवः अमृतरसः कुतः कस्मात् कारणात् स्रवति क्षरति। अत्र पारिजातस्यामृतमन्थनदशायामुत्थानादमृतक्षरणानुभववशेन पाणेः पारिजातपल्लवत्वानुमानम्। सति च तदनुमाने सागरिकाया लक्ष्मीत्वेन ग्रहः सम्भवति लक्ष्म्याः परिजातपल्लवाभिलषित्वात्। अत्र 'राजा ( सागरिकां

---

सुसंगता-महाराज़ ! यह बहुत क्रुद्धा है। अतः हाथ पकड़कर इसे मनालें।

राजा—( आनन्दपूर्वक ) आप जैसा कहें। ( सागरिका का हाथ पकड़कर आनन्दानुभव करता है )

विदूषक—मित्र ! आपने तो अपूर्व श्री (लक्ष्मी) पा ली है।

राजा—मित्र ! सत्य है।

यह त्रिभुवन सुन्दरी है। इसका हाथ भी पारिजात का पल्लव है। यदि

कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥ १८ ॥

सुसंगता--सहि अदिणिठ्ठुरा दाणिं सि तुनं जा एवं भट्टिणा हत्थे गिहीदा वि कोवं ण मुञ्चसि।

[सखि अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवं भर्त्रा हस्ते गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि।]

सागरिका--( सभ्रूभङ्गम् । ) अइ सुसङ्गदे अज्ज वि ण विरमेसि।

[ अयि सुसंगते अद्यापि न विरमसि । ]

राजा–अयि प्रसीद। न खलु युक्तः सखीजन एवंविधः कोपानुबन्धः।

---

हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति ) इत्यारभ्य स्वेदछद्मामृतद्रव.' इत्यन्तेन ग्रन्थेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागः उद्घाटितः तेन पुष्पाख्यं प्रतिमुखसन्धेरङ्गम् संदर्शितम् । बाजोद्घाटनविशेषसामर्थ्ययुतं प्रशंसाप्रतिपादकम् वाक्यं पुष्पं नाम प्रतिमुखसन्ध्यङ्गं भवति। तदुक्तं दशरूपके पुष्पं वाक्यं विशेषवदिति। अत्र प्रकृतस्य अन्यत्वस्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः। तथाचोक्तं मम्मटेन 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिरिति । १८॥

सुसंगतेति। अतिनिष्ठुरा अतिकठोरा। अन्या मानवत्यः प्रियेण करेण गृहीते मानं मुञ्चन्ति, त्वं तु तथा न कुरुषे इति तवातिकठोरत्वम्।

सागरिकेति। सभ्रूभङ्गम् भ्रुवोर्भङ्गेन सहितं सरोषमिति यावत्। विरमसि निवर्तसे।

---

ऐसा नहीं है तो पसीने के व्याज से अमृत-द्रव कहाँ से स्रवित हो रहा है॥१८॥

सुसंगता—सखी ! तुम अधुना बहुत कठोर हृदयवाली हो गई हो जो इस प्रकार स्वामी के द्वारा हाथ से गृहीत होने पर भी मान को त्याग नहीं रही हो।

सागरिका—( भ्रूभंगिमापूर्वक ) अरी सुसंगते ! तुम अब भी शांत नहीं हो रही हो।

राजा—प्रिये ! प्रसन्न हो। मित्र जनों पर इस प्रकार क्रोध करना उचित नहीं है।

विदूषकः--एसा क्खु अवरा देवी वासवदत्ता ।

[ एषा खल्वपरा देवी वासवदत्ता । ]

( राजा सचकितं सागरिकाया हस्तं मुञ्चति । )

सागरिका--( ससम्भ्रमम् ) सुसंगदे किं दाणिं एत्थ करिस्सम् ।

[ सुसंगते किमिदानीमत्र करिष्ये । ]

सुसंगता--सहि एदं तमालवोथिअं अन्तरिअ णिक्कमह्म ।

[ सखि एतां तमालवीथिकामन्तरयित्वा निष्क्रमावः । ]

( निष्क्रान्ते । )

राजा--( पार्श्वतोऽवलोक्य । ) वयस्य क्व सा देवी वासवदत्ता ?

विदूषक—भो ण जाणामि क्व सा । मए एसा क्खु अवरा देवी वासवदत्ता अदिदीहरोसदाएत्ति भणिदं ।

[ भो न जानामि क्व सा । मया एषा खल्वपरा देवी वासवत्ताऽतिदीर्घरोषतयेति भणितम् । ]

---

सुसंगतेति । तमालबीथिका तमालानां वीथिका, ताम् । 'वीथ्यालिरावलिः पंक्तिः श्रेणीलेखास्तु राजय' इत्यमरः ।

विदूषकेति - अतिदीर्घरोषतया अतिदीर्घमनल्पकालस्थायिरोषणं क्रोधो यस्याः सा ।

---

विदूषक—यह भी दूसरी वासवदत्ता ही प्रतीत होती है । ( राजा चौंककर सागरिका का हाथ छोड़ देता है । )

सागरिका— (घबड़ाकर) अब क्या करूँ ?

सुसंगता—इन तमाल वृक्षों के पंक्तियों के मध्य से निकल चलें !

( दोनों का प्रस्थान )

राजा—( इधर-उधर देख कर ) मित्र ! वह देवी वासवदत्ता कहाँ है ?

विदूषक—मित्र ! मैं नहीं जानता कि वह कहाँ है ? मैंने तो यह कहा कि अतिदीर्घ समय तक क्रोध करने वाली होने के कारण वह दूसरी महारानी वासवदत्ता है ।

राजा—धिङ् मूर्ख ।

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥ १९ ॥

( ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च । )

वासवदत्ता—हञ्जे कञ्चणमाले अध्र केत्तिअ दूरे दाणिं सा अज्ज-उत्तेण परिगिहीदा णोमालिआ ।

[ हञ्जे काञ्चनमाले अथ कियद्दूर इदानीं साऽऽर्यपुत्रेण परिगृहीता नवमालिका । ]

---

अन्वयः—कथम् अपि दैवात् प्राप्ता प्रकटरागा कान्ता सा रत्नावली इव कण्ठम् अनीता एव भवता मम हस्तात् भ्रंशिता ॥ १९ ॥

प्राप्तेति । कथमपि केनापि सुयोगेन । दैवात् भाग्यवशात् । प्राप्ता लब्धा । प्रकटरागा प्रकटो व्यक्तो रागो अनुरागः पक्षे— रक्तिमा यस्याः सा । कान्ता प्रिया पक्षे-कान्तिमती । सा सागरिका रत्नावली मणिमाला इव । कण्ठमनीता कण्ठे करणात् प्रागेव अप्रापितैव कण्ठाप्रापणदशायामेवेति । भवता त्वया । मम मे । हस्तात् करात् । भ्रंशिता दूरीकृता अदर्शनं नीतेत्यर्थः । अत्र श्लेषोपमयोः सङ्करः । आर्या वृत्तम् ॥ १९ ॥

---

राजा—अरे मूर्ख ! तुझे धिक्कार है ।

किसी प्रकार भाग्यप्रसाद से प्राप्त अनुराग को प्रकट करने वाली ( पक्षां— आभा प्रसृत करती हुई ) प्रिया ( पक्षां— कान्तिमती ) वह ( सागरिका ) रत्नावली के समान कण्ठ में पड़ने के पूर्व ही ( कण्ठालिङ्गन के पूर्व ही ) तुमने मेरे हाथ से दूर कर दी ॥ १९ ॥

( तदनन्तर काञ्चनमाला और वासवदत्ता प्रवेश करती हैं । )

वासवदत्ता—अरी काञ्चनमाला ! आर्यपुत्र द्वारा अपनाई गई नवमालिका अभी कितनी दूर है ।

काञ्चनमाला—भट्टिणी एदं कदलीघरअं अदिक्कमिअ दोसदि एव्व ।

[ भर्त्रि एतत्कदलीगृहमतिक्रम्य दृश्यत एव । ]

वासवदत्ता—ता आदेसेहि मग्गम् ।

[ तदादेशय मार्गम् । ]

काञ्चनमाला—एदु एदु भट्टिणी ।

[ एत्वेतु भर्त्री । ]

राजा—वयस्य क्वेदानीं प्रिया द्रष्टव्या ।

काञ्चनमाला—भट्टिणि जहा समीवे भट्टा मन्तेहि तह तक्कमि भट्टिणी एव्व पडिवालअन्तो चिट्ठदिति । ता उवसप्पदु भट्टिणी ।

[ भर्त्रि यथा समीपे भर्ता मन्त्रयते तथा तर्कयामि भर्त्रीमेव प्रतिपालयंस्तिष्ठतीति । तदुपसर्पतु भर्त्री । ]

---

काञ्चनमालेति । भर्त्रि स्वामिनि । दृश्यत एव अवलोक्यत एव कदलीगृहात् परमेव सा दर्शनीयेत्यर्थः ।

काञ्चनमालेति । यथा येन प्रकारेण प्रियतमा क्व द्रष्टव्येति पदप्रयोगेणेत्यर्थः । प्रतिपालयन् प्रतीक्षमाणः ।

---

काञ्चनमाला—स्वामिनी ! रम्भाकुञ्ज को पार करके ही दीखती है ।

वासवदत्ता—अच्छा ! मार्ग बताओ ।

काञ्चनमाला—आइए महारानी, आइए ।

राजा—मित्र ! प्रिया को इस समय कहाँ देखा जाय ।

काञ्चनमाला—महारानी ! समीप ही स्वामी मन्त्रणा कर रहे हैं उससे मुझे यह प्रतीत होता है कि वे आप ही की प्रतीक्षा कर रहे हैं । अतः महारानी उनके पास चलें ।

वासवदत्ता—( उपसृत्य ) जअदु जअदु अज्जउत्तो ।

[ जयतु जयत्वार्यपुत्रः । ]

राजा—( अपवार्य ) वयस्य प्रच्छादय चित्रफलकम् ।

विदूषकः—( कक्षायां फलकं प्रक्षिप्योत्तरीयेण प्रच्छादयति । )

वासवदत्ता—अज्जउत्त अह कुसुमिदा णोमालिआ ।

[ आर्यपुत्र अथ कुसुमिता नवमालिका । ]

राजा—देवि प्रथममिहागतैरप्यस्माभिस्त्वं चिरयसीति नैव दृष्टा । तदेहि । सहितावेव तां पश्यावः ।

वासवदत्ता—( निर्वर्ण्य । ) अज्जउत्त मुहरागादो एव्व मए जाणिदं जहा कुसुमिदा णोमालिआत्ति । ता ण गमिस्सम् ।

[ आर्यपुत्र मुखरागादेव मया ज्ञातं यथा कुसुमिता नवमालिकेति । तन्न गमिष्यामि । ]

---

विदूषकेति । कक्षायां पार्श्वबाह्वोरन्तरालदेशे । प्रक्षिप्य निधाय । उत्तरीयेण उपरिधार्यवस्त्रेण, उत्तरासङ्गेनेति यावत् ।

राजेति । प्रथमं भवदागतेः पूर्वम् । चिरयसि विलम्बं करोषि ।

वासवदत्तेति । मुखरागात् मुखस्य आननस्य रागात् लोहित्यात् सुखानुरागादेवेत्यर्थः ।

---

वासवदत्ता—( समीप जाकर ) आर्यपुत्र की जय हो ।

राजा—( एक ओर मुंह फेरकर ) मित्र ! चित्रपट को छिपा लो ।

विदूषक—( काँख में फलक रख कर उत्तरीय से ढँक लेता है )

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! आपकी नवमालिका पुष्पित हुई ?

राजा—देवि ! मैं पहले ही यहाँ आ गया, लेकिन आपने विलम्ब कर दिया, इस कारण उसे अभी नहीं देखा है । अब हम दोनों एक साथ ही देखेंगे ।

वासवदत्ता—( देख कर ) आर्यपुत्र ! आपकी मुख-कान्ति को देख कर ही प्रतीत हो रहा है कि नवमालिका पुष्पित हुई है । इसलिए मैं नहीं जाऊँगी ।

विदूषक—ही ही भो जिदं जिदं अह्मेहिं। [ ही ही भोः जितं जितमस्माभिः। ] ( इति बाहू प्रसार्यं नृत्यति। नृत्यतः कक्षान्तरात्फलकः पतति। )

( राजा अपवार्यं विदूषकमङ्गुल्या तर्जयति। )

विदूषक—( अपवार्यं। ) भो मा कुप्प। तूण्हीओ चिट्ठ। अहं एव्व एत्थ जाणिस्सम्।

[ भो मा कुप्य। तूष्णीकस्तिष्ठ। अहमेवात्र ज्ञास्यामि। ]

काञ्चनमाला—( फलकं गृहीत्वा निरूप्यापवार्यं। ) भट्टिणि पेक्ख दाव किमेत्थ चित्तफलए आलिहिदं।

[ भर्त्रि प्रेक्षस्व तावत्किमत्र चित्रफलक आलिखितम्। ]

वासवदत्ता—( निरूप्यापवार्यं। ) कञ्चणमाले अअं अज्जउत्तो। इअं उण साअरिआ। किं ण्णेदम्।

[ काञ्चनमाले अयमार्यपुत्रः। इयं पुनः सागरिका। किं न्वेतत्। ]

---

विदूषकेति। नृत्यतः गात्र विक्षेपं कुर्वतः, यद्गोपयितुं कक्षायां न्यस्तं तत्प्रमादवशात् अकाले नृत्यतः प्रकाशमानीतम्।

विदूषकेति। मा कुप्य क्रोधं न कुरु, चित्रकलकपतनेति शेषः। तूष्णिकः मौनमवलम्बमानः।

काञ्चनमालेति। प्रेक्षस्व सम्यक् पश्य। अत्र चित्रफलके अस्मिन् चित्रपट्टे।

---

विदूषक—अहह! मित्र! हम लोगों की जीत हुई। ( इस प्रकार बाहू फैलाकर नाचने लगता है। नाचते हुए उसके बगल से चित्रपट गिर पड़ता है।)

( राजा मुँह फेर कर विदूषक को अंगुली से संकेत करता है )

विदूषक—( मुँह फेरकर ) मित्र! कुपित न हों। शान्त रहें। यहाँ मैं समझ लूंगा।

काञ्चनमाला—( फलक को लेकर देख कर, मुँह फेरकर ) स्वामिनि! देखिए तो इस चित्रपट्ट पर क्या अंकित है?

वासवदत्ता—( देख कर मुंह फेरकर ) काञ्चनमाले! ये हैं आर्यपुत्र! और यह सागरिका है। यह क्या है?

काञ्चनमाला—भट्टिणि अहं पि एदं एव्व चिन्तेमि ।
[ भत्रि अहमप्येतदेव चिन्तयामि । ]

वासवदत्ता—( सकोपहासम् । ) अज्जउत्त केण एदं आलिहिदम् ।
[ आर्यपुत्र, केनेदमालिखितम् । ]

राजा—( सवैलक्ष्यस्मितम् । अपवार्य । ) वयस्य किं ब्रवीमि ।

विदूषक—( अपवार्य । ) भो मा चिन्तेहि । अहं उत्तरं दाइस्सम् । भोदि मा अण्णथा संभावेहि । अप्पा किल दुक्खेण आलिहीअदित्ति मम वअणं सुणिअ पिअवअस्सेण आलेक्खविण्णाणं दसिदम् ।
[ भो मा चिन्तय । अहमुत्तरं दास्यामि । ( प्रकाशं वासवदत्तां प्रति । ) भवति मान्यथा संभावय । आत्मा किल दुःखेनालिख्यत इति मम वचनं श्रुत्वा प्रियवयस्येनैतदालेख्यविज्ञानं दर्शितम् । ]

राजा—यथाह वसन्तकस्तथैवैतत् ।

---

राजेति । सवैलक्ष्यस्मितम् विलक्षस्य भावो वैलक्ष्यम्, वैलक्ष्यद्योतकं स्मितम् वैलक्ष्यस्मितं तेन सहितं यथा स्यात्तथा । 'विलक्षो विस्मयान्विते' इत्यमरः ।

विदूषकेति । आलेख्यविज्ञानं चित्रनैपुण्यम् ।

---

काञ्चनमाला—स्वामिनी ! मैं भी तो यही विचार कर रही हूँ ।

वासवदत्ता—( क्रोध पूर्वक हँसकर ) आर्यपुत्र ! यह किसकी चित्रकारी है ।

राजा—( विस्मय पूर्वक मुँह फेरकर ) मित्र ! क्या कहूँ ।

विदूषक—( मुँह फेरकर ) मित्र ! चिन्ता न कीजिये, मैं उत्तर दूँगा । ( प्रकट रूप में वासवदत्ता से ) महारानी, कुछ अन्यथा न लें । 'स्वयं का आलेखन दुष्कर होता है' मेरे इस वचन को सुन कर मित्र ने चित्र कौशल दिखाया है ।

राजा—जैसा वसन्तक कह रहा है वैसे ही यह घटना घटित हुई है ।

वासवदत्ता—( फलकं निर्दिश्य । ) अज्जउत्त एसावि जा अवरा तुह समीवे आलिहिदा ता किं अज्जवसन्तअस्स विण्णाणम् ।

[ आर्यपुत्र एषापि यापरा तव समीप आलिखिता तत्किमार्यवसन्तकस्य विज्ञानम् । ]

राजा—( सविस्मयम् । ) देवि अलमन्यथा शङ्कया । इयं हि कापि कन्यका स्वचेतसैव परिकल्प्यालिखिता । न तु दृष्टपूर्वा ।

विदूषकः—भोदि सच्चं सच्चम् । सवामि बह्मसुत्तेण जइ ईदिशी कदावि अह्मेहि दिट्ठपुव्वा ।

[ भवति सत्यं सत्यम् । शपे ब्रह्मसूत्रेण यदीदृशी कदाप्यस्माभिर्दृष्टपूर्वा । ]

काञ्चनमाला—(अपवार्यं) भट्टिणि घुणक्खरं वि कदावि संभवदि जेव्व ।

[भर्त्रि घुणाक्षरमपि कदापि संभवत्येव ।]

---

राजेति । स्वचेतसा निजमनसा । परिकल्प्यावधार्य । दृष्टपूर्वा दृष्टं दर्शनं भूतं पूर्वस्मिन् यस्याः सा, प्रागवलोकितेतियावत् ।

विदूषकेति । ब्रह्मसूत्रेण यज्ञोपवीतेन । शपे—दिव्यं करोमि । यदि ईदृशी-कन्या कदापि दृष्टपूर्वा तदा यज्ञोपवीतेन दिव्यं करोमि इत्यर्थः ।

काञ्चनमालेति । घुणाक्षरं घुणाख्यः कीटविशेषः तेन कृतमक्षरम् ।

---

वासवदत्ता—( फलक की ओर संकेत करके ) आर्यपुत्र ! यह जो अन्य आपके पास चित्रित है क्या यह आर्य वसन्तक का नैपुण्य है ?

राजा—( विस्मय पूर्वक ) देवी ! अन्यथा न लें । अन्य कोई यह कन्या अपने मन से ही कल्पना करके चित्रित की है । इसे इससे पूर्व कभी नहीं देखा है ।

विदूषक—महारानी, यह सत्य है, सत्य है । मैं यज्ञोपवीत की शपथ लेता हूँ कि हमने पहले कभी ऐसी ( कन्या ) देखी हो ।

काञ्चनमाला—( मुंह फेरकर ) कभी कभी घुणाक्षर न्याय भी तो होता ही है ।

वासवदत्ता—( अपवार्य । ) अइ उजुए वसन्तओ क्खु । ण जाणासि तुमं एदस्स वक्कभणिदाइं । अज्जउत्त मम उण एदं चित्तफलअं पेक्खन्तीए सीसवेअणा समुप्पण्णा । ता गमिस्सं अहम् ।

अयि ऋजुके वसन्तकः खल्वेषः । न जानासि त्वमेतस्य वक्रभणितानि ( प्रकाशम् । ) आर्यपुत्र मम पुनरेतच्चित्रफलकं प्रेक्षमाणायाः शीर्षवेदना समुत्पन्ना । तद्गमिष्याम्यहम् । ] ( प्रस्थिता । )

राजा—( पटान्ते गृहीत्वा । ) देवि !—

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।

---

वासवदत्तेति । ऋजुके सरले कपटानभिज्ञे इत्यर्थः । वक्रभणितानि कुटिलकथनानि । प्रेक्ष्यमाणायाः अवलोकयन्त्याः शीर्षवेदना शिरः पीडा ।

अन्वयः—प्रसीद इति ब्रूयाम् इदम् कोपे असति न घटते । पुनः एवं नो करिष्यामि इति ( ब्रूयाम् तदा ) अभ्युपगमः भवेत् । मे दोषः नास्ति इति ( ब्रूयाम् ) इदमपि च त्वं मृषा ज्ञास्यसि । प्रियतमे ! एतस्मिन् किं वक्तुं क्षमम् इति न वेद्मि ॥२०॥

प्रसीदेति । हे देवि त्वं प्रसीद इति प्रसन्ना भव इति । ब्रूयाम् वदेयम् । इदम् एतत् । कोपे क्रोधे । असति अविद्यमाने । नघटते नयुज्यते । पुनः भूयः । एवंमित्थम् । नोकरिष्यामि नविधास्यामि अङ्गीकाराभ्युपगमप्रतिश्रवसमाधय इति चामरः । इति अभ्युपगमः निजदोषाङ्गीकारो । भवेत् स्यात् । 'अभावे

---

वासवदत्ता—( मुह फेर कर ) अयि सरले ! यह वसन्तक है । तुम इसकी वक्रोक्तियों को नहीं जानती हो । ( प्रकट रूप में ) आर्यपुत्र ! इस चित्र फलक को देखते हुए मुझे शिरोवेदना होने लगी हैं । इसलिए मैं जा रही हूँ ।

( प्रस्थान करती है )

राजा—(आँचल पकड़कर) देवी !

यदि मैं यह कहूँ कि तुम प्रसन्न हो जाओ तो क्रोध के अभाव में यह ठीक नहीं बैठता, यदि पुनः ऐसा न करने का वचन दूँ तो भी अपराध को स्वीकार

न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि च ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥ २० ॥

वासवदत्ता—( सविनयं पटान्तमाकर्षन्ती । ) अज्जउत्त मा अण्णधा संभावेहि । सच्चं एव्व मं सीसवेअणा बाधेदि । ता गमिस्सम् ।

[ आर्यपुत्र, मान्यथा संभावय । सत्यमेव मां शीर्षवेदना बाधते । तद्गमिष्यामि । ]

( उभे निष्क्रान्ते । )

विदूषकः—( पार्श्वाण्यवलोक्य । ) भो दिट्ठिआ वड्ढसि । क्खेमेण अह्माणं अदिक्कन्ता अआलवादावली ।

[ भो दिष्टया वर्धसे । क्षेमेणास्माकमतिक्रान्ताऽकालवातावली । ]

---

नहयमो नापि' इत्यमरः । मे मम । दोषः अपराधः । नास्ति इति नैव वर्तते इति । इदमपि एतदपि । त्वं मृषा ज्ञास्यसि अवगमिष्यसि । प्रियतमे ! प्रिये ! एतस्मिन् अस्मिन् विषये । किं वक्तुं कथयितुम् । क्षममुचितमिति न वेद्मि न जानामि । अत्रैकफलकचित्रितयोः सागरिकोदयनयोः दर्शनेन कुपितायाः वासवदत्तायाः उदयनस्यानुनयनं नायकयोरनुरागप्रकटनसम्बन्धेन पर्युपासन मिति प्रतिमुखसन्ध्यङ्गं संदर्शितम् । यथाऽऽहुः दशरूपककाराः पर्युपास्तिरनुयरिति' । अत्र वाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गमलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २० ॥

विदूषकेति । क्षेमेण मङ्गलेन । अतिक्रान्ता व्यतीता । अकालवातावली असमयवात्या ।

---

करना होगा, यदि मैं ऐसा कहूँ कि मेरा कोई दोष नहीं है तो भी तुम मिथ्या समझोगी । प्रिये ! इस प्रसंगमें क्या कहना उचित है, यह मेरे समझ में नहीं आ रहा है ॥२०॥

वासवदत्ता—( नम्रतापूर्वक अञ्चल छुड़ाती हुई ) आर्यपुत्र ! आप अन्यथा न लें । यथार्थ में मुझे शिरोवेदना हो रहा है । इसलिए मैं जाऊँगी ।

( दोनों चली जाती हैं )

विदूषकः—( दोनों ओर देखकर ) मित्र ! बधाई है । हमारे अभ्युदय से असमय की आँधी चली गई ।

राजा—धिङ् मूर्ख कृतं परितोषेण। यान्त्याऽऽभिजात्यान्निगूढा न लक्षितस्त्वया देव्याः कोपानुबन्धः ।

भ्रूभङ्गे सहसोद्गतेऽपि वदनं नीतं परां नम्रता-
मीषन्मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम् ।
अन्तर्बाष्पजडीकृतं प्रभुतया चक्षुर्न विस्फारितं
कोपश्च प्रकटीकृतो दयितया मुक्तश्च न प्रश्रयः ॥ २१ ॥

---

राजेति । परितोषेण देवीगमनात् संतोषेण । यान्त्या व्रजन्त्या । आभिजात्यात् भद्रभावात् । निगूढः अतिगुप्तः । न लक्षितः नानुभूतः ।

अन्वयः—दयितया प्रभुतया भ्रूभङ्गे सहसा उद्गतेऽपि वदनं परां नम्रतां नीतम् । मां प्रति भेदकारि ईषत् हसितम् । निष्ठुरं वचः न उक्तम् । अन्तर्बाष्पजडीकृतं चक्षुः न विस्फारितम्, ( अतएव ) कोपः च पकटीकृतः प्रश्रयः च न मुक्तः ॥२१॥

भ्रूभङ्ग इति । दयितया प्रियतमया वासवदत्तया । 'दयितं वल्लभं प्रियमिति' अमरः । प्रभुतया कर्तुं समर्थतया । भ्रूभङ्गे भ्रुवोर्भङ्गः कौटिल्यम् भ्रुकुटिभङ्गः तस्मिन् । सहसा तत्क्षणम् । उद्गतेऽपि आविर्भूतेऽपि । वदनमाननम् । परमतिशयवतीं । नम्रतां नतिम् । नीतम् प्रापितम् । मां प्रति मामुद्दिश्य । भेदकारि प्रणयविध्वंसि । ईषत् अल्पम् । हसितं हासः कृतः । निष्ठुरं कठोरम् । वचः न उक्तम् । अन्तर्बाष्पजडीकृतं अन्तर्बाष्पेण अन्तर्गताश्रुवारिणा जडीकृतं मन्दीकृतं प्रतिबद्धव्यापारतां प्रापितमपि । चक्षुःनयनम् । न विस्फारितम् न उन्मीलितम् । तस्मात् दयितया प्रियया क्रोपः क्रोधश्च । प्रकटीकृतः प्रकाशितः । प्रश्रयश्च

---

राजा—धिक् मूर्ख ! संतोष करना व्यर्थ है । जाते समय कुलीनता के कारण छिपा हुआ देवी का क्रोध तुमने नहीं देखा ।

प्रियतमा ने दाक्षिण्यादि गुणों के कारण सहसा भृकुटि तिरछी करते हुए भी मुख को नीचे झुका लिया; मुझ पर संदेह होने पर भी मेरे प्रति मर्मभेदी मंदहास किया किन्तु कठोर वचन नहीं कहे, आँखों में अश्रुजल भर जाने पर

तदेहि । देवीमेव प्रसादयितुं गच्छावः ।

( इति निष्क्रान्ताः सर्वे । )

इति कदलीगृहा नाम द्वितीयोऽङ्कः ।

---

प्रणयश्च । 'प्रश्रयप्रणयौ समाविति' अमरः । नमुक्तस्त्यक्तः । अनया तु विनयेन मर्यादोल्लङ्घनं तथा नाचरितमिति स्तुतमस्या गाम्भीर्यमिति भावः । अत्र प्रथमपादत्रयोक्तवाक्यार्थानां चतुर्थचरणोक्तं प्रति हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२१

॥ इति कदलीगृहो नाम द्वितीयोऽङ्कः ॥

इति डॉ० राजेश्वरकेशवशास्त्रि मुसलगांवकरकृतायां
रत्नावली टीकायां किरणावली समाख्यायां
द्वितीयाङ्कविवरणं समाप्तिमगमत् ॥

---

भी मेरी ओर आँखों को नहीं उठने दिया; ( इस प्रकार मेरी प्रिया ने ) क्रोध भी प्रकट कर दिया और बिनय को भी नहीं छोड़ा ॥२१॥

अतः आओ ! महारानी को ही प्रसन्न करने के लिए चलें ।

( सबका प्रस्थान )

॥ कदलीगृह नामक द्वितीय अंक समाप्त ॥

# तृतीयोऽङ्कः

( ततः प्रविशति मदनिका । )

मदनिका—( आकाशे ) कोसम्बिए कोसम्बिए अवि दिट्ठा तुए भट्टिणो सआसे कञ्चणमाला ण वा । किं भणासि । कोवि कालो ताए आअच्छिअ गदाए त्ति । ता कहिं दाणिं पेक्खिस्सम् । कहं एसा क्खु कञ्चणमाला इदो एव्व आअच्छदि । ता जाव णं उवसप्पामि ।

[ कौशाम्बिके कौशाम्बिके अपि दृष्टा त्वया भर्तुः सकाशे काञ्चनमाला न वा ( कर्णं दत्त्वा ) किं भणसि । कोऽपि कालस्तस्या आगत्य गताया इति । तत्कुत्रेदानीं प्रेक्षिष्ये । ( अग्रतोऽवलोक्य । ) कथमेषा खलु काञ्चनमालेत एवागच्छति । तद्यावदेनामुपसर्पामि । ]

---

मदनिकेति । आकाशे आकाशे दृष्टिं बद्ध्वा शून्ये रङ्गभूमौ कौशाम्बिकाया अभावेऽपि तां लक्ष्मीकृत्येवाह इत्यर्थः । नटः मञ्चे स्थितः अशरीरिणीं वाचमाकर्ण्य तदावर्त्यं च स्वभाषितेन योजयति तत् । इदमेव चाकाशभाषितमित्युच्यते । यदुक्तं दशरूपके किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीतियत् । श्रुत्वेवानुक्त-मप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितमिति । भर्तुः राज्ञः । अपि प्रश्ने । कर्णं दत्वा श्रोतुं कर्णौ नियोज्य । वस्तुतः कस्यापि पात्रस्य वचनाभावेऽपि तच्छ्रुत्वेवाह किमित्यादि । कोऽपि कालः स्वल्पः कालः । तस्याः काञ्चनमालायाः । प्रेक्षिष्ये द्रक्ष्यामि । उपसर्पामि समीपङ्गच्छामि ।

---

( तदनन्तर मदनिका प्रवेश करती है )

मदनिका—( आकाश की ओर लक्ष्य करके ) कोशाम्बिके ! कोशाम्बिके ! क्या तुमने महाराजश्री के समीप काञ्चनमाला को देखा है अथवा नहीं ? (कान लगाकर) क्या कहती हो कि उसे आकर गये हुए कुछ समय हो गया । तो अब कहाँ देखूं । ( सामने देखकर ) कैसे यह तो काञ्चनमाला इधर ही आ रही है । इसके समीप चलूं ।

( ततः प्रविशति काञ्चनमाला । )

काञ्चनमाला—( सोत्प्रासम् ) साहु रे अमच्चवसन्तअ साहु । अदिसइदो तुए अमच्चजोगन्धराअणो इमाए सन्धिविग्गहचिन्ताए ।

[साधु रे अमात्यवसन्तक साधु । अतिशयितस्त्वयाऽमात्ययौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रहचिन्तया । ]

मदनिका—( उपसृत्य सस्मितम् । ) हला कञ्चणमाले किं अज्जवसन्तएण किदं जेण सो एव्वं सलाहिज्जदि ।

[ हला काञ्चनमाले किमार्यवसन्तकेन कृतं येन स एवं श्लाध्यते । ]

काञ्चनमाला—हला मअणिए किं तव एदिणा जाणिदेण । तुमं इमं रहस्सं रक्खिदुं ण पारेसि ।

[ हला मदनिके किं तवैतेन ज्ञातेन । त्वमिदं रहस्यं रक्षितुं न पारयसि । ]

---

काञ्चनमालेति । सोत्प्रासम् सोल्लुण्ठणं सोपहासमिति यावत् । अतिशयतः व्यक्कृतः । संधिविग्रहचिन्तया संधिरेकस्य संघटनम् । अमात्य पक्षे-षड्गुणान्तर्गतगुणविशेषः । विग्रहो विभागः अन्यस्य पृथक्करणमिति यावत् । अमात्यपक्षे युद्धम् । तयोश्चिन्तया सागरिकायाः सघट्टनस्य देव्याः पृथक्करणस्य च चिन्तयेत्यर्थः ।

मदनिकेति । सस्मितम् ईषद्धास्ययुक्तम् । येन कर्मणा श्लाघ्यते प्रशस्यते ।

काञ्चनमालेति । ज्ञातेनाभिज्ञानेन । रहस्यं रहसि भवं गोपनीयमित्यर्थः । रक्षितुं गोपायितुम् । नपारयसि न समर्थोऽसि ।

---

काञ्चनमाला—(उपहासपूर्वक) साधु मंत्री वसन्तक ! साधु । तुमने इस संधिविग्रह के चिन्तन से अमात्य योगन्धरायण को भी परास्त कर दिया है ।

मदनिका—( समीप जाकर हँसती हुई ) सखि काञ्चनमाले । आर्य वसन्तक ने ऐसा क्या किया, जो उसको ऐसी प्रशंसा हो रही है ।

काञ्चनमाला—सखि मदनिके ! तुम यह जानकर क्या करोगी । यह रहस्य तुम छिपा भी न सकोगी ।

मदनिका—सवामि देवीए चलणेहिं जाद कस्स वि पुरदो पआसेमि ।

[ शपे देव्याश्चरणाभ्यां यदि कस्यापि पुरतः प्रकाशयामि । ]

काञ्चनमाला—जइ एवं ता सुणु अज्ज क्खु मए राअउलाओ पडि-णिउत्तमानाए चित्तसालिआदुआरे वसन्तअस्स सुसंगदाए समं आलावो सुदो ।

[यद्येवं तच्छृणु । अद्य खलु मया राजकुलात्प्रतिनिवर्तमानया चित्रशालिका-द्वारे वसन्तकस्य सुसंगतया सममालापः श्रुतः । ]

मदनिका—( सकौतुकम् ) सहि कीदिसो ।

[ सखि कीदृशः । ]

---

मदनिकेति । शपे दिव्यं करोमि । चरणैरिति बहुत्वं गौरवात् ।

काञ्चनमालेति । एवम् अप्रकटनस्य दिव्यं करोषीति भावः । राजकुलात् राजगृहात् । प्रतिनिवर्तमानया परावर्तमानया । चित्रशालिकाद्वारे चित्रकर्म-शालायाः द्वारदेशे । समं सह । 'साकं सत्रं समं सह' इत्यमरः । आलाप आभाषणम् ।

मदनिकेति । सकौतुकं कौतुहलसहितम् । कौतुहल श्रवणदर्शनादावति-लालसा ।

---

मदनिका—मैं महारानी के चरणों की शपथ लेती हूँ, यदि मैं किसी के भी सामने (यह) प्रकट करूँ ।

काञ्चनमाला—यदि ऐसा है तो सुनो । आज राजभवन से प्रत्यावर्तन के समय मैंने चित्रशालिका के द्वार पर आर्य वसन्तक एवं सुसंगता के मध्य प्रवृत्त वार्तालाप को सुना है ।

मदनिका—( कुतूहलपूर्वक ) सखी ! कैसा वार्तालाप ?

काञ्चनमाला—जह सुसंगदे ण क्खु साअरिअं वज्जिअ अण्णं किं पिअवअस्सस्स असच्छदाए कारणं । ता चिन्तेहि एत्थ पडिआरत्ति ।

[यथा सुसंगते न खलु सागरिकां वर्जयित्वा अन्यत्किमपि प्रियवयस्यस्यास्वस्थतायाः कारणम् । तच्चिन्तयात्र प्रतीकारमिति । ]

मदनिका—तदो सुसंगदाए किं भणिदम् ।

[ ततः सुसंगतया किं भणितम् । ]

काञ्चनमाला—एव्वं ताए भणिद. । अज्ज क्खु देवीए चित्तफलअवुत्तन्तसङ्किदाए साअरिअ रक्खिदु मम हत्थे समप्पअन्तीए ज णेवत्थं मे पसादीकिदं तेण ज्जेव विरचिदभट्टिणीवेसं साअरिअ गेण्हिअ अहं पि कञ्चणमालावेसधारिणी भविअ पओसे इह आगमिस्सम् । तुमं पि इह एव्व चित्तसालिआदुआरे मं पडिवालइस्ससि । तदो माहवीलदामण्डवे ताऐ सह भट्टिणो समागमो भविस्सदित्ति ।

[एवं तया भणितम् । अद्य खलु देव्या चित्रफलकवृत्तान्तशङ्कितया सागरिकां

---

काञ्चनमालेति । सागरिकां वर्जयित्वा सागरिकातिरिक्तम् । अस्वस्थतायाः रुग्णतायाः । अन्यत् किमपि कारणं न पश्यामीति शेषः ।

काञ्चनमालेति । चित्रफलकवृत्तान्तशङ्कितया चित्रफलकसम्बन्धिनसमाचारेण शङ्कितया राज्ञः सागरिकायां साभिलाषत्वेन कृताशङ्कया । नेपथ्यं वस्त्रभूषणादिकं । प्रसादीकृतं प्रसन्नतया दत्तम् । कृतभर्टृनीवेषां धृतवासवदत्ता-

---

काञ्चनमाला--सुसङ्गते ! जैसे सागरिका के अतिरिक्त प्रिय मित्र की की अस्वस्थता का अन्य कोई कारण नहीं है, इसलिए इसके प्रतीकार का उपाय सोचो ।

मदनिका--तब सुसङ्गता ने क्या कहा ?

काञ्चनमाला--उसने ऐसा कहा कि चित्रफलक के वृत्तान्त से सशङ्कित होकर महारानी ने सागरिका को रखने हेतु मेरे हाथ में सौंपते हुए जो वस्त्र-आभूषणादि पारितोषिक रूप में दिये हैं, उन्हीं कपड़ों से सागरिका को

रक्षितुं मम हस्ते समर्पयन्त्या यन्नेपथ्यं मे प्रसादीकृतं तेनैव विरचितभर्तृनीवेषां सागरिकां गृहीत्वाऽहमपि काञ्चनमालावेषधारिणी भूत्वा प्रदोष इहागमिष्यामि । त्वमपीहैव चित्रशालिकाद्वारे मां प्रतिपालयिष्यसि । ततो माधवीलतामण्डपे तया सह भर्तुः समागमो भविष्यतीति । ]

मदनिका—( सरोषम् ) सुसंगदे हदासि क्खु तुमं जा एव्वं परिजण-वच्छलं देविं वञ्चेसि ।

[ सुसंगते हतासि खलु त्वं यैवं परिजनवत्सलां देवीं वञ्चयसे । ]

काञ्चनमाला—हला तुमं दाणिं कहिं पत्थिदा ।

[ हला त्वमिदानीं कुत्र प्रस्थिता । ]

---

परिच्छदाम् । प्रदोषे सन्ध्यायाः परम् । इहैव चित्रशालिकाद्वारे । प्रतिपालयिष्यसि प्रतीक्षिष्यसि । तया सागरिकया ।

मदनिकेति । सरोषं सकोपम् । परिजनवत्सलां परिजनेषु सेवकवर्गेषु स्नेहवतीम् । देवीं वासवदत्ताम् । वञ्चयसे प्रतारयसि ।

---

महारानी का रूप देकर और मैं भी काञ्चनमाला का वेश धारण करके प्रदोष ( सायंकाल ) वेला में यहाँ आऊँगी । तुम भी यहीं चित्रशालिका के द्वार पर मेरी प्रतीक्षा करना । तब माधवीलता मण्डप में सागरिका के साथ महाराजश्री का समागम होगा ।

मदनिका—( क्रोधपूर्वक ) सुसंगते ! तुम मन्दभाग्या हो, जो परिजन-वत्सल महारानी को इस प्रकार ठग रही हो ।

काञ्चनमाला—सखी ! तुम इस समय कहाँ चली हो ?

मदनिका—अहं क्खु अस्सत्थसरीरस्स भट्टिणो कुशलवुत्तन्तं जाणिदु गदा तुमं चिरअसीत्ति उत्तमन्तीए देवीए तुह सआसं पेसिदाम्हि।

[ अहं खल्वस्वस्थशरीरस्य भर्तुः कुशलवृत्तान्तं ज्ञातुं गता त्वं चिरयसी-त्युत्ताम्यन्त्या देव्या तव सकाशं प्रेषितास्मि। ]

काञ्चनमाला—अदिउजुआ दाणि सा देवी जा एव्वं पत्तीअदि। एसो क्खु भट्टा अस्सत्थदामिसेण अत्तणो मअणावत्थं पच्छादअन्तो दन्ततोरणवलभीए चिट्ठदि। ता एहि। एदं वुत्तन्तं भट्टिणीए णिवेदम्ह।

[ अतिऋजुकेदानीं सा देवी यैवं प्रत्येति। एष खलु भर्ताऽस्वस्थतामिषेणात्मनो मदनावस्थां प्रच्छादयन् दन्ततोरणवलभ्यां तिष्ठति। तदेहि। एतं वृत्तान्तं भर्त्र्यै निवेदयावः। ]

( इति निष्क्रान्ते। )

( इति प्रवेशकः। )

---

मदनिकेति। अस्वस्थशरीरस्य रुग्णदेहस्य। भर्तुः स्वामिनः। कुशलवृत्तान्तं कुशलसमाचारं। उत्ताम्यन्त्या चिन्तया विमनायमानया।

काञ्चनमालेति। अतिऋजुका अतिसरला। प्रत्येति विश्वसिति। अस्वस्थतामिषेण अस्वस्थतायाः रुग्णतायाः मिषेण व्याजेन। प्रच्छादयन् गोपयन्। दन्ततोरणवलभ्यां दन्तस्य गजदन्तस्य तोरणं द्वारं यस्याः सा तथोक्ता या वलभी सौधोपरिस्थमण्डपाकारवेश्म तस्याम्। तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारमि'त्यमरः।

---

मदनिका--मुझे अस्वस्थ प्रकृति महाराजश्री का कुशलवृत्तान्त जानने हेतु गई तुम बिलम्ब कर रही हो-यह कहकर चिन्ता से खिन्न मन हुई महारानी ने तुम्हारे पास भेजा है।

काञ्चनमाला--वह देवी अतीव सरल स्वभाव की हैं जो इस प्रकार विश्वास करती हैं। ये महाराजश्री तो रुग्णता के बहाने अपनी काम व्यथित दशा को छिपाते हुए हस्तिदन्त से निर्मित द्वारवाले अटारी पर विराजमान हैं। अतः आओ। यह समाचार महारानी को निवेदन कर दें।

( इस प्रकार दोनों चली जाती हैं। )

॥ प्रवेशक समाप्त ॥

( ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन्नुपविष्टो राजा । )

राजा—( निःश्वस्य । )

सन्तापो हृदय स्मरानलकृतः सम्प्रत्ययं सह्यतां
नास्त्येवोपशमोऽस्य तां प्रति पुनः किं त्वं मुधा ताम्यसि ।
यन्मूढेन मया तदा कथमपि प्राप्तो गृहीत्वा चिरं
विन्यस्तस्त्वयि सान्द्रचन्दनरसस्पर्शो न तस्याः करः ॥ १ ॥

---

राजेति । निःश्वस्य निःश्वासं गृहीत्वा ।

अन्वयः—हृदय ! यत् तदा कथमपि प्राप्तः तस्याः सान्द्रचन्दनरसस्पर्शः करः चिरं गृहीत्वा मूढेन मया त्वयि न विन्यस्तः । ( तत् ) सम्प्रति स्मरानलकृतः अयं सन्तापः सह्यताम् । अस्य उपशमः नास्त्येव । तां प्रति पुनः किं त्वं मुधा ताम्यसि ॥१॥

संताप इति । हृदय ! चेतः । यद् यतः कारणात् यस्मात् इत्यर्थः । तदा कदलीगृहपरिसरे, कदलीगृहाद्बहि परिमिलनकालेत्यर्थः । कथमपि दैवयोगात् । प्राप्तः आसादितः तस्याः सागरिकायाः । सान्द्रचन्दनरसस्पर्शः सान्द्रस्य घनीभूतस्य चन्दनरसस्य मलयजद्रवस्य स्पर्शः सम्पर्कः इव स्पर्शो यस्य तादृशः, घनं निरन्तरं सान्द्रमि'त्यमरः । करः पाणिः । चिरमनल्पकालं । गृहीत्वा करेणादाय । मूढेन कृत्याकृत्यविवेकरहितेन । मया उदयनेन । त्वयि कामसन्तप्तहृदये । न विन्यस्तः न स्थापितः; तत् सम्प्रतीदानीम् । स्मरानलकृतः स्मरानलेन कामाग्निनाकृतः समुत्पादितः । अयं प्रत्यक्षानुभूयमानः । सन्तापः दाहः । सह्यतामनुभूयताम् । अस्य कामानलकृतसन्तापस्य । उपशमः प्रतीकारः । नास्त्येव न विद्यत एव । तां सागरिकां प्रति । पुनः भूयः । किं कथम् । मुधा व्यर्थं । 'व्यर्थके तु मुधामृषे'त्यमरः । ताम्यसि खिद्यसे । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१॥

---

( कामावस्था में राजा का प्रवेश )

राजा—(निःश्वास लेकर) हे हृदय ! अतः उस समय किसी प्रकार प्राप्त उस सागरिका के चन्दन की तरह शीतल स्पर्शवाले हाथ को पकड़ कर अप्रत्युत्पन्नमति मैंने तुम्हारे ऊपर नहीं रखा । इस हेतु कामजनित सन्ताप को सहन करो । इस व्याधि की औषधि नहीं है । अतः उस (सागरिका) के प्रति तू व्यर्थ क्यों व्याकुल हो रहा है ? ॥१॥

अहो महदाश्चर्यम् । तथा हि—

मनश्चलं प्रकृत्यैव दुर्लक्ष्यं च तथापि मे ।
कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥ २ ॥

( ऊर्ध्वमवलोक्य । ) भोः कुसुमधन्वन् !

बाणाः पञ्च मनोभवस्य नियतास्तेषामसंख्यो जनः
प्रायोऽस्मद्विध एव लक्ष्य इति यल्लोके प्रसिद्धिं गतम् ।
दृष्टं तत्त्वयि विप्रतीपमधुना यस्मादसंख्यैरयं
विद्धः कामिजनः शरैरशरणो नीतस्त्वया पञ्चताम् ॥ ३ ॥

---

अहो इति । आश्चर्यं दर्शयति तथाहीति—

अन्वय :—मनः प्रकृत्या एव चलं दुर्लक्ष्यं च । तथापि मे एतत् ( मनः ) कामेन सर्वैः शिलीमुखैः समं कथं विद्धम् ॥२॥

मन इति । मनः चित्तम् । प्रकृत्या स्वभावेन । एव चलं चञ्चलम् । दुर्लक्ष्यञ्च लक्षयितुमशक्यञ्च । तथापि मनसः चलत्वे सूक्ष्मत्वे सत्यपि । मे मम । एतन्मनः । कामेन अनङ्गेन । सर्वैः निखिलैः । शिलीमुखैः बाणैः अलिबाणौ शिलीमुखावित्यमरः । समं तुल्यकालं । एव कथम् केन प्रकारेण । विद्धम् भिन्नम् । विभावनालङ्कारः । 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' इति मम्मटः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥२॥

ऊर्ध्वमिति । कुसुमधन्वन् । कुसुमम् धनुर्यस्येति ।

अन्वय :—मनोभवस्य पञ्चबाणाः नियताः, तेषां प्रायः अस्मद्विधः एव असंख्यः जनः लक्ष्यः इति यत् लोके प्रसिद्धिं गतं तत् अधुना त्वयि विप्रतीपं दृष्टम् यस्मात् अशरणः अयं कामिजनः त्वया असंख्यैः शरैः विद्धः पञ्चतां नीतः ॥३॥

---

अहो ! महान् आश्चर्य है । जैसा कि—

मन निसर्गतः चञ्चल और दुर्भेद्य होता है, फिर भी मेरे मन को कामदेव ने (अपने) समस्त बाणों से कैसे एक साथ विद्ध कर दिया ॥२॥

राजा—(ऊपर देखकर) हे अनङ्ग !

( विचिन्त्य ) न तथाऽहमेवंविधावस्थमात्मानमनुचिन्तयामि यथाऽन्तर्निगूढकोपसंरम्भाया देव्या लोचनगोचरगतां तपस्विनीं सागरिकाम् । तथा हि—

---

बाणा इति । मनोभवस्य अनङ्गस्य । पञ्चबाणाः पञ्चसंख्यकाः बाणाः शराः । सन्ति 'उन्मादस्तापनश्च स्तम्भनः शोषणस्तथा । सम्मोहनश्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥ इति ॥ नियता निश्चिताः नियमितसंख्याकाः ततोऽन्यूनाधिका इत्यर्थः । प्रायः बाहुल्येन । अस्मद्विधः अस्माकमिव विधा प्रकारो यस्य तादृशः अस्मादृश इत्यर्थः । असंख्यो जनः अगणितलोकः । लक्ष्यः वेध्यः । लक्षं लक्ष्यं शरव्यञ्चेत्यमरः । इति यत् लोके संसारे । प्रसिद्धि गतं ख्यातं । तत् अधुना त्वयि अनङ्गविषये । विप्रतीपं विपरीतं । दृष्टं विलोकितम् । यस्मात् । यतः असंख्यैः शरैस्त्वया विद्धो । अशरणः नास्ति शरणं यस्य तत् रक्षकहीन इत्यर्थः । अयं कामिजनः कामातुरः । त्वया असंख्यैः अनन्तैः । शरैः बाणैः । विद्धः भिन्नः । पञ्चतां निधनं । स्यात्पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः, अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियामित्यमरः । तथा च बाणानां पञ्चता-लक्ष्यस्य असंख्यतेति लोक प्रसिद्धिः । किन्तु अधुना दृश्यते बाणानामसंख्यता लक्ष्यस्य पञ्चता इति स्पष्टं वैपरीत्यमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

विचिन्त्येति । एवं विधावस्थमेतादृश्यां स्थितौ वर्तमानम् । अनुचिन्तयामि शोचामि । अन्तर्गूढकोपसंरम्भाया: अन्तर्मध्ये गूढो अव्यक्तः कोपसम्भारः कोपावेगः यस्याः सा । लोचनगोचरतां लोचनयोर्नेत्रयोर्गोचरे विषये दर्शनयोग्यदेश इति यावत् ।

---

मनोभव ( कामदेव ) के पाँच ही बाण नियत हैं और उनसे मेरे जैसे ही असंख्य मनुष्य लक्ष्य बनाये जाते हैं' यह जो संसार में प्रसिद्ध हो गया है, वह अब तुम्हारे विषय में विपरीत प्रतीत होता है, क्योंकि रक्षकरहित इन कामी पुरुषों को तुम असंख्य बाणों से विद्ध करके पञ्चत्व को प्राप्त करा रहे हो ॥ ३ ॥

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वालाप कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥ ४ ॥

अन्वयः—विदितास्मि इति प्रिया प्रायेण हृदयनिहितातङ्कविधुरा आस्ते असौ ह्रिया सर्वस्य वदनं हरति,द्वयोः आलापं दृष्ट्वा आत्मविषयां कथां कलयति, सखीषु स्मेरासु अधिकं वैलक्ष्यं प्रकटयति ॥३॥

ह्रियेति । विदितास्मि राजाभिलाषितया ज्ञातास्मि इति । मत्वा प्रिया-वल्लभा । प्रायेण बाहुल्येन, सदैवेति यावत् । हृदयनिहिताङ्कविधुरा हृदये चेतसि निहितः स्थितः यः आतङ्कः भीतिः तेन विधुरा विकला सति, 'आतङ्कोभयपीडयो' इति, विधुरं तु प्रविश्लेषे' इति चामरः । आस्ते वर्तते । असौ सागरिका । ह्रिया लज्जया । सर्वस्य निखिलस्य । वदनं हरति वदनं व्यावर्तयति । द्वयोः जनयोः कयोश्चिदितियावत् । आलापं परस्परकथोपकथनम्' दृष्ट्वा निरीक्ष्य । आत्मविषयां स्वसम्बन्धिनीम् । कथां वार्तां । कलयति अवधारयति । सखीषु सहचरीषु । स्मेरासु ईषद्धसन्तीषु येन केनापि कारणेन सहासास्वितियावत् । अधिकमत्यन्तम् । वैलक्ष्यं लज्जां । प्रकटयति प्रकाशयति । स्मयमानाः सहचरीर्विलोक्य मदीयमुदन्तमेवाधिकृत्यमासां हास इति मनस्यधिकृत्याधिकं लज्जत इत्याशयः । अत्र श्लोके शंकाव्यभिचारिभावं सदर्शितम् । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । शिखरिणीवृत्तम ॥४॥

( विचार करके ) इस स्थिति में भी मुझे अपनी उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी हृदय में क्रोध के आवेग को छिपाई हुई देवी के दृष्टि पथ पर पड़ी हुई बेचारी सागरिका की । क्योंकि—

'मेरी प्रीति दूसरों ने जान ली है' यह विचार कर वह प्रिया (सागरिका) प्रायः हृदय में निहित भय से विकल रहा करती है—( अत एव ) वह सबसे अपना मुँह छिपाये रहती है । दो ( मनुष्यों अथवा सखियों ) को वार्तालाप करता देखकर उसे अपनी कथा समझने लगती है । सखियों के हँसने पर अधिक लज्जा प्रकट करती है ॥४॥

तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः ।

( ततः प्रविशति हृष्टो वसन्तकः )

विदूषकः—( सपरितोषम् ) ही ही भोः । कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो पिअवअस्सस्स परितोसो आसि जादिसो अज्ज मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ अणं सुणिअ भविस्सदित्ति तक्केमि । ता जाव गदुअ पिअवअस्सस्स णिवेदइस्सम् । कधं एसो पिअवअस्सो इमं ज्जेव दिसं अवलोअन्तो चिट्ठदि । तह तक्केमि मं एव्व पडिवालेदित्ति । ता उवसप्पामि णम् । जअदु जअदु पिअवअस्सो । भो वअस्स दिट्ठिआ अड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए ।

[ ही ही भोः । कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्य परितोष आसीद्यादृशोऽद्य मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि । तद्यावद् गत्वा प्रियवयस्यस्य निवेदयिष्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) कथमेष

---

वार्तान्वेषणाय वार्तायाः समाचारस्य अन्वेषणाय ज्ञानाय । गतः यातः ।

विदूषकेति । ही ही हास्ये । 'ही ही शब्दो विस्मयहास्योरिति' मेदिनी कौशाम्बीराज्यलाभेन उदयननगरी तस्या राज्यं राजत्वं तस्य लाभेन । परितोषः सन्तोषः । प्रियवचनं सम्भावितप्रियासमागमवचनम् । यावदवधारणार्थः । प्रतिपालयति प्रतीक्षते । वर्द्धसे अभ्युदेति । समीहिताभ्यधिकया समीहितात् सागरिकायाः कुशलवार्तायाः लाभरूपात् वाञ्छितात् अभ्यधिकया सागरिकासमागमसमायोजनरूपया । सिद्ध्या निष्पत्या, 'सिद्धिर्निष्पत्तियोगयोरिति विश्वः ।

---

उसका समाचार लाने के लिए गया वसन्तक विलम्ब क्यों कर रहा है ।

( तत्पश्चात् हर्षित वसन्तक प्रवेश करता है )

विदूषक—( संतोषपूर्वक ) हहह ! कौशम्बी राज्य के मिलने पर भी हमारे मित्र को इतनी प्रसन्नता नहीं हुई होगी जितनी मुझसे प्रियवार्ता सुनकर होगी, ऐसा मेरा अनुमान है । अतः चलकर मित्र से कह दूँ । ( घूमकर और देखकर ) क्या यह प्रिय मित्र इसी ओर देखते हुए खड़े हैं । प्रतीत होता है

प्रियवयस्य इमामेव दिशमवलोकयंस्तिष्ठति । तर्कयामि मामेव प्रतिपालयतीति । तदुपसर्पाम्येनम् । ( उपसृत्य । ) जयतु जयतु प्रियवयस्यः । भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या । ]

राजा—( सहर्षम् ) वयस्य अपि कुशलं प्रियायाः ।

विदूषकः—(सगर्वम् ।) भो अचिरेण सअंज्जेव पेक्खिअ जाणिस्ससि ।
[ भो अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि । ]

राजा—( सपरितोषम् ) वयस्य दर्शनमपि भविष्यति प्रियायाः ।

विदूषकः—( साहंकारम् । ) भो कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्पइबुद्धिविहवो अहं अमच्चो ।
[ भोः कस्मान्न भविष्यति यस्य ते उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः । ]

---

विषदूकेति । प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । ज्ञास्यसि अवगमिष्यसि ।

विदूषकेति । उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवः उपहसितः न्यक्कृतः बृहस्पतेः सुरगुरोः बुद्धेः प्रज्ञायाः विभवः समृद्धिर्येन सः । बृहस्पतेरप्यधिकबुद्धिमानित्यर्थः ।

---

कि मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं । उनके समीप चलूं । (समीप जाकर) प्रिय मित्र की जय हो जय हो । मित्र ! अभीष्ट से भी अधिक सफलता के लिए आपको बधाई है ।

राजा—( हर्षपूर्वक ) मित्र ! क्या प्रिया सकुशल है ?

विदूषक—(गर्व के साथ) मित्र, शीघ्र ही देखकर स्वयं ही जान लेंगे ।

राजा—(संतोषपूर्वक) मित्र ! क्या प्रिया का दर्शन भी हो सकेगा ?

विदूषक—( अहंकारपूर्वक ) अरे क्यों नहीं होगा, जब कि मैं तुम्हारा मंत्री हूँ, जिसकी बुद्धि बृहस्पति की बुद्धि सम्पदा को तिरस्कृत करती हो ।

राजा—( विहस्य । ) न खलु चित्रम् । किं न सम्भाव्यते त्वयि । तत्कथय । विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि ।

विदूषकः—( कर्णे ) एव्वमेव्वम् ।

[ एवमेवम् ]

राजा—( सपरितोषम् ) साधु वयस्य साधु । इदं ते पारितोषिकम् ।

[ इति हस्तादवतार्य कटकं ददाति । ]

विदूषकः—( कटकं परिधाय आत्मानं निर्वर्ण्य । ) भो इमं ताव सुद्धसुवण्णकडअमण्डिअहत्थं अत्तणो बम्मणीए गदुअ दंसइस्सम् ।

[ भो इमं तावच्छुद्धसुवर्णकटकमण्डितहस्तमात्मनो ब्राह्मण्यै गत्वा दर्शयिष्यामि । ]

---

राजेति । अवतार्य निष्कास्य । कटकम् वलयम् । ददाति विदूषकायार्पयति । अत्र राजा सागरिकासमागमप्रबन्धार्थं विदूषकाय साम्ना प्रशंसया कटकदानेन च संगृह्णाति । अतोऽत्र संग्रहो नाम गर्भसन्धेरङ्गं सन्दर्शितम् । तदुक्तं दशरूपके 'संग्रहः सामदानोक्तिरिति ।

विदूषकेति । शुद्धसुवर्णकटकमण्डितहस्तम् शुद्धं द्रव्यान्तरासङ्कीर्णं यत् सुवर्णं हेमनिर्मितेन कटकेन मण्डितः अलङ्कृतः यः हस्तः करः तम् । ब्राह्मण्यै स्वकान्तायै ।

---

राजा—( हँसकर ) यह आश्चर्य नहीं है । तुमसे क्या संभव नहीं है ? तो कहो, मैं विस्तार से सुनना चाहता हूँ ।

विदूषक—( कान में ) ऐसा ऐसा ।

राजा—( संतोषपूर्वक ) धन्यवाद मित्र ! धन्यवाद । यह रहा तुम्हारा पारितोषिक । ( हाथ से निकालकर कङ्कण देता है । )

विदूषक—( कटक पहनकर अपने को देखकर ) मित्र ! शुद्ध सुवर्ण-निर्मित कङ्कण से शोभित इस हाथ को अपनी स्त्री को जाकर दिखाऊँगा ।

राजा—( हस्ते गृहीत्वा निवारयन् । ) सखे पश्चाद् दर्शयिष्यसि । ज्ञायतां तावत्किमवशिष्टमह्न इति ।

विदूषकः—( विलोक्य । ) भो पेक्ख पेक्ख । एसो क्खु गुरुआणुराओ क्खित्तहिअओ सञ्झावहूदिण्णसंकेदो विअ अत्थगिरिशिहरकाणणं अणुसरदि भअवं सहस्सरस्सी ।

[ भो प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एष खलु गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयः सन्ध्यावधूदत्तसंकेत इवास्तगिरिशिखरकाननमनुसरति भगवान्सहस्ररश्मिः । ]

राजा—( विलोक्य सहर्षम् । ) सखे सम्यगुपलक्षितम् । पर्यवसितमहः । तथा हि—

---

राजेति । निवारयन् निरुन्धन् । अह्नः दिवसः ।

विदूषकेति । गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयः गुरुणा महता अनुरागेण स्नेहेन उत्क्षिप्तं विह्वलीकृतं हृदयं मनः यस्य सः । संध्यावधूदत्तसङ्केतः सन्ध्या एव वधूः संध्यावेला नायिका तया दत्तः कृतः सङ्केतः अमुकसमये अमुकस्थले त्वया आगन्तव्यमित्येवं रूपः यस्य तथाविधः । अस्तगिरिशिखरकाननम् अस्तगिरेः अस्ताचलस्य शिखरे शृङ्गे यत् काननं वनं तत् 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गमि'त्यमरः सहस्ररश्मिः सूर्यः ।

---

राजा—( हाथ पकड़कर, रोकता हुआ ) मित्र ! बाद में दिखाना । तब तक यह ज्ञात करो कि कितना दिन शेष रहा है ।

विदूषक—( देखकर ) मित्र ! देखो देखो । ये गहरे अनुराग से विह्वल हृदयवाले और संध्यारूपी नायिका द्वारा गृहीत संकेतवाले भगवान् सहस्ररश्मि ( सूर्य ) अस्ताचल की चोटी पर अवस्थित वन की ओर जा रहे हैं ।

राजा—( देखकर सहर्ष ) मित्र ! तुमने सम्यक् देखा है । दिवस की परिणति हो रही है । क्योंकि—

अध्वानं नैकचक्रः प्रभवति भुवनभ्रान्तिदीर्घं विलङ्घ्य
प्रातः प्राप्तुं रथो मे पुनरिति मनसि न्यस्तचिन्तातिभारः ।
सन्ध्यामृष्टावशिष्टस्वकरपरिकरस्पष्टहेमारपङ्क्तिः
व्याकृष्यावस्थितोऽस्तक्षितिभृति नयतीवैष दिक्चक्रमर्कः ॥५॥

अन्वयः—एकचक्रः मे रथः भुवनभ्रान्तिदीर्घम् अध्वानम् विलङ्घ्य प्रातः पुनः प्राप्तुं न प्रभवति । इति मनसि न्यस्तचिन्तातिभारः एषः अर्कः अवस्थितः (सन्) सन्ध्यामृष्टावशिष्टस्वकरपरिकरस्पष्टहेमारपङ्क्तिः दिक्चक्रम् व्याकृष्य अस्तक्षितिभृति नयतीव ॥५॥

अध्वानमिति । एकचक्रः एकं चक्रं यस्य सः द्वितीयचक्रविकलेत्यर्थः । मे मम । रथः स्यन्दनः, 'शताङ्गः स्यन्दनो रथः' इत्यमरः । भुवनभ्रान्तिदीर्घम् भुवनस्य संसारस्य भ्रान्तिः परिक्रमणं तया दीर्घं विशालम्, 'लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । अध्वानं मार्गम् । विलङ्घ्य अतिक्रम्य । प्रातः प्रभाते । प्राप्तुमुदयाचलमासादयितुम् । न प्रभवति न क्षमते । इति अनेकप्रकारेण । मनसि चेतसि । न्यस्तचिन्तातिभारः न्यस्तः स्थापितः चिन्तायाः व्यग्रतायाः अतिभारः येन तादृशः । एषः अयम् । अर्कः मार्तण्डः सूर्य इत्यर्थः, 'विकर्तनार्क-मार्तण्डमिहिरारुणपूषणः' इत्यमरः । अवस्थितः विद्यमानः सन् । सन्ध्या-मृष्टावशिष्टस्वकरपरिकरस्पष्टहेमारपङ्क्तिः सन्ध्या सायंकालेन आमृष्टाः विलुप्ताः तेभ्यः अवशिष्टाः अतिरिक्ताः यः स्वकराणां निजकिरणानां परिकरः समूहः स एव स्पष्टा स्फुटं भासमाना हेम्नः सुवर्णस्य अराणां नेम्यवष्टम्भकदण्डानाम्, पङ्क्तिः परम्परा यस्य तादृशम् । दिक्चक्रम् दिङ्मण्डलरूपं चक्रं । व्याकृष्य आकृष्य । अस्तक्षितिभृति अस्ताचले । नयतीव योजयतीव । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । स्रग्धरावृत्तम् ॥५॥

एक चक्केवाला मेरा रथ त्रिभुवन की परिक्रमा से दीर्घ मार्ग को तय करके प्रातःकाल पुनः उदयाचल पर पहुँचने में समर्थ नहीं होगा । इस प्रकार की चिन्ता को हृदय में रखकर यह सूर्य अस्ताचल पर अवस्थित होते हुए सन्ध्या के द्वारा लुप्त होने से बची हुई अपनी किरणों के समूहरूपी प्रकाशमान सुवर्ण के अरों की पंक्ति वाले दिशामण्डल रूप चक्के को मानो अस्ताचल पर ले जा रहे हैं ।

अपि च—

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥ ६ ॥

---

अन्वयः—पद्मनयने ! यातः अस्मि . एषः मम समयः, सुप्ता भवती मया एव प्रतिबोधनीया अस्तमस्तकनिविष्टकरः अयम् सूर्यः सरोरुहिण्याः इति प्रत्यायनाम् इव करोति ॥६॥

यातोऽस्मीति । हे पद्मनयने ! पद्म ( कमलम् ) एव नयने नेत्रे यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, पक्षान्तरे—पद्मम् इव नयने यस्याः सा तत्सम्बद्धौ । यातः अस्मि प्रस्थितोऽस्मि । एषः अयं । मम मे । समयः गमनावसरः, 'समयः शापथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । सुप्ता निद्रामुपागता निशिमुद्रितेत्यर्थः । भवती त्वं कमलिनी इति यावत् । मया एव सूर्येणैव । प्रतिबोधनीया उद्बोधनीया । अस्तमस्तकनिविष्टकरः अस्तमस्तके अस्ताचलशिखरे निविष्टाः स्थिताः कराः किरणाः यस्य ताद्दशः अस्ताचलशिखरन्यस्तकिरण इत्यर्थः 'अस्तस्तु चरमक्ष्माभृत्' इत्यमरः । अयं सूर्यः दृश्यमानः दिनकरः । इति एवं प्रकारेण । सरोरुहिण्याः कमलिन्याः । प्रत्यायनाम् आश्वासनाम् । इव करोति विदधाति पक्षान्तरे—प्रतिबोधनमिव करोति । अत्र कमलिनीसूर्यवृत्तान्तव्याजेन नायिकानायकयोः भाविवृत्तान्तः अन्योक्त्या एव सूचितः । तेन अन्योक्तिसूचकं पताकास्थानकं सन्दर्शितम् । यथाऽऽहुः रूपककाराः 'प्रस्तुतागन्तु भावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् । पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् इति ॥ समासोक्तिरलङ्कारः । यदुक्तं काव्यप्रकाशे 'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः इति । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥६॥

---

और भी—

हे कमलरूप नेत्रों वाली ! (पक्षा०—हे कमल के समान नेत्रों वाली !) यह मेरे जाने का समय है, मै जा रहा हूँ । सुबह सोती हुई तुमको मैं ही विकसित करूँगा (पक्षा-मैं ही जगाऊंगा) इस प्रकार अस्ताचल के शिखर पर किरणों को स्थापित किया हुआ,यह सूर्य कमलिनी(नायिका)को मानो सान्त्वना दे रहा है॥ ६॥

तदुत्तिष्ठ । माधवीलतामण्डपं गत्वा प्रियतमासंकेतावसरं प्रतिपालयावः।

विदूषकः—भो सोहणं भणिदं ।
[ भोः शोभनं भणितम् ] ( इत्युत्तिष्ठति । )

विदूषकः—( विलोक्य । ) भो वअस्स पेक्ख पेक्ख । एसो क्खु बहलीकिदविरलवणराइसंनिवेसो गहीदघणपङ्कपीवरबणवराहमहिसकिसिणच्छवी पसरदि पूव्वदिसं पच्छादअन्तो तिमिरसंघाओ ।

[ भोः वयस्य प्रेक्षस्व । एष खलु बहलीकृतविरलवनराजिसन्निवेशो गृहीतघनपङ्कपीवरवनवराहमहिषकृष्णच्छविः प्रसरति पूर्वदिशं प्रच्छादयंस्तिमिरसंघातः । ]

---

विदूषकेति । बहलीकृतविरलवनराजिसन्निवेशः अबहलः बहलः सम्पद्यमानः कृतः घनीकृतः विरलः अनिबिडः वनराजीनां तरुपङ्क्तिनां सन्निवेशः संस्थानं येन तादृशः । वनान्तरालं पूरयित्वा, घनमिव वनं दर्शयन्नित्यर्थः । गृहीतघनपङ्कपीवरवनवराहमहिषकृष्णच्छविः गृहीतः वपुषि लिप्तः घनः गाढः पङ्कः कर्दमः यैस्ते गृहीतघनपङ्काः, पीवराः स्थूलाः वनस्य काननस्य वराहाः सूकराः महिषाः आरण्यमहिषाः तेषां कृष्णा श्यामा छविः कान्तिः इव छविः यस्य तादृशः । तिमिरसङ्घातः तमस्समूहः ।

---

अतः उठो !, माधवीलतामण्डप में जाकर प्रिया के आने के अवसर की प्रतीक्षा करें ।

विदूषक—तुमने सुन्दर बात कही । ( यह कह कर उठता है )

विदूषक—( देखकर ) मित्र ! देखो ! देखो तो ! विरल वनपंक्तियों की स्थिति को सुघन बनाने वाला और गाढ पङ्कलिप्त वन्य शूकरों तथा वन्य महिषों के समान श्यामल छवि वाला यह अन्धकार समूह ( घनान्धकार ) पूर्व दिशा को आच्छादित करता हुआ प्रसर रहा है ।

राजा—( सामन्ताद्विलोक्य ) सखे साधु दृष्टम् । तथा हि—

पुरः पूर्वामिव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
क्रमात्क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति ।
उपेतः पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं
तमःसंघातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहरः ॥ ७ ॥

---

अन्वयः—हरकण्ठद्युतिहरः अयं तमः सङ्घातः पुरः पूर्वामिव दिशं स्थगयति । ततः अन्यामपि । क्रमात् क्रामन् अद्रिद्रुमपुरविभागान् तिरयति । तदनुपीनत्वम् उपेतः भुवनस्य ईक्षणफलं हरति ॥ ७ ॥

पुर इति । हरकण्ठद्युतिहरः हरस्य शिवस्य कण्ठः गलदेशः तस्य या द्युतिः कान्तिः तां हरति अनुकरोति यः तादृशः । अयं दृश्यमानः । तमः सङ्घातः तिमिरपुञ्जः । पुरः प्रथमं । पूर्वामिव प्राचीमेव । दिशमाशां 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्चेत्यमरः । स्थगयति आवृणोति । ततः पश्चात् । अन्यामपि पूर्वेतरामपि । क्रमात् क्रमशः । क्रामन् गोत्राणां व्याप्नुवन् । अयं अद्रिद्रुमपुरविभागान् अद्रीणाम् गोत्राणां पर्वतानामिति यावत्, द्रुमाणामनोकहानाम् पुराणाम ग्रामाणाञ्च विभागान् । 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावा' इति, 'अनोकहः कुटः शालः पलाशीद्रुद्रुमागमाः' इत्युभयत्राप्यमरः । तिरयति आच्छादयति । तदनु, तदनन्तरम् । पीनत्वं गाढताम् । उपेतः प्राप्तः । भुवनस्य संसारस्य । ईक्षणफलमीक्षणानां नेत्राणां फलं नेत्रसाफल्यमित्यर्थः । हरति नाशयति । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ७ ॥

---

राजा—( सर्वत्र देख कर ) मित्र ! तुमने सम्यक् देखा । क्योंकि—

भगवान् शंकर के गलप्रदेश का अनुकरण करने वाला यह घनान्धकार पहले पहल पूर्व दिशा को व्याप्त करता है, तत्पश्चात् अन्य दिशाओं को भी व्याप्त करता हुआ क्रमशः प्रसारित होता हुआ पर्वतों, वृक्षों तथा नगरों के पृथक् पृथक् विभाजन को आच्छादित कर देता है । तदनन्तर गाढता को प्राप्त होकर संसार के नेत्रफल ( दृग् शक्ति ) का अपहरण कर लेता है ॥ ७ ॥

तदादेशय मार्गम् ।

विदूषकः—एदु एदु पिअवअस्सो ।
[ एत्वेतु प्रियवयस्यः । ]

( परिक्रामतः । )

विदूषकः—( निरूप्य । ) भो वअस्स एदं क्खु समासण्णं संसत्तवहलपत्तपादबलदाहिं पिण्डीकिदिकदान्धआरं विअ मअरन्दुज्जाणम् । ता कहं एत्थ मग्गो लक्खीअदि ।

[ भो वयस्य एतत्खलु समासन्नं संसक्तवहलपत्रपादपलताभिः पिण्डीकृतान्धकारमिव मकरन्दोद्यानम् । तत्कथमत्र मार्गो लक्ष्यते । ]

राजा—( गन्धमाघ्राय । ) वयस्य गच्छाग्रतः । ननु सुपरिज्ञात एवात्र मार्गः तथा हि—

---

विदूषकेति । संसक्तबहुलपत्रपादपलताभिः संसक्ताः अविरलाः बहुलपत्राः निबिडपत्राः ये पादपाः वृक्षाः लताः वल्लर्यः च ताभिः । पिण्डीकृतान्धकारम् पिण्डीकृतः सञ्चितः अन्धकारः तमः यस्मिन्, तत् । वृक्षलतानां पत्राणि अन्योन्य मिलितानि सन्ति तैरन्धकारः पिण्डीकृत इवावभासत इति भावः ॥

---

इसलिये मार्ग बताओ ।

विदूषक—प्रिय मित्र ! आओ आओ । ( दोनों चलने लगते हैं )

विदूषक—( देखकर ) मित्र ! यह निकट ही परस्पर संसक्त घने पत्तों वाले वृक्षों और लताओं से मानो एकत्र किये हुए अन्धकार के सदृश मकरन्दोद्यान है । तो इसमें मार्ग कैसे दिखाई देगा ?

राजा—( गन्ध सूंघकर ) मित्र ! आगे चलो । यह मार्ग तो सुपरिचित ही है । क्योंकि—

पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्दुवारः
सान्द्रा वीथी तथेयं बकुलविटपिनां पाटलापङ्क्तिरेषा।
आघ्रायाघ्राय गन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मिन्
व्यक्तिं पन्थाः प्रयाति द्विगुणतरतमोनिह्नुतोप्येष चिह्नैः ॥ ८॥

( इति परिक्रामतः। )

---

अन्वयः—नियतम् इयं चम्पकानां पाली, अयम् असौ सुन्दरः सिन्दुवारः तथा इयं बकुलविटपिनां सान्द्रा वीथी, एषा पाटलापङ्क्तिः एवम् अस्मिन् द्विगुणतरतमोनिह्नूतः अपि एषः पन्थाः विविधं गन्धम् आघ्राय आघ्राय अधिगतैः पादपैः चिह्नैः व्यक्तिं प्रयाति ॥ ८॥

पालीयमिति। नियतं निश्चितम्। इयं निकटवर्तिनी। चम्पकानां चम्पकवृक्षाणां। पाली पङ्क्तिः। 'पाली पङ्क्तावङ्कः प्रभेदयोः' इति मेदिनी। अयमेषः। असौ सः। सुन्दरः शोभनः। सिन्दुवारः निर्गुण्डीवृक्षः। तथा किञ्च इयमेषा बकुलविटपिनाम् केसरवृक्षाणाम्। सान्द्रा घनीभूता, 'घनं निरन्तरं सान्द्रमि'त्यमरः। वीथी पंक्तिः; 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः' इत्यमरः। एषा पाटलापङ्क्तिः पाटलानां पङ्क्तिः श्रेणी। द्विगुणतरतमोनिह्नुतः द्विगुणतरेण अतिशयेन तमसा अन्धकारेण निह्नुतः प्रच्छन्नः अपि एषः पन्थाः मार्गः। विविधं नानाप्रकारकं गन्धमामोदं सुवासमाघ्रायाघ्राय पुनः घ्राणेन लब्ध्वा। एवमनेन प्रकारेण। अधिगतैः प्राप्तैः। पादपैः वृक्षैः। चिह्नैः लक्ष्मभिः, 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणमि'त्यमरः। व्यक्तिं स्फुटीभावं। प्रयाति गच्छति॥ स्रग्धरावृत्तम् ॥ ८॥

---

निश्चित ही यह चम्पक वृक्षों की कतारें हैं, यह वही सुन्दर सिन्दुवार वृक्ष है तथा यह मौलसिरी वृक्षों की घनी झाड़ियाँ हैं। यह पाटल पादपों की श्रेणी है। इस प्रकार इसमें अतीव अन्धकार से छिपा हुआ यह मार्ग अनेक प्रकार की सुगन्ध सूंघ-सूंघ कर प्राप्त वृक्षरूपी चिह्नों से स्पष्ट हो रहा है॥८॥

( यह कह कर दोनों घूम जाते हैं )

विदूषकः—भो एदं क्खु णिवडन्तमत्तमहुअरं कुसुमामोदवासिददसदिसं मसिणमरअदमणिसिलाकुट्टिमसुहाअन्तचलणसंचारसूचिदं तं एव्व माहवीलदामण्डपं सम्पत्तम्ह । ता इह ज्जेव्व चिट्ठदु भवं जाव अहं देवीवेसधारिणं साअरिअं गेण्हिअ लहुं आअच्छामि ।

[ भो एतं खलु निपतन्मत्तमधुकरं कुसुमामोदवासितदशदिशं मसृणमरकतमणिशिलाकुट्टिमसुखायमानचरणसंचारसूचितं तमेव माधवीलतामण्डपं सम्प्राप्तौ स्वः । तदिहैव तिष्ठतु भवान् यावदहं देवीवेषधारिणीं सागरिकां गृहीत्वा लघ्वागच्छामि । ]

राजा—वयस्य तेन हि त्वर्यताम् ।

विदूषकः—भो मा उत्तम्म । एस आगदोम्हि ।

[ भोः मोत्ताम्य । एष आगतोऽस्मि । ] ( इति निष्क्रान्तः । )

---

विदूषकेति । निपतन्मत्तमधुकरम् निपतन्तः मधुलोभादागत्य मिलन्तः मत्ताः उन्मत्ताः मधुकराः भ्रमराः यत्र तम् । कुसुमामोदवासितद्दिशम् कुसुमानां पुष्पाणामामोदेन वासिताः सुरभीकृताः दशदिशः येन तादृशम् । मसृणमरकतमणिशिलाकुट्टिमसुखायमानचरणसञ्चारसूचितम् मसृणाः चिक्कणाः याः मरकतमणीनां गारुत्मतरत्नानां शिलाः पाषाणाः ताभिः कुट्टिमे बद्धभूमौ सुखायमानः सुखमनुभवन् यः चरणसञ्चारः पादविहारः तेन सूचितं परिज्ञातम् । सम्प्राप्तौ समागतौ इहैव माधवीलतामण्डप एव ।

---

विदूषक—मित्र ! हम दोनों उसी माधवीलता के मण्डप में आ गये हैं, जहाँ मत्त भ्रमर गिर रहे हैं, पुष्पों के परिमल गंध से दसों दिशाएँ सुवासित हो रही हैं, मसृण (चिकने) मरकतमणियों की शिलाओं से निर्मित आबद्धभूमि (पक्की भूमि) पर सुखानुभव करते हुए चरणों के संचार से सूचित हो रहा है। अतः तुम यहीं रहो जब तक मैं वासवदत्ता वेषधारिणी सागरिका को लेकर शीघ्र आ रहा हूँ ।

राजा—मित्र ! जहाँ तक सम्भव हो शीघ्रता करो ।

विदूषकः—अरे ! खेद न करो, अभी आ रहा हूँ । ( यह कहकर चला जाता है । )

राजा—यावदहमप्यस्यां मरकतशिलावेदिकायामुपविश्य प्रियायाः संकेतसमयं प्रतिपालयामि ( उपविश्य सचिन्तम् । ) अहो कोऽपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनी जनमभिनवं प्रति पक्षपातः । तथा हि—

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताऽप्यहो
रमयतितरां संकेतस्था तथापि हि कामिनी ॥ ९ ॥

---

राजेति । मरकतशिलावेदिकायाम् मरकतस्य शिला पाषाणः तस्याः वेदिका बद्धोच्चा भूमिः तस्याम् । उपविश्यासित्वा । सङ्केतसमयमागमननिर्धारितकालं । प्रतिपालयामि, प्रतीक्षे । स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनः स्वस्याः गृहिण्याः आत्मपत्न्याः समागमः सम्भोगः तं परिभावयति तिरस्करोति इति तस्य । अभिनवजनम् अभिनवः नूतनः यः जनः लोकः नूतनारमणीत्यर्थः । पक्षपातः आदराधिक्यम् ।

अन्वयः—सङ्केतस्था कामिनी शङ्किता ( सती ) वक्त्रे प्रणयविशदां दृष्टिं न ददाति, कण्ठाश्लेषे रसात् पयोधरौ घनं न घटयति । प्रयत्नधृतापि गच्छामि इति बहुशः वदति । तथापि अहो रमयतीतराम् हि ॥९॥

प्रणयेति । सङ्केतस्था सङ्केतस्थले या तिष्ठति तादृशी । कामिनी प्रमदा । शङ्किता समुत्पन्नातङ्का समुत्पन्नातङ्का, परेण विदिता स्यामिति भीतेति यावत् । वक्त्रे मुखे । प्रणयविशदाम् स्नेहस्निग्धां । दृष्टिम् ईक्षणं । न ददाति

---

राजा—तब तक मैं भी मरकत की शिलाओं से बिनिर्मित वेदिका पर बैठकर प्रिया द्वारा संकेतित समय की प्रतीक्षा करूँ । ( बैठकर चिन्तापूर्वक ) कामुक व्यक्ति का अपनी पत्नी को छोड़कर नवीन स्त्री के प्रति समागम में विशेष पक्षपात होना आश्चर्य की बात है ।

क्योंकि—

संकेत स्थल पर उपस्थित कामिनी शंकित होने के कारण मुख पर स्नेहवर्षिणी दृष्टि नहीं डालती है, आलिंगन के समय अनुरागवश वक्षःस्थल का

अये कथं चिरयति वसन्तकः । तत् किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्या ।

( ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च )

वासवदत्ता—हञ्जे काञ्चणमाले सच्चं ज्जेव्व मम वेसं कदुअ साअरिआ अज्जउत्तं अहिसरिस्सदि ।

[ हञ्जे काञ्चनमाले सत्यमेव मम वेषं कृत्वा सागरिकाऽऽर्यपुत्रमभिसरिष्यति । ]

---

नार्पयति । कण्ठाश्लेषे आलिङ्गने । रसादनुरागप्रकर्षणात् । पयोधरौ कुचौ । घनं निबिडम् । न घटयति न योजयति । प्रयत्नधृतापि बलाद्गृहीतापि । गच्छामि इति प्रयामीति । बहुशः अनेकवारम् । वदति भणति । तथापि अहो आश्चर्यम् । रमयतितरामतिशयेनानन्दयति । हि इति निश्चये । अत्र विभावनालङ्कारः । हरिणीवृत्तम् ॥९॥

वासवदत्तेति । मम वेषं कृत्वा मम वेषधारिणी भूत्वा । अभिसरिष्यति अभिसारं करिष्यति ।

---

स्पर्श नहीं होने देती, और प्रयत्नपूर्वक पकड़ी जाने पर भी 'मैं जा रही हूँ' इस प्रकार बार-बार कहती है, तथापि वह अत्यन्त आनन्द देती है यह आश्चर्य है ॥९॥

( तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला का प्रवेश )

वासवदत्ता—अयि काञ्चनमाले ! क्या यथार्थ में सागरिका मेरा वेष धारण कर आर्य पुत्र ( महाराज ) को अभिसार करेगी ?

काञ्चनमाला—मैं स्वामिनी से असत्य कैसे कह सकती हूँ । अथवा चित्र शालिका के द्वार पर अवस्थित वसन्तक ही आपको विश्वास करा देगा ।

काञ्चनमाला—कधं अण्णधा भट्टिणीए णिवेदीअदि । अध वा चित्तसालिआदुआरेट्ठिदो वसन्तओ ज्जेव्व दे पच्चअं उप्पादइस्सदि ।

[ कथमन्यथा भट्टिन्यै निवेद्यते । अथ वा चित्रशालिकाद्वारे स्थितो वसन्तक एव ते प्रत्ययमुत्पादयिष्यति । ]

वासवदत्ता—तेण हि तहिं ज्जेव गच्छम्ह ।

[ तेन हि तत्रैव गच्छावः । ]

काञ्चनमाला—एदु एदे भट्टिणी ।

[ एत्वेतु भट्टिनी । ]

( उभे परिक्रामतः । )

( ततः प्रविशति कृतावगुण्ठनो वसन्तकः )

वसन्तकः—( कर्णं दत्त्वा । ) जधा चित्तसालिआदुआरे पदसद्दो सुणीअदि तधा तक्केमि आगदा साअरिअत्ति ।

[यथा चित्रशालिकाद्वारे पदशब्दः श्रूयते तथा तर्कयाम्यागता सागरिकेति ।]

---

काञ्चनमालेति । अन्यथा एतद्वैपरीत्यमसत्यमिति यावत् । प्रत्ययं विश्वासम् । उत्पादयिष्यति जनयिष्यति ।

तत इति । कृतावगुण्ठन. कृतं विहितं अवगुण्ठनं मुखप्रच्छादनं येन सः । कृतशिरच्छादनं येन सः । कृतशिरच्छादनो वा ।

वसन्तक इति । कर्णं दत्वा आकर्णनाभिनयं कृत्वा । पदशब्दः पदयोः चरणयोः शब्दः ध्वनिः चरणध्वनिः इत्यर्थः ।

---

वसन्तक क्यों विलम्ब कर रहा है ? तो क्या महारानी ने यह सब वृत्तान्त जान तो नहीं लिया ।

वासवदत्ता—यदि ऐसा है तो वहीं चलते हैं ।

काञ्चनमाला—आइए महारानी ! आइए ।

( दोनों परिक्रमण करती हैं )

( तब शिरच्छादन किये हुए वसन्तक का प्रवेश )

वसन्तक—( कान देकर ) चित्र शालिका के द्वार पर पैरों की आहट सुनाई पड़ रही है, उससे लगता है कि सागरिका आ गई है ।

काञ्चनमाला—भट्टिणि इणं सा चित्तसालिआ। ता जाव वसन्त-अस्स सण्णं करेमि।

[ भट्टिनि इयं सा चित्रशालिका। तद्यावद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि। ]
( इति छोटिकां ददाति। )

विदूषकः—(सहर्षमुपसृत्य सस्मितम्) सुसंगदे सुट्ठु क्खु किदो तुए एसो कञ्चणमालाए वेसो। अध साअरिआ दाणिं कहिं।

[ सुसंगते सुष्ठु खलु कृतस्त्वयैव काञ्चनमालाया वेषः। अथ सागरिकेदानीं कुत्र। ]

काञ्चनमाला—( अङ्गुल्या दर्शयन्ती। ) णं एसा!

[ नन्वेषा। ]

विदूषकः—( दृष्ट्वा सविस्मयम्। ) एसा फुढं एव्व देवी वासवदत्ता
[ एषा स्फुटमेव देवी वासवदत्ता। ]

---

काञ्चनमालेति। संज्ञां करोमि स्वागमनसूचनां ददामि। हस्तादि-कृतार्थसूचनामिति, यावत् 'संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचना' इत्यमरः। छोटिकामङ्गुलिध्वनिविशेषम्।

---

काञ्चनमाला—स्वामिनी! यही वह चित्रशालिका है। तो मैं भी हस्तादि के संकेतों से वसन्तक को सचेत करती हूँ।

( चुटकी बजाती है। )

विदूषक—( सहर्ष समीप जाकर हँसते हुए ) सुसंगवे! तुमने काञ्चनमाला का वेश ठीक लिया है। पर अब सागरिका कहाँ है?

काञ्चनमाला—( अंगुली से संकेत करती हुई ) यही तो है।

विदूषक—( देख कर विस्मय पूर्वक ) यह तो वासवदत्ता ही प्रतीत हो रही है।

वासवदत्ता—( साशङ्कमात्मगतम् । ) कधं जाणिदम्हि ।
[ कथं ज्ञातास्मि । ]

विदूषकः—( छोटिकां ददाति । ) भोदि साअरिए इदो आअच्छ ।
[ भवति सागरिके इत आगच्छ । ] ( वासवदत्ता विहस्य काञ्चनमालामवलोकयति ।)

काञ्चनमाला—( अपवार्य अङ्गुल्या तर्जयन्ती । ) हदास सुमरिस्ससि एदं अत्तणो वअगम् ।

[ हताश स्मरिष्यस्येतदात्मनो वचनम् । ]

विदूषकः तुअरदु तुअरदु साअरिआ । एसो क्खु पूव्वदिसासो उग्गच्छदि भअवं मिअलञ्छणो ।

[ त्वरतां त्वरतां सागरिका । एष खलु पूर्वदिश उद्गच्छति भगवान्मृगलाञ्छनः । ] ( परिक्रामति । )

---

वासवदत्तेति । साशङ्कं वसन्तकवाक्यस्य वासवदत्तैवेयमित्यभिप्रायमाशङ्क्येत्यर्थः ।

काञ्चनमालेति । हताशः हताः आशा यस्य तादृशः । निष्फलाभिलाषेत्यर्थः ।

विदूषक इति । मृगलाञ्छनः मृगः लाञ्छनं चिह्नं यस्य सः चन्द्रः उदगच्छति उदेति ।

---

वासवदत्ता—( शका पूर्वक मन में ) क्या इसने मुझे जान लिया है ?

विदूषक—( चुटकी बजाता है । ) देवी सागरिका ! इधर आओ । ( वासवदत्ता हँस कर कञ्चनमाला को देखती है )

काञ्चनमाला—(मुख एक ओर करके अंगुली से तर्जनी करती हुई) हताश ! तुम अपने इस वचन को याद करोगे ।

विदूषक—सागरिके ! शीघ्रता करो, शीघ्रता करो । ये भगवान् चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदित हो रहे हैं । ( चलता है । )

राजा—अये उपस्थितप्रियासमागमस्यापि किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति मे चेतः । अथ वा ।

तीव्र स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि नितरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥ १० ॥

---

राजेति । उपस्थितप्रियासमागमः उपस्थित आसन्नः प्रियायाः समागमः सङ्गतिर्यस्य स तस्य । किं कथम् । उत्ताम्यति उत्कण्ठितं भवति ।

अन्वयः—तीव्रः स्मरसन्तापः आसन्ने यथा बाधते तथा न आदौ ( बाधते ) प्रावृषि अभ्यर्णजलागमः दिवसः नितराम् तपति ॥१०॥

तीव्र इति । तीव्र कठोरः । स्मरसन्तापः कामजदाहः । आसन्ने प्रियजने निकटवर्तिनि सति । यथा बाधते पीडयति । तथा न आदौ तदासक्तेः पूर्वम् । बाधते पीडयति । तदेव दर्शयति प्रावृषि वर्षाकाले । अभ्यर्णजलागमः अभ्यर्णः अचिरभावी जलागमो वृष्टिपातः यस्मिन् स तादृशः । दिवसः दिनं । नितरां निरन्तरम् । तपति तापं जनयति । उभयत्रैकस्य सन्तापकत्वधर्मस्य निर्देशात् प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । यदुक्तं काव्यप्रकाशे प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्रवाक्यद्वये स्थितिः इति । अत्र सागरिकासमागमोत्सुकस्य वत्सराजस्य भ्रान्तसागरिका प्राप्तिस्तस्माद् क्रमो नाम गर्भसन्धेरङ्गं सदर्शितम् । यथाऽऽहुः दशरूपकाराः 'क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिरिति ॥ आर्यावृत्तम् ॥१०॥

---

राजा—अये ! प्रिया-समागम उपस्थित होने पर भी यह मेरा चित क्यों व्याकुल हो रहा है । अथवा—

तीव्र काम-पीड़ा प्रिया समागम समीप होने पर जितना सताती है उतना पहले नहीं सताती है । जैसे वर्षा ऋतु में आसन्नवृष्टिवाला दिन निरन्तर तपता (उमस भरा) रहता है ॥ १० ॥

विदूषकः—( कर्णं दत्त्वा । ) भोदि साअरिए एसो क्खु पिअवअस्सो तुमं ज्जेव्व उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि। ता णिवेदेमि से तुहागमणम् ।

[ भवति सागरिके एष खलु प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयते । तन्निवेदयाम्यस्मै तवागमनम् । ]

वासवदत्ता—( शिरःसंज्ञां ददाति । )

विदूषकः—( राजानमुपसृत्य । ) भो वअस्स दिट्ठिआ वड्ढसि । एसा क्खु मए आणीदा साअरिआ ।

[ भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे । एषा खलु मयाऽऽनीता सागरिका । ]

राजा—( सहर्षं सहसोत्थाय ) वयस्य क्वासौ क्वासौ ?

विदूषकः—णं एसा ।

[ नन्वेषा । ]

राजा—( उपसृत्य । ) प्रिये सागरिके ।

---

विदूषक इति । उत्कण्ठानिर्भरम् उत्कण्ठायाः निर्भरो अतिशयो यत्र तत् । यथा स्यात् तथा ।

---

विदूषक—( कान देकर ) देवी सागरिके ! प्रिय मित्र आप ही को उद्देश्य करके उत्कण्ठा से व्याकुल हो कुछ कह रहे हैं। तो इन्हें तुम्हारे आने की सूचना देता हूँ ।

वासवदत्ता—( शिर से संकेत करती है । )

विदूषक—( राजा के समीप जाकर ) मित्र ! तुम्हें बधाई है । मैं इस सागरिका को ले आया हूँ ।

राजा—( प्रसन्नता पूर्वक सहसा उठ कर ) मित्र ! वह कहाँ है ? वह कहाँ है ?

विदूषक—यही तो है ।

राजा—( समीप जाकर ) प्रिये सागरिके !

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तथोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥ ११ ॥

---

अन्वयः—( प्रिय सागरिके ! ) तव मुखं शीतांशुः, दृशौ उत्पले, करौ पद्मानुकारौ ऊरुयुगलं रम्भागर्भनिभं तथा बाहूमृणालोपमौ । इति आह्लादकराखिलाङ्गि । एहि एहि, रभसात् मां निःशङ्कालिङ्ग्य त्वम् अनङ्गतापविधुराणि अङ्गानि निर्वापय ॥११॥

शीतांशुरिति । राजा उपसृत्य । वासवदत्तां सागरिकां मत्वा कथयति । प्रिये सागरिके ! तव ते । मुखमाननम् । शीतांशुः शीताः अंशवः किरणाः यस्य सः चन्द्रइत्यर्थः । तव दृशौ नयेने । उत्पले कुवलये इव शीतले आनन्ददायिन्यौ । करौ हस्तौ । पद्मानुकारौ पद्मे अनुकुरुतः सदृशीकुरुत इति पद्मानुकारौ रक्तकमलतुल्यौ इति यावत् । ऊरुयुगलमूर्वोः सक्थ्नोः युगलं युग्मम्, 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः । रम्भागर्भनिभम् रम्भायाः कदल्याः यो गर्भः मध्यभागः तेन निभं तुल्यम् । 'निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । तथा बाहू भुजौ । मृणालोपमौ कमलनालतुल्यौ ॥ हे आह्लादकराखिलाङ्गि । त्वम् आनन्ददायिसकलावयवे मां निःशङ्कं रभसात् वेगात् । आलिङ्ग्याश्लिष्य । अनङ्गतापविधुराणि अनङ्गतापेन कामजदाहेन विधुराणि विकलानि । अङ्गानि अवयवान् । निर्वापय शीतानि कुरु । रूपकमुपमाचालङ्कारौ । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥११॥

---

तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, आँखें नील-कमल के समान हैं, दोनो हाथ कमल हैं, दोनों जंघाएँ कदली के मध्य भाग के सदृश हैं, तुम्हारी बाहें मृणाल के तुल्य हैं आनन्द दे सकनेवाले अङ्ग प्रत्यङ्गों वाली ! तुम निडर होकर मुझे आलिङ्गन करो, आओ, कामदेव के ताप से बिकल हुए मेरे अङ्गों को शीतल कर दो ॥ ११ ॥

वासवदत्ता—( सबाष्पमपवार्य । ) कञ्चणमाले एव्वं पि मन्तिअ अज्जउत्तो पुण्णो वि मं आलविस्सदित्ति अहो अच्चरिअं ।

[ काञ्चनमाले एवमपि मन्त्रयित्वार्यपुत्रः पुनरपि मामालपिष्यतीत्यहो आश्चर्यम् । ]

काञ्चनमाला—( अपवार्य । ) भट्टिणी एव्वं ण्णेदम् । किं उण साहसिआणं पुरुषाणं ण संभावीअदि ।

[ भर्त्रि एवं न्विदम् । किं पुनः साहसिकानां पुरुषाणां न संभाव्यते । ]

विदूषकः—भोदि साअरिए वीसद्धा भविअ पिअवअस्सं आलावेहि । अज्जवि दाव से णिच्चरुट्ठाए देवीए वासवदत्ताए दुट्ठवअणेहिं कटुइदाइं सोत्ताइं संपदं सुहावेदु तुह महुरवअणोवण्णासो ।

[ भवति सागरिके विश्रब्धा भूत्वा प्रियवयस्यमालप । अद्यापि तावदस्या नित्यरुष्टाया देव्या वासवदत्ताया दुष्टवचनैः कटुकिते श्रोत्रे साम्प्रतं सुखयतु तव मधुरवचनोपन्यासः । ]

---

वासवदत्तेति । एवं मन्त्रयित्वा इत्थं सागरिकामुद्दिश्य कथयित्वा । एवं स्पष्टप्रकटितसागरिकानुरागम् ।

काञ्चनमालेति । किं पुन किन्तु । साहसिकानां साहसयुक्तानां यदा एतदेव कृतं तदा कथमन्यत् कर्त्तुं न शक्यते । इति भावः ।

विदूषक इति । विश्रब्धा विश्वासयुक्ता वीतशङ्केति यावत् । आलप आलापं कुरु ! नित्यरुष्टायाः निरन्तरकुपितायाः । दुष्टवचनै कटुवाक्यैः ! श्रोत्रे कर्णौ । सुखयतु सुखी करोतु । मधुरवचनोपन्यासः मधुराणां श्रुतिप्रियाणां वचनानां वचसाम् उपन्यासः प्रस्तावः, मधुमयवचः प्रस्ताव इति यावत् ।

---

वासवदत्ता—( साश्रु एव मुँह घुमा कर काञ्चनमाले ! इस प्रकार कह कर भी आर्यपुत्र फिर मुझ से वार्तालाप करेंगे यह आश्चर्य है ।

काञ्चनमाला—( मुँह घुमा कर ) स्वामिनी ! ऐसा ही है । किन्तु साहस करने वाले पुरुषों के लिए क्या सम्भव नहीं है ।

विदूषक—सागरिके ! विश्वस्त होकर प्रिय मित्र से प्रेमालाप करो । अभी भी सतत रुष्ट रहने वाली देवी वासवदत्ता से कटु वचनों से कटु बनाये गये कानों को तुम्हारा मधुर वार्तालाप अब सुखी करे ।

वासवदत्ता—( अपवार्य सरोषस्मितम् । ) कञ्चणमाले अहं ईदिसी कडुअभासिणी । अज्जवसन्तओ उण पिअंवदो ।

[ काञ्चनमाले अहमीदृशी कटुभाषिणी । आर्यवसन्तकः पुनः प्रियंवदः । ]

काञ्चनमाला--( अपवार्य । ) हदास सुमरिस्ससदि एदं वअणम् ।

[ हताश स्मरयिष्यस्येतद्वचनम् । ]

विदूषकः—( विलोक्य ) भो वअस्स पेक्ख पेक्ख । एसो क्खु कुविद-कामिणीकपोलसण्णिहो पुव्वदिसं पआसअन्तो उदिदो भअवं मिअल-ञ्छणो ।

[ भो वयस्य प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एष खलु कुपितकामिनीकपोलसंन्निभः पूर्वदिशं प्रकाशयन्नुदितो भगवान्मृगलाञ्छनः । ]

---

वासवदत्तेति । प्रियंवदः प्रियं मधुरं वदतीति प्रियंवदः ।

विदूषक इति । कुपितकामिनीकपोलसन्निभः कुपितायाः क्रुद्धायाः कामिन्याः कपोलसन्निभः गण्डसदृशः क्रुद्धसुन्दरीगण्डदेशतुल्य इत्यर्थः । आताम्र इति यावत् ।

---

वासवदत्ता—( मुँह घुमा कर क्रोध और स्मित पूर्वक ) काञ्चन-माले! मैं ऐसी, कटुभाषण करने वाली हूँ और आर्य वसन्तक मृदु-भाषी हैं।

काञ्चनमाला—( मुँह फेर कर ) हे अधम! इन वचनों को याद करेगा ।

विदूषक—( देख कर ) मित्र ! देखो, देखो । इस कुपित कामिनी के कपोल समान ( लाल ) चन्द्रमा पूर्व दिशा को प्रकाशित करता हुआ उदित हो रहा है।

राजा—प्रिये सागरिके पश्य ।

आरुह्य शैलशिखरं त्वद्वदनापहृतकान्तिसर्वस्वः ।
प्रतिकर्तुमिवोर्ध्वकरः स्थितः पुरस्तान्निशानाथः ॥ १२ ॥

अपि च । दर्शितमनेनोद्गच्छता प्रकृतिजडत्वम् । कुतः—

किं पद्मस्य रुचं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम् ।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्येवास्ति बिम्बाधरे ॥ १३ ॥

---

अन्वयः—त्वद् वदनापहृतकान्तिसर्वस्वः निशानाथः शैलशिखरम् आरुह्य ऊर्ध्वकरः ( सन् ) प्रतिकर्तुम् इव पुरस्तात् स्थितः ॥१२॥

आरुह्येति । त्वद् वदनापहृतकान्तिसर्वस्वः त्वद् वदनेन अपहृतं कान्तिसर्वस्वं शोभासम्पत्तिर्यस्य स तथोक्तः । निशानाथश्चन्द्रमाः । शैलशिखरमुदयाचलशृङ्गम् । आरुह्य आक्रम्य । ऊर्ध्वकरः ऊर्ध्वम् उत्क्षिप्तः करः किरणः, हस्तश्च यस्य तादृशः सन्; 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । प्रतिकर्तुमिव वैरनिर्यातयितुमिव । पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि । स्थितः वर्तमानः आस्ते । समासोक्तिरलङ्कारः । आर्यावृत्तम्॥१२॥

अपि चेति । उद्गच्छता उदयमानेन । अनेन चन्द्रमसा । जडत्वमज्ञत्वम् ।

अन्वयः—( तव वक्त्रेन्दुः ) पद्मस्य रुचम् न हन्ति किम् ? नयनानन्दं न विधत्ते किम् ? वा आलोक मात्रेण झषकेतनस्य वृद्धिं न कुरुते किम् ? यत् तव वक्त्रेन्दौ सति अयम् अपरः शीतांशुः अभ्युदगतः ? चेत् अमृतेन दर्पः स्यात् तदपि इह बिम्बाधरे अस्ति एव ॥ १३ ॥

---

राजा— प्रिये सागरिके !

तुम्हारे मुख के द्वारा अपहृत सम्पूर्ण कान्ति रूपी सम्पत्ति वाला, चन्द्रमा उदय पर्वत की चोटी पर चढ़ कर रश्मियों को ऊपर उठा कर मानो प्रतीकार करने हेतु पूर्व दिशा में खड़ा है ॥ १२ ॥

वासवदत्ता—( सरोषमवगुण्ठनमपनीय । ) अज्जउत्त सच्चं एव अहं

---

किमिति । अयं तव वक्त्रेन्दुः चन्द्रवत् वा । पद्मस्य कमलस्य । रूचं त्विषम् । न हन्ति किम् न पराजयति किमपितु पराजयत्येवेति काकुः । 'स्युः प्रभारुग्रुचित्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । नयनानन्दं नेत्राणामानन्दमाह्लादकत्वं न विद्यते किम् न करोति किमपितु करोत्येवेति काकु । वाऽथवा । आलोकमात्रेण । झषकेतनस्य झषो मीनः केतनं ध्वजो यस्य सः तस्य कन्दर्पस्य । पृथुरोमा झषो मत्स्यो मीन इति, मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतन इति चामरः । वृद्धिमुद्दीप्तिम् । न कुरुते किम् न विदधाति किमपितु करोत्येवेति काकुः । यत यस्मात् । तव भवत्याः । वक्त्रेन्दौ वदनचन्द्रे सति विद्यमाने । अयं दृश्यमानः । अपरः स्वमुखातिरिक्तः । शीतांशुरिन्दुः । अभ्युदगतः उदितः ? चेद्यदि । अमृतेन सुधया । दर्पः चन्द्रस्याहङ्कारः । स्याद भवेत् । तदपि अमृतमपि ! इहास्मिन् । तव बिम्बाधरे बिम्बफलतुल्याधरोष्ठे । अस्त्येव वर्तत एव । प्रतीपालङ्कारः, यदुक्तं काव्यप्रकाशे 'आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता । तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥ इति ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १३ ॥

वासवदत्तेति । सागरिकोत्क्षिप्तहृदयः सागरिकया उत्पक्षिप्तं व्युत्क्रान्तं

---

और भी, उदित होते ही इसने अपनी स्वाभाविक जड़ता प्रकट कर दी । क्योंकि—

यह तुम्हारा मुखचन्द्र क्या कमल की कान्ति को नष्ट नहीं करता है ? अवश्य करता है । क्या नेत्रों को आनन्दित नहीं करता ? अपितु करता ही है अथवा दर्शन मात्र से काम की वृद्धि नहीं करता है ? अर्थात् करता है । जो तुम्हारे इस मुखचन्द्र के रहते यह दूसरा चन्द्रमा उदित हुआ है ? यदि चन्द्रमा को अपने में अमृत होने का अभिमान है तो वह भी तुम्हारे इस बिम्बफल तुल्य अधर में ही है ॥ १३ ॥

वासवदत्ता—( क्रोधपूर्वक घूंघट हटाकर ) आर्यपुत्र ! क्या मैं यथार्थ

साअरिआ । तुमं उण साअरिओक्खित्तहिअओ सव्वं एव्व साअरिआमअं पेक्खसि ।

[ आर्यपुत्र सत्यमेवाहं सागरिका । त्वं पुनः सागरिकोत्क्षिप्तहृदयः सर्वमेव सागरिकामयं प्रेक्षसे । ]

राजा—( सवैलक्ष्यमपवार्य । ) कथं देवी वासवदत्ता । वयस्य किमेतत् ।

विदूषकः—( सविषादम् । ) भो वअस्स किं अवरं अम्हाणं जीविअ-संसओ जादो एसो ।

[ भो वयस्य किमपरम् । अस्माकं जीवितसंशयो जात एषः । ]

राजा—( उपविश्याञ्जलिं बद्ध्वा । ) प्रिये वासवदत्ते प्रसीद प्रसीद ।

---

हृदयं चेतो यस्य स तथोक्तः । सागरिकामयम् सागरिकाप्रायम् प्रेक्षसे अवलोकयसि ।

विदूषक इति । किमेतदित्यस्योत्तरमाह किमपरमिति । अपरं किमपि न । जीवितसंशयः जीविते जीवने संशयः यस्य सः, प्राणसन्देह इत्यर्थः ।

---

ही सागरिका हूँ । सागरिका हेतु व्याकुल हृदयवाले तुम सब कुछ सागरिका-मय देख रहे हो ।

राजा—(लज्जापूर्वक मुँह घुमाकर) क्या देवी वासवदत्ता हैं ? मित्र ! यह क्या है ?

विदूषक—( खेदपूर्वक ) मित्र ! और क्या है ? यह हमारे प्राणों का संशय उपस्थित हो गया ।

राजा—( बैठकर, हाथ जोड़कर ) प्रिये वासवदत्ते ! प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ ।

वासवदत्ता—( तन्मुखाभिमुखं हस्तौ प्रसार्याश्रूणि निवारयन्ती । ) अज्जउत्त एव्वं भण । अण्णगदाइं इमाइं अक्खराइं ।

[ आर्यपुत्र मैव भण । अन्यगतानीमान्यक्षराणि । ]

विदूषकः—( आत्मगतम् । ) किं दाणिं एत्थ करिस्सं । भोदु । एव्वं दाव । भोदि महाणुभावा क्खु तुमम् । ता क्खमीअदु दाव एक्को अवराहो पिअवअस्सस्स ।

[ किमिदानीमत्र करिष्यामि । भवतु । एवं तावत् । (प्रकाशम् ।) भवति । महानुभावा खलु त्वम् । तत्क्षम्यतां तावदेकोऽपराधः प्रियवयस्यस्य । ]

वासवदत्ता--अज्ज वसन्तअ णं पढमसंगमे विग्घं करन्तीए मए एव्व एदस्य अपरद्धम् ।

[ आर्य वसन्तक, ननु प्रथमसंगमे विघ्नं कुर्वत्या मयैवैतस्यापराद्धम् । ]

---

सागरिकेति । अन्यगतानि सागरिका विषयकाणि तस्यामेव योग्यानीति यावत् । एतानि प्रसादनार्थानि ।

वासवदत्तेति । अपराद्धम अपराधः कृतः । प्रथमसङ्गमे प्रथमसमागमे ।

---

वासवदत्ता--( राजा के सम्मुख हाथ फैलाकर, आँसू रोककर ) आर्यपुत्र ! ऐसा न कहें । ये अक्षर और किसी के लिए हैं ।

विदूषक---( मन ही मन ) अब यहाँ क्या किया जाय ?

अस्तु, ऐसा ही करूँ । ( प्रकट रूप में ) देवी ! आप तो यथार्थ में उदार-हृदया हैं । अतः प्रिय मित्र का एक अपराध क्षमा कर दें ।

वासवदत्ता--आर्य वसन्तक ! इनके प्रथम सङ्गम में विघ्न उपस्थित करते हुए निश्चित ही मैंने इनका अपराध किया है ।

राजा—देवी ! इस प्रकार प्रत्यक्ष देखा गया अपराध वाला मैं क्या कहूँ । तो भी निवेदन करता हूँ ! ( पैरों पर गिरता है । )

राजा—देवि एवं प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं ब्रवीमि। तथापि विज्ञापयामि। (पादयोः पतति।)

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एष
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात्॥ १४॥

---

राजेति। प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः प्रत्यक्षं यथा स्यात् तथा दृष्टम् अवलोकितं व्यलीकम् अपराधो यस्य तादृशः, साक्षात्कृताप्रियाचरण इत्यर्थः।

अन्वयः—देवि! विलक्षः तव चरणयोः लाक्षाकृताम् एष मूर्ध्ना आताम्रताम् अपनयामि। मुखेन्दुबिम्बे तु कोपरागजनितां हर्त्तुं क्षमः यदि मयि परं करुणा स्यात्॥१४॥

आताम्रेति। हे देवि! हे प्रिये वासवदत्ते! विलक्षः स्वापराधकृते दुःखितः। तव ते। चरणयोः पादयोः। लाक्षाकृतां लाक्षया जतुरागेण कृतां जनितां जतुराग जनितामित्यर्थः। 'लाक्षा राक्षा जतु क्लीबे' इत्यमरः। आताम्रताम् ईषद्रक्तताम्। एष मूर्ध्ना मम शिरसा, अपनयामि दूरीकरोमि। मुखेन्दुबिम्बे वदनचन्द्रमण्डले। कोपोपरागजनिता कामरूपेण उपरागेण राहुस्पर्शेन जनितां कृताम्, क्रोधरूपराहुग्रसनोत्पन्नमिति यावत्। आताम्रतां हर्त्तुं दूरीकर्त्तुं। क्षमः समर्थः। यदि चेत् मयि मल्लक्षणे जने। परं केवलम्। करुणा दया। स्यात् भवेत्। अत्र तव चरणताम्रतान्तु शिरसापनेतुं शक्या वदनात्ताम्रता तु केवलं त्वद्दयैव इति वासवदत्ता कोचजनिता वेगात्मराज्यस्य। तां प्रति विनयवचनं त्वधिबलम्। तेन गर्भसन्धेरङ्गमधिबलं संदर्शितम्। तदुक्तं दशरूपके 'तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवन्तेऽधिबलं बुधाः॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥१४॥

---

देवी! कृत अपराध से लज्जित हुआ मैं तुम्हारे चरणों को महावर की लालिमा को अपने शिर से दूर कर रहा हूँ। किन्तु तुम्हारे मुख रूपी चन्द्र मण्डल पर क्रोध रूपी राहु के ग्रसन से उत्पन्न की गई लालिमा को तभी दूर करने में समर्थ हो सकता हूँ, यदि मुझ पर तुम्हारी कृपा हो जाय॥१४॥

वासवदत्ता—( हस्तेन वारयन्तीम् । ) अज्जउत्त उट्ठेहि उठ्ठेहि। णिल्लज्जो क्खु सो जणो जो अज्जउत्तस्स ईदिसं हिअअं जणिअ पुणो वि कुप्पदि ता सुहं चिट्ठदु अज्जउत्तो । गमिस्स अहम् ।

[ आर्यपुत्र उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । निर्लज्जः खलु स जनो य आर्यपुत्रस्येदृशं हृदयं ज्ञात्वा पुनरपि कुप्यति । तत्सुखं तिष्ठत्वार्यपुत्रः । गमिष्याम्यहम् । ( इति गन्तुमिच्छति । )

काञ्चनमाला--भट्टिणि करेहि पसादम् । एव्वं चरणपडिदं महाराअं उज्झिअ गदाए देवीए अवस्सं पच्छादावेण होदव्वम् ।

[ भर्त्रि कुरु प्रसादम् । एवं चरणपतितं महाराजमुज्झित्वा गताया देव्या अवश्यं पश्चात्तापेन भवितव्यम् । ]

वासवदत्ता--अवेहि अपण्डिदे कुदो एत्थ पसादस्स पच्चादावस्स वा कारणम् । ता एहि । गच्छम्ह ।

[ अपेहि अपण्डिते कुतोऽत्र प्रसादस्य पश्चात्तापस्य वा कारणम् । तदेहि । गच्छाव: । ]

---

वासवदत्तेति । निर्लज्जः निर्गता लज्जा यस्मात्सः लज्जाहीनः इत्यर्थः । ईदृशमतिशयेनाप्यसङ्क्रान्तम् ।

काञ्चनमालेति । उज्झित्वात्यक्त्वा । पश्चात्तापेन खेदेन ।

---

वासवदत्ता--( हाथ से रोकती हुई ) आर्यपुत्र ! उठिए, उठिए । वह व्यक्ति लज्जाहीन है, जो आर्यपुत्र का ऐसा हृदय जानकर पुनः क्रोध करे । अतः आर्यपुत्र सुख से रहें । मैं चली जाऊँगी । (इस प्रकार जाना चाहती है)

काञ्चनमाला--देवी ! प्रसन्न हो जाइए । इस प्रकार पादपतित महाराज को छोड़कर चली जाने पर महारानी को अवश्य पश्चात्ताप होगा ।

वासवदत्ता--( दूर हो मूर्ख ) यहाँ प्रसन्नता अथवा पश्चात्ताप का क्या कारण है ? अतः आओ चलें । (इस प्रकार दोनों निकल जाती हैं)

राजा--देवी प्रसीद प्रसीद। ('आताम्रतापनयामि' इत्यादि पुनः पठति।)

विदूषकः--भो उट्ठेहि। गदा देवी। ता कीस एत्थ अरण्णरुदिदं करेसि।

[ भो उत्तिष्ठ गता देवि। तत्कस्मादत्रारण्यरुदितं करोषि। ]

राजा--( मुखमुन्नमय्य दृष्ट्वा। ) कथमकृत्वैव प्रसादं गता देवी।

विदूषकः--कह ण किदो पसादो जं अज्ज वि अक्खदसरीरा चिट्ठम्ह।

[ कथं न कृतः प्रसादो यदद्याप्यक्षतशरीरौ तिष्ठावः। ]

---

विदूषक इति। अरण्यरुदितमलक्ष्यदुःखनिवेदनम्।

राजेति। उन्नमय्य उत्तोल्य।

विदूषक इति। अक्षतशरीरौ सकुशले शरीरे ययोस्तौ। व्रणरहितदेहौ इत्यर्थः। बद्वयमनया नाहता स एव अस्याः प्रसाद इति भावः।

---

राजा—देवी प्रसन्न हो जाओ। ('आताम्राताम्र'--इत्यादि पद्य पुनः पढ़ता है)

विदूषक--मित्र ! उठो। महारानी श्री तो चली गईं। इस हेतु क्यों यहाँ अरण्य-रोदन कर रहे हो।

राजा—( मुँह उठाकर देखकर ) क्या बिना प्रसन्न हुए ही देवी चली गईं।

विदूषक--क्यों नहीं कृपा की—जो अभी तक हम दोनों सुरक्षित शरीर लिये खड़े हैं।

राजा—धिङ्मूर्ख किमेवं मामुपहससि । ननु त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकं महाननर्थस्य क्रमः ।

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानादनुदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविसह्यं हि भवति ॥ १५ ॥

---

राजेति । एवम् अक्षतशरीरोऽसीति कथयित्वा । उपहससि निन्दसि । ननु यतः । त्वत् कृतः त्वया जनितः । अयं देवीकोपरूपः । अनर्थस्य क्रमः अनिष्टपरम्परा उत्तरोत्तरमनिष्टमिति यावत् ।

अन्वयः—प्रणयबहुमानात् प्रीतिः अनुदिनं समारूढा । अकृतपूर्वं खलु इदं व्यलीकम् अद्य मया कृतं वीक्ष्य असहना असौ प्रिया स्फुटं जीवितं मुञ्चति । हि प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितम् अविसह्यं भवति ॥१५॥

समारूढेति । प्रणयबहुमानात् प्रणयस्य प्रेम्णः बहुमानात् समादरणात् । इति हेतोः प्रीतिः प्रणयः । अनुदिनं प्रतिदिनम् । समारूढा वृद्धिं गता । अकृतपूर्वं अकृतम् अकरणं जातं पूर्वस्मिन् यस्य तत् तथोक्तं कदाचिदपि प्रागकृतमिति यावत् । खलु निश्चयेन । इदम् एतत् व्यवस्थितमित्यर्थः । व्यलीकम् अकार्यम् । अद्यमया कृतम् अस्मिन्दिने मया विहितम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । असहना असौ असहिष्णुरसौ प्रिया वासवदत्ता । स्फुटं निश्चितं । जीवितं जीवनम् । मुञ्चति त्यक्षति । हि यतः । प्रकृष्टस्य उत्कृष्टस्य । प्रेम्णः प्रणयस्य । स्खलितं च्युतिरविसह्यमसह्यं भवति जायते । एतेन गर्भसन्ध्यङ्गमनुमानं संदर्शितम् । हेतौ सति तत्कार्यस्यानुमित्तिरनुमानम् । यथाऽऽहुः दशरूपककाराः 'अभ्यूहो

---

राजा—मूर्ख ! क्यों इस प्रकार मेरा उपहास कर रहे हो ? वास्तव में तुम्हारे कारण ही हमारे ऊपर यह महान् अनर्थ की परम्परा आ पड़ी है (क्योंकि)

प्रेम के अत्यन्त समादर से स्नेह दिवसानुदिवस बढ़ता ही गया । कभी न किया गया यह अपराध आज मेरे द्वारा हुआ है यह देखकर सहन न करनेवाली

विदूषक--भो रुट्ठा देवी किं करिस्सदित्ति ण जाणामि। साअरिआ उणं दुक्करं जीवस्सदित्ति तक्केमि।

[ भो रुष्टा देवी किं करिष्यतीति न जानामि। सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि। ]

राजा--वयस्य अहमप्येवं चिन्तयामि। हा प्रिये सागरिके!

( ततः प्रविशति वासवदत्तावेषधारिणी सगरिका। )

सागरिका--( सोद्वेगम्। ) दिठ्ठिआ णाहं इमिणा विरइददेवीवेसेण

---

लिङ्गतोऽनुमा' इति। अत्र वत्सराजस्य सागरिकानुरागजन्येन स्नेहेन वासवदत्तां प्रति प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन वासवदत्तायाः 'मरणाभ्यूहनमनुमानं तथैव अग्रे विदूषककृतश्च सागरिकामरणाभ्यूहः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः। शिखरिणीवृत्तम् ॥१५॥

विदूषक इति। दुष्करं कष्टपूर्वकं यथा तथा। सागरिकायाः पुनः जीवितं दुष्करमिति तर्कयामि।

सागरिकेति। दिष्ट्या आनन्दे। लक्षिता दृष्टा। विरचितदेवीवेषेण कल्पितवासवदत्तारूपेण। चिन्तयति कर्त्तव्यतामवधारयति। अत्रेदं बोध्यम् 'चरणपतितं महाराजमवज्ञाय सकोपं प्रतिगच्छन्तीं वासवदत्तामध्वनि अवलोक्य माधवीलतामण्डपं यान्त्यौ सागरिकासुसंगते भीत्वा एकैकस्यां दिशि पलाय्चक्राते।

---

वह प्रिया वासवदत्ता निश्चित ही जीवन त्याग देगी क्योंकि प्रकृष्ट प्रेम से गिरना असह्य होता है ॥१५॥

विदूषक—मित्र! 'कुपित महारानी रुष्ट होकर क्या करेंगी' यह तो मैं नहीं जानता, तथापि सागरिका का जीना कठिन हो जायगा, यह मेरा अनुमान है।

राजा—मित्र! मैं भी ऐसा ही सोच रहा हूँ।

( तत्पश्चात वासवदत्ता के वेष में सागरिका प्रवेश करती है। )

सागरिका—( उद्वेगपूर्वक ) सौभाग्य से देवी के इस वेष में चित्रशाला

इमादो चित्तसालिआदो णिक्कसन्ती केणावि लक्खिदम्हि । ता इदाणिं किं करिस्सम् ।

[ दिष्ट्या नाहमनेन विरचितदेवीवेषेणास्याश्चित्रशालिकायां निष्क्रामन्ती केनापि लक्षितास्मि । तदिदानीं किं करिष्यामि । ] ( सास्रं चिन्तयति । )

विदूषक—भोः किं मूढो विअ चिठ्ठसि । चिन्तेहि एत्थ पडिआरं ।

[ भोः किं मूढ इव तिष्ठति । चिन्तयात्र प्रतीकारम् । ]

राजा—ननु तमेव चिन्तयामि । वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि । तदेहि । तत्रैव गच्छावः ।

( इति परिक्रामतः । )

सागरिका—( विमृश्य । ) वरं दाणिं सअं ज्जेव्व अप्पाणं उब्बन्धिअ उवरदा ण उण जाणिदसंकेतवुत्तन्ताए देवीए परिभूदम्हि । ता जाव अहं

---

तेन सागरिका चित्रशालाभ्यन्तरं प्रविवेश अनन्तरं ततो गतायां सहकाञ्चनमालया वासवदत्तायां चित्रशालातो निष्क्रामन्ती एकाकिनी सोद्वेगं दिष्ट्यादिकमाह ।

राजेति । मुक्त्वा वर्जयित्वा । तत्रैव देवीसमीप एव ।

सागरिकेति । विमृश्य परामृश्य । वितर्कस्यादुन्नयनं परामर्शो विमर्शनम् । अध्याहारस्तर्कऊह इति हेमचन्द्रः । वरम् ईषत्प्रियम् । 'वरः श्रेष्ठे त्रिषुक्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः । उद्बध्य कण्ठे पाशं निक्षिप्य । उपरता मृता । ज्ञात-

---

से निकलती हुई मुझे किसी ने भी नहीं देखा है । अतः अब क्या करूँ । (रोती हुई सोचती है ।)

विदूषक—अरे ! क्यों मूर्ख के समान खड़े हो ? इसका प्रतिकार तो सोचो ।

राजा—उसी का तो विचार कर रहा हूँ । मित्र देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त मुझे कोई अन्य उपाय दिखाई नहीं दे रहा है । अतः आओ । वहीं चलें । ( दोनों जाते हैं । )

सागरिका—( तर्क करके ) अब स्वयं गला बाँधकर मर जाना श्रेयस्कर है, न कि संकेत का वृत्तान्त जाननेवाली महारानी से अपमानित होना । इसलिए

असोअपादवं गदुअ जहासमोहिदं करिस्सम् ।

[ वरमिदानीं स्वयमेवात्मानमुद्बध्योपरता न पुनर्ज्ञातसंकेतवृत्तान्तया देव्या परिभूतास्मि । तद्यावदहमशोकपादपं गत्वा यथासमीहितं करिष्यामि । ]

विदूषकः—( आकर्ण्य । ) चिट्ठ दावा । चिट्ठ भो । पदसद्दो सुणीअदि । जणामि कदावि गहिदपच्छादावा पुणोवि देवो आगदा भवे ।

[ तिष्ठ तावत् । तिष्ठ भोः । पदशब्दः श्रूयते । जानामि कदापि गृहीत-पश्चात्तापा पुनरपि देव्यागता भवेत् । ]

राजा– वयस्य महानुभावा खलु देवो कदाचिदेवमपि स्यात् । तत्त्वरितं निरूप्यताम् ।

विदूषकः– जं भवं आणवेदि ।

[ यद्भवानाज्ञापयति । ( इति परिक्रामति । )

---

सङ्केतवृत्तान्तया ज्ञातः अधिगतः सङ्केतवृत्तान्तः सङ्केतवार्ता यया सा तया । परिभूताऽस्मि अपमानिता तिष्ठामि । 'अनादरः परिभवः' इत्यमरः । यथा समीहितं यथा अभिलाषितम् ।

विदूषक इति । पदशब्दः चरणन्यासध्वनिः । जानामि अनुभवामि गृहीत-पश्चात्तापागृहीतः स्वीकृतः पश्चात्तापः खेदः यया सा, सञ्जातखेदेत्यर्थः ।

राजेति । महानुभावा सदाशया । कदाचित् सम्भावना द्योतते । त्वरितं शीघ्रं । निरूप्यताम् अवलोक्यतां । कस्य चरणन्यासध्वनिः इति निर्णीयताम् ।

---

इस अशोक वृक्ष के पास जाकर इच्छानुसार करती हूँ ।

विदूषक—( सुनकर ) ठहरो मित्र ! ठहरो ! पैरों का शब्द सुनाई पड़ रहा है, प्रतीत होता है कदाचित् पश्चात्ताप करके महारानी पुनः आ रही होंगी ।

राजा—मित्र ! देवी उदार हृदया है । कदाचित् ऐसा भी हो । अतः शीघ्र देखो कि कौन है ।

विदूषक—जो आपकी आज्ञा । ( यह कहकर घूमता है )

सागरिका—( उपसृत्य । ) ता जाव इमाए माहवीलदाए पासं विरइअ असोअपादवे अप्पाणअं उब्बन्धिअ वावादेमि । हा ताद हा अम्ब एसा दाणिं अहं अणाधा असरणा विवज्जामि मन्दभाइणी ।

[ तद्यावदेतस्याः माधवीलतायाः पाशं विरचय्याशोकपादप आत्मानमुद्बध्य व्यापादयामि । ( इति लतापाशं रचयन्ती । ) हा तात हा अम्ब एषेदानीमहमनाथाऽशरणा विपद्ये मन्दभागिनी । ] ( इति कण्ठे लतापाशमर्पयति । )

विदूषकः—( विलोक्य । ) का पुण एसा । कहं देवी वासवदत्ता । भो वअस्स परित्ताहि परित्ताहि । एसा क्खु देवी वासवदत्ता उब्बन्धिअ अत्ताणअं वावादेदि ।

[ का पुनरेषा । कथं देवी वासवदत्ता ( ससम्भ्रममुच्चैः । ) भो वयस्य परित्रायस्व । परित्रायस्व । एषा खलु देवी वासवदत्तोद्बध्यात्मानं व्यापादयति । ]

---

सागरिकेति । उपसृत्य अशोकपादपमुपगम्य । पाशमुद्बन्धनसाधणं रज्जु । विरचय्य निर्माय । उद्बध्य वृक्षशाखायां लम्बयित्वा । व्यापादयामि हनिष्यामि । अनाथा स्वामिरहिता । अशरणा नास्ति शरणं रक्षिता यस्याः सा ।

---

सागरिका—( समीप जाकर ) तो अब इस माधवी लता से ही गले को बांध कर अशोक वृक्ष से लटक कर प्राण हनन करती हूँ । ( यह कह कर लता पाश बनाती है ) हाय पिताश्री ! हाय माता ! मैं अभागिनी इस समय अनाथ और अशरण होकर मर रही हूँ । ( यह कह कर गले में लतापाश डालती हैं । )

विदूषक—( देख कर ) फिर यह कौन हैं ? क्या देवी वासवदत्ता है ? ( घबराते हुए चिल्ला कर ) मित्र ! बचाओ बचाओ । यह देवी वासवदत्ता गला बांध कर स्वयं को समाप्त कर रही हैं ।

राजा—(ससंभ्रममुपसृत्य ) क्वासौ क्वासौ ।

विदूषकः—णं एसा ।

[ नन्वेषा । ]

राजा—( उपसृत्य कण्ठात्पाशमपनयन् । ) अयि साहसकारिणि किमिदमकार्यं क्रियते ।

मम कण्ठगताः प्राणाः पाशे कण्ठगते तव ।
अतः स्वार्थं प्रयत्नोऽयं त्यज्यतां साहसं प्रिये ॥ १६ ॥

---

राजेति । अपनयन् अपसारयन् । साहसकारिणी साहसमात्मघातं कर्त्तुं शीलं यस्या सा । सहसा अविमृश्य क्रियमाणं कर्म साहसमिति । अकार्यमसत्कार्यम् ।

अन्वयः—प्रिये ! साहसं त्यज्यताम् पाशे तव कण्ठगते ( सति ) मम प्राणाः कण्ठगताः । अतः अयम् स्वार्थं प्रयत्नः ॥ १६ ॥

ममेति । हे प्रिये ! दयिते ! साहसं स्वप्राणत्यागरूपं हठकारित्वं दुष्कार्यमिति यावत् । त्यज्यताम् विसृज्यताम् । पाशे उद्बन्धनसाधनरज्जौ । तव ते । कण्ठगते कण्ठे ग्रीवायां गते सति । मम उदयनस्य । प्राणाः असवः । कण्ठगताः निर्गमोन्मुखा इति यावत् । अतः अस्मात् । अयमेषः स्वार्थप्रयत्नः स्वोद्देशेन क्रियमाणो व्यापारः । यस्मादात्मोद्देशेन क्रियमाणेप्येतस्मिन् व्यापारे अनुद्देशयस्यापि मद्गतप्राणवियोगरूपफलस्याऽवश्यम्भावस्तस्मादयं प्रयत्नः

---

राजा—( घबराहट पूर्वक समीप जाकर ) कहाँ है वह ? कहाँ है वह ?

विदूषक—यही तो हैं ।

राजा—( समीप जाकर गले से पाश हटाते हुए ) अयि साहसकारिणी ! यह क्या अकार्य कर रही हो ?

प्रिये ! प्राण त्याग रूप हठ को त्याग दो । तुम्हारे गले में पाश लगने पर

सागरिका—( राजानं दृष्ट्वा । ) अम्मो । कधं एसो भट्टा । जं सच्चं एणं पेक्खिअ पुणोवि मे जीविदाहिलासो संवुत्तो । अह वा एणं पेक्खिअ कदत्था भविअ सुहेण एव्व जीविदं परिच्चइस्सम् । मुञ्चदु मं भट्टा । पराहीणो क्खु अअं जणो ण उण इदिसं अवसरं मरिदुं पावेदि ।

[ अम्मो । कथमेष भर्ता । ( सहर्षमात्मगतम् । ) यत्सत्यमेनं प्रेक्ष्य पुनरपि मे जीविताभिलाषः संवृत्तः । अथवैनं प्रेक्ष्य कृतार्था भूत्वा सुखेनैव जीवितं परित्यक्ष्यामि । ( प्रकाशम् ) मुञ्चतु मुञ्चतु मां भर्ता । पराधीनः खल्वयं जनः न पुनरीदृशमवसरं मर्तुं प्राप्नोति । ]

( इति पुनः कण्ठे पाशं दातुमिच्छति । )

---

त्यज्यतामिति । परानिष्टकृत् स्वार्थेऽपि हातव्यः इति भावः । कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतयोपनिबन्धनादसङ्गतिरलङ्कारः । यदुक्तं काव्यप्रकाशे—'भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः । युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः इति । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १६ ॥

सागरिकेति । अम्मो विस्मयावबोधकमव्ययम् । संवृत्तः जातः । एनं राजनं प्रेक्ष्य कृतार्था भूत्वा सुखेन आत्मानमुद्बध्य जीवितं परित्यक्ष्यामि ।

---

मेरे प्राण कण्ठ में पहुँच गए हैं । अतः यह तुम्हें पाशबन्धन से मुक्त करने का प्रयत्न मेरे स्वयं के प्रयोजन के लिए है ॥ १६ ॥

सागरिका—( राजा को देख कर ) अयि ये स्वामी कैसे ? ( हर्षपूर्वक मन ही मन ) इन्हें देख कर तो मुझे वास्तव में पुनः जीवित रहने की इच्छा हो आई हैं । अथवा इन्हें देख कर कृतार्थ होकर सुखपूर्वक जीवन त्याग दूँगी । ( प्रकट रूप में ) छोड़ दें स्वामी मुझे छोड़ दें । इस पराधीन जन को पुनः मरने का ऐसा अवसर प्राप्त नहीं होगा ।

( इस प्रकार पुनः गले में पाश डालना चाहती हैं )

राजा—( निर्वर्ण्य । सहर्षमात्मगतम् । ) कथं प्रिया मे सागरिका ।

( कण्ठात्पाशमाक्षिप्य । )

अलमलमतिमात्रं साहसेनाऽमुना ते
त्वरितमयि विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम् ।
चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ॥ १७ ॥

---

अन्वयः—अयि जीवितेशे ! अमुना ते अतिमात्रं साहसेन अलम् । त्वम् एतं लतापाशं त्वरितं विमुञ्च । चलितम् अपि मम जीवितं निरोद्धुम् इह कण्ठे बाहुपाशं क्षणं निधेहि ॥ १७ ॥

अलमिति । हे जीवितेशे हे प्राणेश्वरि ! अमुना एतेन । ते तव । अतिमात्रमत्यन्तं पर्याप्तमिति भाव. । साहसेन प्राणपरित्यागरूपेण बलात्कारकर्मणा । अलम् अलम् अति साहसं मा कुरु इत्यर्थः । सम्भ्रमेद्विरुक्तिः । त्वम् एतम् इमम् । लतापाशं वल्लबन्धनम् । त्वरितं शीघ्रं । बिमुञ्च त्यज । चलितमपि चलितं प्रयातुं कृतारम्भमपि । मम मे । जीवितं जीवनं । निरोद्धुं निवारयितुम् । इह अस्मिन् । कण्ठे गले । बाहुपाशं भुजबन्धनं क्षणं कञ्चित्कालं । निधेहि स्थापय । एवं सागरिकारूपोद्दिष्टफलस्वरूपा फलप्राप्तिः वासवदत्ताज्ञानापेक्षया प्रीत्याधिक्योत्पादनात् विशिष्टगुणसमन्वा । तेनात्र साहित्यदर्पणकाराः पताकास्थानकमामनन्ति । यदुक्तं दर्पणेसहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः । पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितमिति ॥ पर्यायोक्तिरलङ्कारः । मालिनीवृत्तम् । तद्यथा—ननमयययुतेयं मालिनीभोगिलोकैः' इति ॥ १७ ॥

---

राजा—( ध्यान से देख कर हर्षपूर्वक मन ही मन ) क्या मेरी प्रिया सागरिका है ?

( गले से पाश हटा कर )

हे प्राणेश्वरी ! तुम यह अत्यधिक साहस मत करो । तुम इस लतापाश को शीघ्र छोड़ दो । निकलने को उद्यत हुए मेरे प्राणों को रोकने के लिए इस में क्षण भर को अपनी भुजाओं रूपी लता का पाश डाल दो ॥१७॥

(इति बाहुमाक्षिप्य कण्ठे कृत्वा स्पर्शं नाटयन् ।) सखे इयमनभ्रा वृष्टिः।

विदूषक—भो एदं ण्णेदं जदि अआलवादावली भविअ ण आआदि देवी वासवदत्ता।

[ भो एवं न्विदं यद्यकालवातावली भूत्वा नायाति देवी वासवदत्ता । ]

( ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च । )

वासवदत्ता—हञ्जे कञ्चणमाले तं तहा चलणनिवडिदं अज्जउत्तं अवधीरिअ आअच्छन्तीए मए अदिणिठ्ठुरं किदम् । ता दाणिं सअं जेव्व गदुअ अज्जउत्तं अणुणइस्सम् ।

[ हञ्जे काञ्चनमाले तं तथा चरणनिपतितमार्यपुत्रमवधीर्यागच्छन्त्या मयातिनिष्ठुरं कृतम् । तदिदानीं स्वयमेव गत्वार्यपुत्रमनुनेष्यामि । ]

---

इतीति । आक्षिप्य आकृष्य । अनभ्रा नास्ति अभ्रं मेघाडम्बरो यस्यां सा अनभ्रा, मेघरहितेति यावत् । इदानीं प्रियासमागमः पूर्वसूचनामन्तरेण जात इत्याशयः ।

विदूषक इति । एवं न्विदं समीचीनं कथितं त्वया । अकालवातावली असामयिकीवात्या ।

वासवदत्तेति । चरणनिपतित चरणयोः निपतितो यस्तम् । अवधीर्य अवज्ञाय । अतिनिष्ठुरं निर्दयम् । अतिनिर्दयं कर्म इति यावत् । अनुनेष्यामि प्रसादयिष्यामि ।

---

( इस प्रकार बाँह खींचकर गले लगाकर स्पर्शसुख का अभिनय करता है ) मित्र ! यह बिना मेघों की वर्षा है।

विदूषक—मित्र ! है तो ऐसा ही, यदि असमय की आँधी बनकर देवी वासवदत्ता न आ जाय।

( तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला का प्रवेश )

वासवदत्ता—सखि काञ्चनमाले ! उस प्रकार पादावनत हुए आर्यपुत्र की अवज्ञा करके चली आई मैंने अतीव निष्ठुर कार्य किया है। इसलिए अब स्वयं ही जाकर आर्यपुत्र से अनुनय करूँगी।

काञ्चनमाला—को अण्णो देवीं वज्जिअ एव्वं भणिदुं जाणादि। वरं सो ज्जेव दुज्जणो भोदु ण उण देवी। ता एदु एदु भट्टिणी।

[ कोऽन्यो देवीं वर्जयित्वैवं भणितुं जानाति। वरं स एव देवो दुर्जनो भवतु पुनर्देवी। तदेत्वेतु भट्टिनी। ]

( परिक्रामतः। )

राजा—अयि मुग्धे किमद्यापि मध्यस्थतया वयं विफलमनोरथाः क्रियामहे।

काञ्चनलता—( कर्णं दत्वा। ) भट्टिणि एसो क्खु जहा समीवे भट्टा मन्तेदि तहा तक्केमि तुमं एव्वं अणुणेदुं इदो एव्व आअच्छदि।

[ भट्टिनि, एष खलु यथा समीपे मन्त्रयते तथा तर्कयामि त्वामेवानुनेतुमित एवागच्छति। ]

---

काञ्चनमालेति। देवीं वर्जयित्वा देवीमन्तरेण। भणितुं कथयितुम्। स एव देव एव।

राजेति। मुग्धे! समयोचितकर्तव्यानभिज्ञे! मध्यस्थतया औदासीन्येन। विफलमनोरथाः विफलाः असफलाः मनोरथाः कामनाः येषां ते, असफलाभिलाषाः इति यावत्।

---

वासवदत्ता—महारानी के व्यतिरिक्त दूसरा कौन ऐसा कहना जानता है। अच्छा है कि वे ( महाराज ) ही दुर्जन हों, किन्तु महारानी ( दुर्जन ) न हों। अतः आप चलें।

( दोनों चलती हैं )

राजा—आर्ये मुग्धे! क्यों अब भी तटस्थ भाव से रहकर हमारे मनोरथ को विफल कर रही हो।

काञ्चनमाला—( कान लगाकर ) स्वामिनी! यह महाराज समीप ही वार्तालाप कर रहे हैं, इससे यह अनुमान करती हूँ कि वे आप ही को मानने के लिए इधर ही आ रहे हैं।

वासवदत्ता—( सहर्षं । ) तेण हि अलक्खिदा एव्व पुट्ठदो गदुअ कण्ठे गेण्हिअ पसादइस्सम् ।

[ तेन ह्यलक्षितैव पृष्ठतो गत्वा कण्ठे गृहीत्वा प्रसादयिष्यामि । ]

विदूषक—भोदि साअरिए वीसत्था भविअ पिअवअस्सं आलवेहि । [ भवति सागरिके, विश्वस्ता भूत्वा प्रियवयस्यमालप । ]

वासवदत्ता—( आकर्ण्य । सविषादम् । ) कञ्चणमाले कधं साअरिआ इदो एव्व आगदा । ता सुणिस्सं दाव । पच्छा उवसप्पिस्सम् ।

[ काञ्चनमाले कथं सागरिकेत एवागता । तच्छ्रोष्यामि तावत् । पश्चादुपसर्प्स्यामि । ] ( तथा करोति )

सागरिका—भट्टा किं एदिणा आलिक्कदक्खिण्णेन जीविआदोवि वल्लहतराए देवीए अप्पाणं अवराहिणं करेसि ।

[ भर्तः किमेतेनालीकदाक्षिण्येन जीवितादपि वल्लभतराया देव्या आत्मानमपराधिनं करोषि । ]

---

सागरिकेति । अलीकदाक्षिण्येन मिथ्यौदार्येण । जीवितात् जीवनात् । वल्लभतरायाः अधिकप्रियायाः । दयितं वल्लभं प्रियमित्यमरः । अपराधिनम् कृतानागसम् ।

---

वासवदत्ता—(हर्ष पूर्वक) तो पीछे से जाकर आलिंगन करके ( उन्हें ) प्रसन्न करूँगी ।

विदूषक—देवि सागरिके ! विश्वस्त होकर प्रिय मित्र से वार्तालाप करो।

वासवदत्ता—( सुनकर । विषादपूर्वक ) काञ्चनमाले ! क्या सागरिका इधर ही आ रही है । तो तब तक सुनूंगी । तत्पश्चात् समीप जाऊंगी । (वैसा करती है ।)

सागरिका—स्वामी ! क्यों इस मिथ्या चातुर्य से, प्राणों से भी अधिक प्रिय महारानी के प्रति अपने को अपराधी बना रहे हैं ?

राजा—अयि मिथ्यावादिनी खल्वसि । कुतः—

श्वासोत्कम्पिनि कम्पितं कुचयुगे मौने प्रियं भाषितं
वक्त्रेऽस्याः कुटिलीकृतभ्रुणि तथा यातं मया पादयोः ।
इत्थं नः सहजाभिजात्यजनिता सेवैव देव्याः परं
प्रेमाबन्धविवर्धिताधिकरसा प्रीतिस्तु या सा त्वयि ॥ १८ ॥

---

राजेति । मिथ्यावादिनी असत्यभाषिणी ।

अन्वयः—अस्याः कुचयुगे श्वासोत्कम्पिनि (सति) मया कम्पितम् (अस्याः) मौने ( मया ) प्रियं भाषितम् ( अस्याः ) वक्त्रे कुटिलीकृतभ्रुणि ( सति मया ) तथा पादयोः यातम् । इत्थं नः परं सहजाभिजात्यजनिता सेवा एव देव्याः । या तु प्रेमाबन्धविवर्धिताधिकरसा प्रीतिः सा त्वयि ॥१८॥

श्वासोत्कम्पिनीति । अस्या देव्याः । कुचयुगे स्तनयुगले । श्वासोत्कम्पिनि दीर्घश्वासेन उत्कम्पिनि कम्पमाने सति । मया कम्पितम् वत्सराजेन कम्पः अनुभूतः । अस्याः मौने तुष्णीभावे सति । मया प्रियं सविनयं भाषितं कथितं । अस्या वक्त्रे वदने । कुटिलीकृतभ्रुणि कुटिलीकृते वक्रीकृते भ्रुवौ यस्मिन् तत् तथोक्ते सति मया तथा तेन प्रकारेण । पादयोः तच्चरणयोः । यातं पतितम् । इत्थमिदम्प्रकारेण देव्याः सम्बन्धे । नो अस्माकं परं केवलम् । सहजाभिजात्यजनिता सहजेन स्वाभाविकेन आभिजात्येन कुलीनतया जनिता कारिता । सेवा एव भृत्यवदुपचरणमेव । देव्याः वासवदत्तायाः । या तु या पुनः । प्रेमाबन्धविवर्धिताधिकरसा प्रेम्णः प्रणयस्य आबन्धेन दृढनिबन्धनेन विवर्धिता विशेषेण वृद्धि नीता अधिकरसा अधिको अतिरक्तो रसोऽनुरागो यस्यां सा तथोक्ता । प्रीतिः स्नेहः । सा त्वयि त्वद्विषये विद्यत इति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

---

राजा—ओ, तुम निश्चय ही मिथ्या भाषण करती हो, क्योंकि—

इस ( वासवदत्ता ) के दोनों स्तन श्वासोच्छ्वास के कारण हिलने लगने पर मैं काँप गया, ( इसके ) मौन हो जाने पर ( मैं ) मधुर भाषण करने लगा, ( इसके ) मुख के वक्रभ्रुकुटि युक्त हो जाने पर ( मैं ) उस प्रकार चरणों पर गिर पड़ा । इस प्रकार हमारी मात्र जन्मजात कुलीनता के कारण की गई सेवा ही महारानी के प्रति है । किन्तु प्रेमानुबन्ध से बढ़ी हुई जो प्रीति है, वह तो तुम्हारे ही प्रति है ।

वासवदत्ता—( सहसोपसृत्य सरोषम् । ) अज्जउत्त जुत्तं एदं सरिसं एदम् ।

[ आर्यपुत्र युक्तमेतत् सदृशमेतत् । ]

राजा—( दृष्ट्वा सवैलक्ष्यम् । ) देवि न खल्वकारणे मामुपालब्धुमर्हसि । मत्यं त्वामेव मत्वा वेषसादृश्यविप्रलब्धा वयमिहागताः । तत्क्षम्यताम् । ( इति पादयोः पतति )

वासवदत्ता—( सरोषम् । ) अज्जउत्त उट्ठेहि उट्ठेहि । किं अज्जवि सहजाभिजादाए दुक्खं अणुहवीअदि ।

[ आर्यपुत्र उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । किमद्यापि सहजाभिजातायाः सेवया दुःखमनुभूयते । ]

---

वासवदत्तेति । सदृशं त्वदुपयुक्तम् । त्वादृशस्य शठस्यैतादृशाचरणस्योचितत्वादिति भावः ।

राजेति । सवैलक्ष्यं सविस्मयम् । अकारणे उपालम्भकारणं विना उपालब्धुं दुर्वक्तुम् । अर्हसि योग्यो भवसि । मत्वा ज्ञात्वा । वेषसादृश्यविप्रलब्धाः वेषस्य नेपथ्यस्य सादृश्यमेकरूप्यं तेन विप्रलब्धाः वञ्चिताः, परिधानादिसमतावञ्चिता इति भावः ।

वासवदत्तेति । सहजाभिजातायाः स्वाभाविककुलीनतायाः । दुःखमनुभूयते दुःखस्यानुभवं क्रियते, त्वया ।

---

वासवदत्ता—( अकस्मात् समीप पहुँचकर क्रोधपूर्वक ) आर्यपुत्र ! आपने ठीक कहा । यह आपके योग्य है ।

राजा—( देखकर लज्जापूर्वक ) देवी ! तुम मुझे अकारण उलाहना दे रही हो । जबकि, तुम्हें ही समझकर वेश की समानता से ठगे हुए हम यहाँ आये हैं । इसलिए क्षमा करो । ( यह कहकर पैरों पर गिरता है । )

वासवदत्ता ( क्रोधपूर्वक ) आर्यपुत्र ! उठिए, उठिए । क्यों आज भी जन्मजात कुलीन की सेवा से आप दुःख का अनुभव कर रहे हैं ।

राजा— ( स्वगतम् । ) किमेतदपि श्रुतं देव्या । तत्सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निराशीभूताः स्मः । ( अधोमुखस्तिष्ठति । )

विदूषकः—भोदु तुमं किं उब्बन्धिअ अत्ताणअं वावादेसित्ति वेससारिस्समोहिदेण मए पिअवअस्सो एत्थो आणदो । जइ मम वअणं ण पत्तिआअसि ता पेक्ख एदं लदापासम् ।

[ भवति त्वं किमुद्बध्यात्मानं व्यापादयसीति वेषसादृश्यमोहितेन मया प्रियवयस्योऽत्रानीतः । यदि मम वचनं न प्रत्येषि तत्प्रेक्षस्वैतं लतापाशम् । ] ( इति लतापाशं दर्शयति । )

वासवदत्ता—( सकोपम् । ) काञ्चणमाले एदेण जेव्व लदापासेण बन्धिअ गेण्ह एणं बम्हणम् । एदं च दुव्विणीदं कण्णकं अग्गदो करेहि ।

---

राजेति । देवीप्रसादनं वासवदत्तायाः प्रसादनं तत् । निराशीभूताः निर्नास्ति आशा अभिलाषो येषां ते । इतः पूर्वं साभिलाषाः स्मः इति भावः ।

विदूषक इति । व्यापादयसि मारयसि । वेषसादृश्यमोहितेन परिधानादितुल्यतया वञ्चितेन । प्रत्येषि विश्वसिषि । प्रेक्षस्व पश्य ।

वासवदत्तेति । बध्वा आलंब्य । दुर्विनीतां कन्यकाम् दुष्टकन्यां सागरिकाम् । अत्र वासवदत्ता—( उपसृत्य ) आर्यपुत्र ! युक्तमिदम्' इत्यत आरभ्य 'एतामपि कन्यकामग्रतः कुरु' इत्यन्तेन संदर्भेण वासवदत्ता संरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेन अनियतप्राप्तिकरणं तोटकं नाम गर्भसन्धेरङ्गं संदर्शितम् । यथाऽऽहुः दशरूपककाराः 'संरब्धं तोटकं वचः' इति ।

---

राजा—( मन ही मन ) क्या देवी ने यह भी सुन लिया ? तब तो सब प्रकार से महारानी को प्रसन्न करने के प्रति हम निराश हो चुके हैं ( मुँह नीचे करके खड़ा हो जाता है )

विदूषक—महारानी ! 'आप क्यों पाश लगाकर आत्महत्या कर रही हैं' यह सोचकर वेश की समानता से ठगा गया मैं प्रिय मित्र को यहाँ ले आया । यदि मेरे वचनों पर आपको विश्वास नहीं है तो इस लतापाश को देखिए ! ( लता पाश दिखाता है )

वासवदत्ता—( क्रोधपूर्वक ) काञ्चनमाले ! इस लतापाश से ही बाँधकर इस ब्राह्मण को कैद करो, और इस दुष्टकन्या सागरिका को आगे करो ।

[ काञ्चनमाले, एतेनैव लतापाशेन बद्ध्वा गृहाणैतं ब्राह्मणम् । एतां च दुर्विनीतां कन्यकामग्रतः कुरु । ]

काञ्चनमाला—जं देवी आणवेदि । हदास अणुहव दाणिं अत्तणो दुण्णअस्स फलम् । साअरिए तुमं वि अग्गदो होहि ।

[ यद्देव्याज्ञापयति । ( लतापाशेन विदूषकं बध्नाति । ) हताश अनुभवेदानीमात्मनो दुर्नयस्य फलम् । सागरिके त्वमयग्रतो भव । ]

सागरिका—( स्वगतम् ) हद्धी कधं अकिदपुण्णाए मए मरिदुं वि अत्तणो इच्छाए न पारिदम् ।

[ हा धिक् कथमकृतपुण्यया मया मर्तुमप्यात्मन इच्छाया न पारितम् । ]

विदूषकः—( सविषादं राजानमवलोक्य । ) भो वअस्स सुमरेहि मं अणाधं देवीए बन्धनादो विवज्जन्तं ।

[ भो वयस्य, स्मर मामनाथं देव्या बन्धनाद् विपद्यमानम् । ]

राजा—( सखेदम् । ) कष्टं भो कष्टम् ।

---

सागरिकेति । अकृतपुण्यया नकृतं पुण्यं यया सा तया । मया सागरिकया । मर्तुं जीवितं त्यक्तुम् । इच्छया अभिलाषया । पारितं शक्तम् ।

---

काञ्चनमाला—जो महारानी की आज्ञा ( लतापाश से विदूषक को बाँधती है ) नीच ! अब अपनी दुर्नीति का फल भोगो । सागरिके ! तू भी आगे होओ ।

सागरिका—( मन ही मन ) धिक्कार है ! क्यों मैं पापिनी अपनी इच्छा से मर तक न सकी ।

विदूषक—( विषादपूर्वक राजा को देखकर ) मित्र ! देवी के बन्धन से विपत्ति में पड़े हुए मुझ अनाथ को याद कर लेना ।

( सबको लेकर वासवदत्ता निकल जाती है )

राजा—( खेदपूर्वक ) अरे ! कष्ट है कष्ट है ।

किं देव्याः कृतदीर्घरोषमुषितस्निग्धस्मितं तन्मुखं
त्रस्तां सागरिकां सुसम्भृतरुषा किं तर्ज्यमानां तया ।
बद्ध्वा नीतमितो वसन्तकमहं किं चिन्तयामीत्यहो
सर्वाकारकृतव्यथः क्षणमपि प्राप्नोमि नो निर्वृतिम् ॥ १९ ॥

तत्किमिदानीमिह स्थितेन । देवीं प्रसादयितुमभ्यन्तरमेव प्रविशामि ।

( इति निष्क्रान्ताः सर्वे । )

इति सङ्केतो नाम तृतीयोऽङ्कः ।

---

अन्वयः–किं कृतदीर्घरोषमुषितस्निग्धस्मितं तत् देव्याः मुखं (चिन्तयामि)? किं सुसभृतरुषा तया तर्ज्यमाना त्रस्तां सागरिकां ( चिन्तयामि ) ? किं बद्ध्वा इतः नीतं वसन्तकं चिन्तयामि ? इति अहो सर्वाकारकृतव्यथः अहं क्षणमपि निर्वृत्तिं नो प्राप्नोमि ॥ १९ ॥

किमिति । किं कृतदीर्घरोषमुषितस्निग्धस्मितं कृतः विहितः यः दीर्घः चिरव्यापकः रोषः क्रोधः तेन मुषितं हृतं स्निग्धं मधुरं स्मितं ईषद्धसितं यस्मिन् तत् तथोक्तम् । तत् पूर्वमानन्ददायि । देव्याः वासवदत्तायाः मुखमाननम् चिन्तयामि ? किं, सुसंभृतरूषा चिरसंचितेन रोषेण । तया देव्या । तर्ज्यमानां भर्त्स्यमानाम् । त्रस्तां भीतां सागरिकां चिन्तयामि ? किं बद्ध्वा पाशेन निगडितं कृत्वा । इतो अस्मात् प्रदेशात् नीतं स्थानान्तरं प्रापितं वसन्तकं चिन्तयामि शोचामि ? अहो हाधिक् । इति इत्थम् । सर्वाकारकृतव्यथः सर्वाकारेण सर्वप्रकारेण कृता व्यथा पीडा यस्य तादृशः । अहं (उदयनः) क्षणमपि किञ्चित्कालमपि निर्वृत्तिं सुस्थाम् । नो प्राप्नोमि नहिलेभे । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

इति डॉ० राजेश्वरकेशवशास्त्रि मुसलगाँवकरकृतायां
रत्नावली–टीकायां किरणावली–समाख्यायां
तृतीयाऽङ्कविवरणं समाप्तिमगमत् ॥

---

क्या मैं क्रोधवश उदास हुए देवी के मुख की चिन्ता करूँ ? अथवा चिरसंचित क्रोध के कारण देवी के द्वारा तर्जित और डरी हुई सागरिका की चिन्ता करूँ। या, देवी द्वारा बाँधकर यहाँ से ले जाये गये वसन्तक की चिन्ता करूँ ? आह ! इस पीडा से व्यथित मैं क्षणभर भी शान्ति नहीं पा रहा हूँ ।१९॥

अतएव अब यहाँ ठहरने से क्या लाभ ? देवी को प्रसन्न करने के लिए अन्तःपुर ही चलूँ ।

॥ इति कदलीगृहो नाम तृतीयोऽङ्कः ॥

## चतुर्थोऽङ्कः ।

( ततः प्रविशति गृहीतरत्नमाला सास्रा सुसंगता )

सुसंगता—( सकरूणं निःश्वस्य । ) हा पिअसहि साअरिए हा लज्जाउण्णि हा उदारसीले हा सहीजणवच्छले हा सोम्मदंसणे कहि दाणि तुमं मए पेक्खिदव्वा । अइ देव्वहदअ अअरुण असामण्णरूअसोहा तादिसी तुए जइ णिम्मिदा ता कीस उण ईदिसं अवत्थन्तरं पाविदा । इअं अ रअणमाला जीविदणिरासाए ताए कस्सवि बम्हणस्स हत्थे पडिवादेसित्ति भणिअ मम हत्थे समप्पिदा । ता जाव कंपि ब्रम्हण अण्णोसामि । भए एसो क्खु अज्जवसन्तओ इदो ज्जेव आअच्छदि । ता जाव एदस्स ज्जेव एवं पडिवादइस्सम् ।

[ हा प्रियसखि सागरिके हा लज्जावति हा उदारशीले हा सखीजनवत्सले हा सौम्यदर्शने कुत्रेदानीं त्वं मया प्रेक्षितव्या । ( इति रोदिति । ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च । ) अयि दैवहतक अकरुण असामान्यरूपशोभा तादृशी त्वया

---

सुसंगतेति । सास्रा अश्रुसहिता । हा विषादसूचकमव्ययमेतत् । लज्जावति लज्जालुके । सखीजनवत्सले सखीजनेषु वत्सला तत्सम्बुद्धौ । उदारशीले उदारं महत् शीलं स्वभावो यस्याः सा । 'उदारं दातृमहतोः' इति 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इति चामरः । सौम्यदर्शने सौम्यं सुन्दरं दर्शनं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ । 'सौम्यन्तु सुन्दरे सोमदैवते' इत्यमरः । प्रेक्षितव्या द्रष्टव्या । दैवहतक दुर्दैव । हतकशब्दो निन्दासूचकोऽत्र । असामान्यरूपशोभा असामान्या असाधारणी रूपशोभा यस्याः सा । 'साधारणन्तु सामान्य'मित्यमरः । निर्मिता रचिता ।

---

( तदनन्तर रत्नमाला लिये हुए रोती हुई सुसंगता का प्रवेश )

सुसंगता—( करूणापूर्वक श्वास लेकर ) प्रियसखी सागरिके ! हाय लज्जावती ! हाय उदारस्वभाववाली ! हाय सखीजनवत्सले ! हाय मनोहर-रूपवाली ! अब मैं तुम्हें कहाँ देखूंगी । (यह कहकर रोती है । ऊपर देखकर

यदि निर्मिता तत्कस्मात्पुनरीदृशमवस्थान्तरं प्रापिता ! इयं च रत्नमाला जीवित-निराशया तया कस्यापि ब्राह्मणस्य हस्ते प्रतिपादयेति भणित्वा मम हस्ते समर्पिता। तद्यावत्कमपि ब्राह्मणमन्विष्यामि। (परिक्रम्याग्रतो विलोक्य च।)अये एष खल्वार्यवसन्तक इत एवागच्छति। तद्यावदेतस्मा एवैतां प्रतिपादयिष्यामि।]

( ततः प्रविशति प्रहृष्टो वसन्तकः। )

वसन्तकः—ही ही भो अज्ज क्खु पिअवअस्सेण पसादिदाए तत्तभोदीए वासवदत्ताए बन्धणादो मोचिअ सहत्थदिण्णेहिं मोदएहिं चिरस्स दाव कालस्स उअरं मे सुपूरिदं किदम्। अण्णं च एदं पट्टंसुअजुअलं कण्णाभरणं अ दिण्णम्। ता जाव दाणिं गदुअ पिअवअस्सं पेक्खामि।

ही ही भो अद्य खलु प्रियवयस्येन प्रसादितया तत्रभवत्या वासवदत्तया बन्ध-

---

ईदृशमेतादृशम्। अवस्थान्तरं दशाविपर्ययम्। प्रापिता गमिता। जीवितनिराशया जीवनेन निराशया आशाहीनया,जीवनाशारहितया इत्यर्थः। तया सागरिकया। प्रतिपादय समर्पय। भणित्वा कथयित्वा। अन्विष्यामि गवेषयामि। एतस्मै वसन्तकाय। एतां रत्नमालाम्। प्रतिपादयिष्यामि समर्पयिष्यामि।

वसन्तक इति। ही ही शब्दो हास्ये, ही ही शब्दो विस्मयहास्ययोरिति मेदिनी। प्रसादितया प्रसन्नतां प्रापितया अनुग्राहितया इति भावः। तत्र भवत्या

---

और दीर्घ श्वास लेकर ) हे दुर्भाग्य ! निर्दय ! यदि तुमने वैसी असाधारण सुन्दरी की रचना की तो फिर क्यों ऐसी विपरीत दशा ( दुर्दशा ) में उसे पहुँचा दिया ? जीवन से निराश होकर उसने यह 'रत्नमाला किसी ब्राह्मण के हाथ में दे देना' यह कहकर मेरे हाथ में सौंप दी थी। अतः जब तक किसी ब्राह्मण की खोज करूँगी ( घूमकर और सामने देखकर ) अरे ! आर्यबसन्तक तो इधर ही आ रहे हैं। इन्हीं को अर्पित कर दूँगी।

( तदनन्तर प्रसन्न वसंतक का प्रवेश )

बसन्तक—अहा, हा ! आज प्रिय मित्र के द्वारा प्रसन्न की गई माननीया वासवदत्ता ने बन्धन से मुक्त करके अपने हाथों से दिये हुए लड्डुओं से चिर-

नान्मोचयित्वा स्वहस्तदत्तैर्मोदकैश्चिरस्य तावत्कालस्योदरं मे सुपूरितं कृतम् । अन्यच्चैतत्पट्टांशुकयुगलं कर्णाभरणं च दत्तम् । तद्यावदिदानीं गत्वा प्रियवयस्यं प्रेक्षे । ]

( परिक्रामति । )

सुसंगता—( रुदती सहसोपसृत्य । ) अज्ज वसन्तअ चिट्ठ दाव मुहुत्ताअम् ।

[ आर्य वसन्तक तिष्ठ तावन्मुहूर्तम् । ]

विदूषकः—( दृष्ट्वा । ) कधं सुसंगदा । सुसंगदे किं णमित्तं रोदीअदि ण क्खु साअरिआए अच्चाहिदं किंवि संवुत्तम् ।

[ कथं सुसंगता । सुसंगते किंनिमित्तं रुद्यते । न खलु सागरिकाया अत्याहितं किमपि संवृत्तम् । ]

---

माननीयया । स्वहस्तदत्तैः आत्मकरसमर्पितैः । मोदकैः लड्डुकैः । पट्टांशुकयुगलं क्षौमवस्त्रद्वयम् । कर्णाभरणं कर्णयोः श्रोत्रयोः आभरणमाभूषणम् । प्रेक्षे अवलोकयामि ।

विदूषक इति । अत्याहितं जीवनानपेक्षि कर्म । आत्मघात इति यावत् । 'अत्याहितं महाभीतिः कर्मजीवनानपेक्षि च' इत्यमरः । संवृत्तं सञ्जातम् ।

---

काल तक के लिए मेरा पेट भर दिया है । और दो रेशमीवस्त्र तथा कर्णाभूषण भी दिये हैं तो अब जाकर प्रिय मित्र को देखता हूं । ( चलता है । )

सुसंगता—( रोती हुई एकाएक समीप जाकर ) आर्य वसन्तक ! क्षण भर रुकिए ।

विदूषक—( देखकर ) क्या बात है सुसंगता । सुसंगते ! किस कारण रो रही हो ? सागरिका का कोई अनिष्ट तो नहीं हो गया ?

सुसंगता—अज्ज वसन्तअ एदं णिवेदइस्सम्। क्ख तवस्सिणी देवीए उज्जइणि णीअदित्ति पवादं कदुअ उवत्थिदे अद्धरत्तेण जाणीअदि कहिं णीदेत्ति।

[ आर्य वसन्तक एतदेव निवेदयिष्यामि। सा खलु तपस्विनी देव्या उज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्र नीतेति।]

विदूषकः—( सोद्वेगम्। ) अदिणिग्घणं क्खु किदं देवीए।

[ अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या। ]

सुसंगता—इअं अ रअणमाला ताए जीविदणिरासाए अज्जवसन्तअस्स हत्थे पडिवादेसित्ति भणिअ मम हत्थे समप्पिदा। ता गेण्हदु एदं अज्जो।

[ इयं च रत्नमाला तया जीवितनिराशया आर्यवसन्तकस्य हस्ते प्रतिपादयेति मम हस्ते समर्पिता। तद्गृह्णात्वेतामार्यः। ]

---

सुसंगतेति। तपस्विनी अनुकम्पार्हा। प्रवादं जनापवादम्। प्रख्यातिमिति यावत्। कृत्वा उत्पाद्य। अर्धरात्रे मध्यरात्रे इति यावत्।

विदूषक इति। अतिनिर्घृणं निर्गता घृणा यस्मात् तत् निर्घृणम्, अतिशयितं निर्घृणमतिनिर्घृणम् अतिनिर्दयमित्यर्थः। 'जुगुप्साकरणे घृणे' इत्यमरः।

सुसंगतेति। तया सागरिकया। जीवितनिराशया जीविते निराशा यस्याः सा, तया, जीवनाशारहितया इत्यर्थः।

---

सुसंगता—आर्यवसन्तक! बात यह है कि वह बेचारी महारानी द्वारा उज्जयिनी नगरी को ले जाई जा रही है, ऐसा जनापवाद फैलाकर आधी रात होने पर न जाने कहाँ भेज दी गई।

विदूषक—( घबराहट के साथ ) महारानी ने यह अत्यन्त घृणित कार्य किया है।

सुसंगता—जीवन से निराश हुई उस ( सागरिका ) ने 'यह रत्नमाला आर्यवसन्तक को समर्पित कर देना' यह कहकर मेरे हाथ में सौंप दी थी। अतः आर्य इसे ग्रहण करें।

विदूषकः—( सास्रम् ) भोदि ण मे ईदिसे पत्थावे हत्था गेण्हिदुं पसरन्ति ।

[ भवति न मे ईदृशे प्रस्तावे हस्तौ ग्रहीतुं प्रसरतः । ]

( उभौ रुदितः )

सुसंगता—( अञ्जलिं बद्ध्वा ) ताए ज्जेव अणुग्गहं करन्तो अङ्गीकरेदु एदं अज्जो ।

[ तस्या एवानुग्रहं कुर्वन्नङ्गीकरोत्वेतामार्यः । ]

विदूषकः—( विचिन्त्य ) अह वा उवणेहि । जेण इमाए ज्जेव्व साअरिआविरहदुक्खिदं पिअवअस्सं विणोदइस्सम् ।

[ अथवोपनय । येनानयैव सागरिकाविरहदुःखितं प्रियवयस्यं विनोदयिष्यामि । ]

( सुसंगतोपनयति । )

विदूषकः—( गृहीत्वा निर्वर्ण्य सविस्मयम् । ) सुसंगदे कुदो उण ताए ईदिसस्स अलंकारस्स समागमो ।

[ सुसंगते कुतः पुनस्तस्या ईदृशस्यालंकारस्य समागमः । ]

---

विदूषक इति । ईदृशे प्रस्तावे दुःखदायिसङ्गे । प्रसरतः अग्रसरो भवतः ।

---

विदूषक—(आँसू भरकर) आर्ये ! इस विपरीत परिस्थिति में रत्नमाला ग्रहण करने हेतु हाथ नहीं बढ़ रहे हैं । ( दोनों रोते हैं । )

सुसंगता—(हाथ जोड़कर) उसी पर दया करते हुए आर्य इसे स्वीकार कर लें ।

विदूषक—( सोचकर ) अथवा लाओ । जिससे कि इस ( रत्नमाला ) के द्वारा ही सागरिका के वियोग में आकुल प्रिय मित्र का मन प्रसन्न करूँगा ।

(सुसंगता देती है ।)

विदूषक—( लेकर, भली प्रकार देखकर, आश्चर्यपूर्वक ) सुसंगते ! उसको ऐसे महार्घ अलंकार की प्राप्ति कहाँ से हुई ?

सुसंगता—अज्ज मए वि सा कोदुहल्लेण पुच्छिदा ज्जेव्वासि।

[ आर्य मयापि सा कौतूहलेन पृष्टैवासीत्। ]

विदूषकः—तदो ताए किं भणिदम्।

[ ततस्तया किं भणितम्। ]

सुसंगता—तदो सा उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससिअ सुसंगदे किं दाणि तुए एदाए कधाएत्ति भणिअ रोदिदुं पउत्ता।

[ ततः सोर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्य सुसंगते किमिदानीं तवैतया कथयेति भणित्वा रोदितुं प्रवृत्ता। ]

विदूषकः—ण कहिदं ज्जेव सामण्णजणदुल्लहेण इमिणा परिच्छदेण सव्वहा महाकुलप्पसूदाए ताए होदव्वंत्ति। सुसंगदे पिअवअस्सो दाणिं कहिं।

[ ननु कथितमेव सामान्यजनदुर्लभेनानेन परिच्छदेन सर्वथा महाकुलप्रसूतया तया भवितव्यमिति। सुसंगते प्रियवयस्य इदानीं कुत्र ? ]

---

सुसंगतेति। ऊर्ध्वमुपरि। प्रेक्ष्य दृष्ट्वा। दीर्घमायतम्। निःश्वस्य श्वासं गृहीत्वा।

विदूषक इति। कथितमेव अतिमहत. पितृतः प्राप्तेयमिति व्यक्तीकृतमेव। सामान्यजनदुर्लभेन सामान्यः साधारणः यो जनः तेन दुर्लभेन। सामान्यजनस्य कथमीदृशपरिच्छदलाभसंभव इति भावः। सर्वथा अङ्गीकारे। महाकुलप्रसूतया उच्चवंशोत्पन्नया।

---

सुसंगता—आर्य ! कुतूहलवश मैंने उससे इस विषय में पूछा था।

विदूषक—तब उसने क्या कहा ?

सुसंगता—तब ऊपर की ओर देखकर लम्बी श्वास लेकर कहा कि 'सुसंगते ! अब तुम इस कथा को जानकर क्या करोगी। यह कहकर रोने लगी।

विदूषक—साधारण मनुष्य के लिए दुर्लभ इस महार्घ आभूषण ने निश्चय ही बता दिया कि वह उच्चकुल में उत्पन्न हुई होगी। सुसंगते ! इस समय प्रिय मित्र कहाँ हैं ?

सुसंगता—अज्ज एसो क्खु भट्टा देवीभवणाओ णिक्कमिअ फडिअसिलामण्डवं गदो। ता गच्छदु अज्जो। अहं वि देवीए पासवत्तिणी भविस्सम्।

[ आर्य एष खलु भर्ता देवीभवनान्निष्क्रम्य स्फटिकशिलामण्डपं गतः। तद्गच्छत्वार्यः। अहमपि देव्याः पार्श्ववर्तिनी भविष्यामि। ]

विदूषकः—एव्वम्।

[ एवम्। ]

( इति निष्क्रान्तौ। )

इति प्रवेशकः।

---

सुसंगतेति। निष्क्रम्य बहिर्भूय। देवीभवनात् राज्ञी प्रासादात्। पार्श्ववर्तिनी समीपस्था।

प्रवेशकस्तदाख्यो अयमंशविशेषः। अतीतानामनभिनीतानामपि देवी प्रसादन-विदूषक-विमोचन सागरिका गोपनादीनां भविष्यताञ्च राजप्रवेशादीनां नीचोक्त्या नीचपात्रद्वयकृतसम्प्रयोजनया निदर्शकत्वात्।

---

सुसंगता—आर्य! महाराजश्री देवी वासवदत्ता के भवन से निकलकर अभी स्फटिक शिला मण्डप में गये हैं। अतः आप जाएँ। मैं भी महारानी के पास जाऊँगी।

विदूषक—अच्छा।

( दोनों चले जाते हैं )

॥ प्रवेशक समाप्त ॥

( ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा । )

राजा—( विचिन्त्य । )

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यापत्तिमुपागता न हि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥ १ ॥

---

राजेति—विचिन्त्य स्मृत्वा ।

अन्वयः—सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा अधिकं चित्तानुवृत्त्या परेण वैलक्ष्येण पादपतनैः मुहुः सखीनां वाक्यैः देवी न हि तथा प्रत्यापत्तिम् उपागता यथा रुदत्या तया स्वयमेव बाष्पसलिलैः प्रक्षाल्य इव कोपः अपनीतः ॥१॥

सव्याजैरिति । सव्याजैः सकपटैः । शपथैः प्रतिज्ञावचनैः । प्रियेण प्रीतिकरेण । वचसा वाक्येन । अधिकं कालम् । चित्तानुवृत्त्या चित्तस्य मनसः अनुवृत्त्या अनुवर्तनेन चित्तपरिचर्यया इत्यर्थः । परेण महता । वैलक्ष्येण विस्मयान्वितभावेन । पादपतनैर्नतिभिः । मुहुः पुनः पुनः । सखीनामालीनाम् । वाक्यैः वचनैः । प्रबोधनोक्तिभिः इतियावत् । देवी वासवदत्ता । न हि तथा नैवतादृशीम् । प्रत्यापत्तिम् प्रकृतिस्थतां प्रसन्नतामिति यावत् । उपगता प्राप्ता । यथा यादृशं रुदत्या कृतरोदनया । तया देव्या । स्वयमेव आत्मना । बाष्पसलिलैः अश्रुजलैः । प्रक्षाल्य इव परिमृज्य इव । कोपः क्रोधः । अपनीतः दूरीकृतः। इत्यत्र सागरिकालाभविरोधि-वासवदत्ताक्रोधोपशमनात् शक्त्याख्यम् अवमर्शसन्ध्यङ्गं संदर्शितम् । यथाहुः दशरूपककाराः विरोधशमनं शक्ति इति । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१॥

---

( तत्पश्चात् आसनस्थ राजा का प्रवेश )

राजा—(चिन्तन करके, कपटपूर्ण शपथों से, मधुर वचनों से, नितान्त मनोनुकूल आचरण से, महती लज्जा से, पैरों पर गिरने से और बार-बार सखियों के प्रबोधात्मक वचनों से देवी उतनी प्रकृतिस्थता को प्राप्त नहीं हुई जितना कि रुदन करते हुए उन्होंने स्वयं ही अश्रुओं से मानों धोकर क्रोध को हटा दिया ॥१॥

( सोत्कण्ठं निःश्वस्य । ) इदानीं देव्यां प्रसन्नायां सागरिकाचिन्तैव केवलं मां बाधते । कुतः—

अम्भोजगर्भसुकुमारतनुस्तदाऽसौ
कण्ठग्रहे प्रथमरागघने विलीय ।
सद्यः पतन्मदनमार्गणरन्ध्रमार्गै-
र्मन्ये मम प्रियतमा हृदयं प्रविष्टा ॥ २ ॥

---

सोत्कण्ठमिति । रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या । संशोषिणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधा इति । इदानीं साम्प्रतम् । देव्याम् वासवदत्तायाम् । प्रसन्नायां प्रसादितायाम् बाधते पीडयति ।

अन्वयः—तदा प्रथमराघने कण्ठग्रहे अम्भोजगर्भसुकुमारतनुः असौ प्रियतमा विलीय सद्यः पतन्मदनमार्गणरन्ध्रमार्गैः मम हृदयं प्रविष्टा (इत्यहं) मन्ये ॥२॥

अम्भोजेति । तदा प्रथमसम्मिलनवेलायां । प्रथमरागघने प्रथमः नूतनः यः अनुरागः तेन घने प्रगाढे । कण्ठग्रहे कण्ठाश्लेषसमये । अम्भोजगर्भसुकुमारतनुः अम्भोजस्य पद्मस्य गर्भवदभ्यन्तरवत् सुकुमारा कोमला तनुर्यस्याः सा । असौ सा । प्रियतमा प्रेयसी । विलीय द्रवीभूय । सद्यः तत्क्षणे । पतन्मदनमार्गणरन्ध्रमार्गैः पतन्तः निपतन्तः ये मदनस्य कन्दर्पस्य मार्गणाः बाणाः तैः कृतानि यानि रन्ध्राणि छिद्राणि तान्येव मार्गाः अन्तः प्रवेशपथाः तैः । मम मे । हृदयं चित्तम् । प्रविष्टा गता इत्यहं मन्ये । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥२॥

---

साम्प्रत देवी के प्रसन्न हो जाने के उपरान्त मुझे केवल सागरिका की चिन्ता ही पीडित कर रही है । क्योंकि—

उस समय अभिनव अनुराग के कारण प्रणयालिङ्गन में, कमल के मध्य-भाग के समान अत्यन्त कोमल गात वह प्रियतमा द्रवीभूत होकर तत्काल गिरते हुए अनङ्ग के बाणों द्वारा किये गये छिद्रों के रास्ते मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गई ॥ २॥

( विचिन्त्य । ) योऽपि मे विश्वासस्थानं वसन्तकः सोऽपि देव्या संयत-स्तिष्ठति । तत्कस्याग्रे बाष्पमोक्षं करिष्ये । ( इति निःश्वसिति । )

( ततः प्रविशति वसन्तकः । )

वसन्तकः—( राजानं दृष्ट्वा । ) एसो क्खु णिब्भरोक्कण्ठापरिक्खामं विसलाघणिज्जलावण्णं तणुं समुव्वहन्तो उदिओ विअ दुदिआचन्दो अहिअअरं सोहदि पिअवअस्सो । ता जाव णं उवसप्पामि । सोत्थि भवदे । दिट्ठिआ दिठ्ठोसि । देवीहत्थगदेणावि मए पुणोवि एदेहि अच्छीहिं ।

[एष खलु निर्भरोत्कण्ठापरिक्षामामपि श्लाघनीयलावण्यां तनुं समुद्वहन्नुदित इव द्वितीयाचन्द्रोऽधिकतरं शोभते प्रियवयस्यः । तद्यावदेनमुपसर्पामि (उपसृत्य ।) स्वस्ति भवते । दिष्ट्या दृष्टोऽसि देवीहस्तगतेनापि मया पुनरप्येताभ्यामक्षिभ्याम् ।]

---

विचिन्त्येति । विश्वासस्थानं विश्वसनीयः । संयतः बद्धः । बाष्पमोक्षं रोदनम् ।

वसन्तक इति । निर्भरोत्कण्ठापरिक्षामाम् निर्भरया अविच्छिनया उत्कण्ठया मनोवेदनया परिक्षामां परिक्षीणाम् । श्लाघनीयलावण्यां श्लाघनीयं प्रशंसनीयं रूपसौन्दर्यं यस्याः सा ताम् । तनुं कायं । समुद्वहन् धारयन् । देवी हस्तगतेनापि वासवदत्तया निगडितेनापि । अक्षिभ्यां नेत्राभ्याम् ।

---

( चिन्तन करके ) जो मेरा विश्वस्त वसन्तक था, वह भी महारानी द्वारा कैद कर लिया गया है । तब मैं किसके समक्ष आँसू बहाऊँ ? ( इस प्रकार हताश होकर दीर्घ श्वास लेता है । )

वसन्तक—(राजा को देखकर) अतिशय उत्कण्ठा से क्षीण हो जाने पर भी प्रशंसनीय सौन्दर्ययुक्त शरीर को धारण करते हुए ये मेरे मित्र उदित हुए दूज के चन्द्रमा के समान अतिशय सुशोभित हो रहे हैं । अतः तब तक इनके पास ही चलता हूँ ( समीप जाकर ) सौभाग्य से महारानी जी के हाथ पड़कर भी मैं पुनः इन आँखों से आपको देख रहा हूँ ।

राजा—( दृष्ट्वा सहर्षम् । ) अये वसन्तकः प्राप्तः । सखे परिष्वजस्व माम् । ( विदूषक परिष्वजति । )

राजा—वयस्य वेषेणैव निवेदितस्ते देव्याः प्रसादः । तत्कथयतामिदानीं सागरिकायाः का वार्तेति ।

( विदूषकः सवैलक्ष्यमधोमुखस्तिष्ठति । )

राजा—वयस्य किं न कथयसि ।

विदूषकः—अप्पिअं दे णिवेदिदुं ण पारेमि ।
[ अप्रियं ते निवेदयितुं न पारयामि । ]

राजा—( सोद्वेगम् । ) वयस्य कथमप्रियम् । व्यक्तमुत्सृष्टं जीवितं तया । हा प्रिये सागरिके । ( इति मूर्च्छति । )

---

राजेति । सोद्वेगं मानसिकवेदनापूर्वकम् । व्यक्तं स्फुटम् । उत्सृष्टम् परित्यक्तम् ।

---

राजा—( देखकर प्रसन्नतापूर्वक ) अरे ! बसन्तक आ गया । मित्र मुझे आलिंगन करो । (विदूषक आलिंगन करता है)

राजा—तुम्हारी वेषभूषा ही महारानी की प्रसन्नता का कथन कर रही है । तो अब कहो, सागरिका का क्या समाचार है ?

( विदूषक लज्जित हो मुँह लटकाये रहता है )

राजा—मित्र कहते क्यों नहीं हो ?

विदूषक—तुमसे अप्रिय निवेदन करने में मैं समर्थ नहीं हूँ ।

राजा—( व्याकुलतापूर्वक ) मित्र ! अप्रिय कैसे ? स्पष्ट ही उसने प्राण त्याग दिये । हा प्रिय सागरिके !( यह कह कर मूर्छित हो जाता है )

विदूषक—( ससम्भ्रमम् । ) समस्ससदु समस्ससदु पिअवअस्सो ।
[ समाश्वसितु समाश्वसितु प्रियवयस्यः । ]

राजा—( समाश्वस्य । सास्रम् । )

प्राणाः परित्यजत काममदक्षिणं मां
रे दक्षिणा भवत मद्वचनं कुरुध्व. ।
शीघ्रं न यात यदि तन्मुषिताः स्थ नूनं
याता सुदूरमधुना गजगामिनी सा । ३ ॥

---

राजेति । समाश्वस्य सम्यक् सुस्थीभूय । सास्रं सबाष्पम् ।

अन्वयः—रे प्राणाः मद्वचनं कुरुध्वम् । कामम् अदक्षिणं मां परित्यजत । दक्षिणाः भवत । यदि शीघ्रं न यात तन्मुषिताः स्थ, गजगामिनी सा नूनम् अधुना सुदूरं याता ॥३॥

प्राणा इति । रे प्राणाः हे मदीया असवः । मद्वचनं मत्कथनम् । कुरुध्वं त्वरितं पालयतेति भावः । काममत्यर्थम् । अदक्षिणमसरलम् । मां परित्यजत उदयनं मुञ्चत । दक्षिणाः उदराः । भवत जायध्वम् । अन्यथा किं स्यादित्यत आह-यदि शीघ्रं न यात गच्छत तत् तदा मुषिता हृताः स्थ विफलाः स्थेत्यर्थः । कुत इत्यत आह--गजगामिनी गजवत् गन्तु शीलं यस्याःसा मृदुगामिनीति यावत् । सा सागरिका नूनं निश्चितम् । अधुना इदानीं सुदूरं याता दीर्घमध्वानमतिक्रान्ता । भूयसः कालस्यातिगमात् मन्दमन्दपदविन्यासेनापि इदानीं दूरं गता तदधुनापि कथमपि न तामासादयिष्यथेति भावः । अत्र पर्यायोक्तमलङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥३॥

---

विदूषक—(घबराहटपूर्वक) प्रिय मित्र ! धैर्य रखें, धैर्य रखें ।

राजा--( आश्वस्त होकर रोते हुए )

अरे प्राण ! मेरी बात मानों । अत्यन्त अनुदार मुझ उदयन को तुम छोड़ दो, मेरे अनुकूल हो जाओ । यदि तुम शीघ्र नहीं गये तो तुम लुट गये हो । ( क्योंकि ) गजगामिनी वह सागरिका निश्चित ही अब बहुत दूर जा चुकी होगी ॥३॥

विदूषकः—भो वअस्स मा अण्णधा सम्भावेहि। सा क्खु तवस्सिणी देवीए उज्जइणिं पेसिदत्ति सुणीअदि। अदो मए अप्पिअं त्ति भणिदम्।

[भो वयस्य, माऽन्यथा संभावय। सा खलु तपस्विनी देव्योज्जयिनीं प्रेषितेति श्रूयते। अतो मयाऽप्रियमिति भणितम्।]

राजा—कथमुज्जयिनीं प्रेषिता। अहो निरनुरोधा मयि देवी। वयस्य केन तवैतदाख्यातम्?

विदूषकः—(सास्रं निःश्वस्य।) भो सुसंगदाए। अण्णं च। मम हत्थे ताए किंवि णिमित्तं इअं रअणमाला पेसिदा।

[भोः सुसंगतया। अन्यच्च। मम हस्ते तया किमपि निमित्तमियं रत्नमाला प्रेषिता।]

---

विदूषक इति। अन्यथा अन्यप्रकारेण। अजीवनमिति यावत्। मा सम्भावय न मन्यस्व। तपस्विनी वराका। प्रेषिता प्रहिता।

राजेति। निरनुरोधिता अननुवर्तिता नेष्टसम्पादकतेतियावत्। अनुरोधोऽनुवर्तनमित्यमरः। आख्यातं भणितम्।

राजेति। अपरं कार्यमिति शेषः। आश्वासयितुं सुस्थीकर्त्तुं प्रेषितेतिशेषः। तत् तस्मात्।

---

विदूषक—हे मित्र! ऐसी सम्भावना मत करो। 'वह बेचारी तो महारानी द्वारा उज्जयिनी नगरी भेज दी गई है' ऐसा सुना जाता है। इस कारण मैंने 'अप्रिय' शब्द कह दिया।

राजा—उज्जयिनी क्यों भेज दिया गया? आह! महारानी ने मुझ पर बिलकुल अनुरोध नहीं किया। मित्र! तुमसे यह किसने कहा?

विदूषक—(रोते हुए लम्बी श्वास लेकर) अरे सुसंगता ने। हाँ एक बात और भी। उसने मेरे हाथ में किसी कारण से यह रत्नमाला भिजवाई है।

राजा—किमपरम् । मां समाश्वासयितुम् । तद्वयस्योपनय ।

( विदूषक उपनयति । )

राजा—(गृहीत्वा रत्नमालां निर्वर्ण्य हृदये निधाय ।) अहह—

कण्ठाश्लेषं समासाद्य तस्याः प्रभ्रष्टयाऽनया ।
तुल्यावस्था सखीवेयं तनुराश्वास्यते मम ॥ ४ ॥

वयस्य त्वं परिधत्स्वैताम् । येन वयमेनां तावद् दृष्ट्वा धृतिं करिष्यामः ।

---

राजेति । निर्वर्ण्य दृष्ट्वा । निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणमित्यमरः । अहहेति खेदे । 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः ।

अन्वयः—तस्याः कण्ठाश्लेषं समासाद्य प्रभ्रष्टया अनया इयं मम तनुः तुल्यावस्था सखीव आश्वास्यते ॥४॥

कण्ठेति । तस्याः सागरिकायाः । कण्ठाश्लेषं कण्ठस्य आश्लेषमालिङ्गनम् कण्ठसम्पर्कमिति भावः । समासाद्य आसाद्य । पभ्रष्टया परिच्युतया । अनया रत्नमालया । इयं मम तनुः मदीयं शरीरं । तुलावस्था तुल्या रत्नमालासदृशी अवस्था दशा यस्याः सा । अतएव सखीव आलिसमा । समाश्वास्यते सान्त्व्यते । अत्रोपमालङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥४॥

---

राजा—और किस कार्य से ? मुझे आश्वासन देने के लिये भिजवायी है । तो मित्र ! लाओ । (विदूषक देता है ।)

राजा - ( रत्नमाला लेकर सम्यक् देखकर और हृदय से लगाकर ) ओह !

उस प्रियतमा सागरिका के कण्ठ का सम्पर्क पाकर, बिलग हुई यह रत्नमाला मेरे इस शरीर को समान अवस्थावाली सखी के समान सान्त्वना दे रही है ॥४॥

मित्र ! तुम इसे धारण कर लो । जिससे कि हम इसी को देखकर संतोष करें ।

विदूषक—जं भवं आणवेदि ।

[ यद्भवानाज्ञापयति । ] ( परिदधाति । )

राजा—( सास्रम् । ) वयस्य दुर्लभं पुनर्दर्शनं प्रियायाः ।

विदूषकः—( दिशोऽवलोक्य सभयम् । ) भो वअस्स मा एव्वं उच्चं मन्तेहि । कआवि कोवि देवीए इह संचरदि ।

[ भो वयस्य, मैवमुच्चैर्मन्त्रयस्व कदापि कोऽपि देव्या इह संचरति । ]

( ततः प्रविशति वेत्रहस्ता वसुन्धरा )

वसुन्धरा—( उपसृत्य । ) जअदु जअदु भट्टा । भट्टा एसो क्खु रुमण्णदो भाइणेओ विजअवम्मा पिअं किंपि णिवेदिदुकामो दुआरे चिट्ठदि ।

[ जयतु जयतु भर्ता । भर्तः एष खलु रुमण्वतो भागिनेयो विजयवर्मा प्रियं किमपि निवेदयितुकामो द्वारे तिष्ठति । ]

---

तत इति । वेत्रहस्ता वेत्रं वेतसयष्टिः हस्ते यस्याः तादृशी, वसुन्धरा एतन्नाम्नी प्रतीहारी । यदाह भरतः संधिविग्रहसम्बद्धं नानाकार्यसमुत्थितम् । निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतिहार्यस्तु ताः स्मृता इति ।

वसुन्धरेति । रुमण्वतः तन्नाम्नः वत्सराजसेनापतेः । भागिनेयः भगिनी-पुत्रः । निवेदयितुकामः निवेदयितुं कथयितुं कामः अभिलाषः यस्य तादृशः ।

---

विदूषक—आपकी जैसी आज्ञा । ( पहनता है )

रजा—( साश्रु ) मित्र ! प्रिया का पुनः दर्शन दुलंभ हो गया ।

विदूषक—( भयपूर्वक चारो ओर देखकर ) मित्र ! इस प्रकार उच्च स्वर में मत बोलिए । कदाचित महारानी जी का कोई परिजन यहाँ घुम रहा हो ।

( तत्पश्चात् हाथ में बेंत लिए वसुन्धरा का प्रवेश )

वसुन्धरा—( समीप जाकर ) स्वामी की जय हो । स्वामी ! ये रूमण्वान् के भानजे बिजयवर्मा कुछ प्रिय निवेदन करने की इच्छा से द्वार पर उपस्थित हैं ।

राजा—वसुन्धरे अविलम्बितं प्रवेशय ।

वसुन्धरा—जं देवो आणवेदि । विजअवम्म एसो क्खु भट्टा । ता उपसप्पदु अज्जो ।

[ यद्देव आज्ञापयति । ( इति निष्क्रम्य विजयवर्मणा सह पुनः प्रविश्य । ) विजयवर्मन् एष खलु भर्ता । तदुपसर्पत्वार्यः । ]

विजयवर्मा—( उपसृत्य । ) जयतु जयतु देवः । देव दिष्ट्या वर्धसे रुमण्वतो विजयेन ।

राजा—साधु रुमण्वन् साधु । अचिरान्महत्प्रयोजनमनुष्ठितम् । विजयवर्मन् इत आस्यताम् ।

( विजयवर्मोपविशति । )

राजा—विजयवर्मन् जितः कोसलाधिपतिः ?

विजयमर्वा—देवस्य प्रभावेण ।

---

राजेति । अचिरात् अल्पेनैवकालेन । महत्प्रयोजनं विपुलं कार्यम् । अनुष्ठितं साधितम् ।

विजयेति । प्रभावेण कोषदण्डजतेजसा । प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजमित्यमरः । जिता इति शेषः ।

---

राजा—वसुन्धरे ! शीघ्र प्रवेश कराओ ।

वसुन्धरा—महाराज की जो आज्ञा । ( बाहर जाकर विजयवर्मा के साथ पुनः प्रवेश ) विजयवर्मन् ! ये ही स्वामी हैं । अतः आप समीप जायें ।

विजयवर्मा –( समीप जाकर ) महाराज की जय हो, जय हो । महाराज ! सौभाग्यवश रुमण्वान् की विजय से आपका अभ्युदय हो रहा है ।

राजा--साधु विजयवर्मन् ! साधु । अल्प समय में ( तुमने ) बहुत बड़ा कार्य किया । विजयवर्मन् यहाँ बैठिए ।

( विजयवर्मा आसन ग्रहण करते हैं )

राजा – विजयवर्मन् ! क्या कोसल नरेश को जीत लिया ?

विजयवर्मा—महाराज के प्रभाव से ।

राजा—विजयवर्मन् तत्कथय कथमिति । विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि ।

विजयवर्मा—देव श्रूयताम् । वयमितो देवादेशात्कतिपयैरेवाहोभिरनेककरितुरगपत्तिदुर्निवारेण महता बलसमूहेन गत्वा विन्ध्यदुर्गावस्थितस्य कोसलाधिपतेर्द्वारमवष्टभ्य सेनाः समावेशयितुमारब्धाः ।

राजा—ततस्ततः ।

विजयवर्मा—ततः कोसलाधिपतिरपि दर्पात्परिभवमसहमानो हास्तिकप्रायमशेषमात्मसैन्यं सज्जीकृतवान् ।

---

राजेति । विस्तरतः आमूलादवसानपर्यन्तम् ।

विजयेति । वयं सैनिकाः । इतः अस्मात् स्थानात् । देवादेशात् भवताम् आज्ञातः । कतिपयैः कतिभिः । अनेककरितुरगपत्तिदुर्निवारेण अनेके बहवः करिणः गजाः तुरगाः अश्वाः पत्तयः पदातयश्च तैः दुर्निवारेण दुर्धर्षेण । बलसमूहेन सैन्यकदम्बेन । विन्ध्यदुर्गावस्थितस्य विन्ध्यदुर्गे अवस्थितस्य वर्तमानस्य । अवष्टभ्य अभिरुध्य । समावेशयितुं पुरीरोधाय व्यवस्थापयितुम् । आरब्धाः क्रान्ताः ।

---

राजा—विजयवर्मन् ! तो कथन करो, कैसे ( क्या हुआ ) ? मुझे विस्तार से सुनने की इच्छा है ।

विजयवर्मा—महाराज ! सुनिये । हमने यहाँ से महाराज की आज्ञा पाकर कुछ ही दिनों में अनेक हाथी, घोड़े और पैदल सैनिकों के कारण दुर्जेय विशाल सैन्यसमूह के साथ जाकर, विन्ध्य दुर्ग में अवस्थित कोसलनरेश के आवा-गमन के मार्ग को रोककर सैन्य संचालन करना प्रारंभ कर दिया ।

राजा—तब क्या हुआ ?

विजयवर्मा—तब कोसलनरेश ने दुरभिमान के कारण पराजय को सहन न करते हुए, हाथियों की अधिकता से युक्त अपनी सम्पूर्ण सेना को तैयार कर लिया ।

विदूषकः—भोः लहुं आचक्ख। वेवदि विअ मे हिअअम्।
[भो लघ्वाचक्ष्व वेपत इव मे हृदयम्।]

राजा—ततस्ततः।

विजयवर्मा—देव कृतनिश्चयश्चासौ—

योद्धुं निर्गत्य विन्ध्यादभवदभिमुखस्तत्क्षणं दिग्विभागान्
विन्ध्येनेवापरेण द्विपपतिपृतनापीडबन्धेन रुन्धन्।
वेगाद् बाणान् विमुञ्चन् समदकरिघटोत्पिष्टपत्तिर्निपत्य
प्रत्यैच्छद्वाञ्छितातिद्विगुणितरभसस्तं रुमण्वान् क्षणेन ॥५॥

---

विजयेति। अतिदर्पादतिगर्वात्। परिभवमस्मत्कृताक्रमणम्। हस्तिनां समूहो हास्तिकम्, 'हास्तिकं गजतावृन्दे' इत्यमरः। अशेषं सम्पूर्णम्। आत्मसैन्यं निजसेनां। सज्जीकृतवान् सन्नद्धं कृतवान्।

अन्वयः—तत्क्षणम् अपरेण विन्ध्येन इव द्विपपतिपृतनापीडबन्धेन दिग्विभागान् रुन्धन् विन्ध्यात् निर्गत्य योद्धुम् अभिमुखः अभवत्। (अथ) समदकरिघटोत्पिष्टपत्तिः रुमण्वान् बाणान् विमुञ्चन् वेगात् क्षणेन निपत्य वाञ्छितातिद्विगुणितरभसः (सन्) तम् प्रत्यैच्छत् ॥५॥

योद्धुमिति। तत्क्षणं सेनासमावेशक्षण एव। अपरेण द्वितीयेन। विन्ध्येन विन्ध्यनामकपर्वतेन इव। द्विपपतिपृतनापीडबन्धेन द्विपपतीनां हस्तिपतीनां पृतनानां पत्तीनाञ्च आ सम्यक् पीडा परस्परसंघर्षो यस्मिन् तादृशेन बन्धेन निवेशनेन घनसन्नद्धकरिसेनया इत्यर्थः। दिग्विभागान् दिशावकाशान्। रुन्धन् आवृण्वन्। विन्ध्यात् निर्गत्य विन्ध्याचलात् बहिर्निःसृत्य। योद्धुं युद्धं कर्तुम्।

---

विदूषक—अरे, शीघ्र कथन करो। मेरा हृदय काँप सा रहा है।

राजा—तब क्या हुआ?

विजयवर्मा—राजन्! दृढनिश्चय किये हुए वह उसी क्षण दूसरे विन्ध्याचल के समान गजेन्द्रों की सेना की सघनव्यूह रचना से दिङ् मण्डल को घेरता हुआ विन्ध्य (दुर्ग) से निकल कर युद्ध करने हेतु सामने आ गया। (तत्पश्चात्)

अपि च—

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि ।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भङ्गप्रतीपीभव-
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः ॥ ६ ॥

---

अभिमुखः पुरोवर्ती अभवत् बभूव । अथ समदकरिघटोत्पिष्टपत्तिः समदनां मदमत्तानां करिणां गजानां घटा पङ्क्तिः तया उत्पिष्टाः विमर्दिताः पत्तयः पदातयः येन स तादृशः रुमण्वान् बाणान् शरान् । विमुञ्चन् विक्षिपन् । वेगात् तरसा । क्षणेन निपत्य मुहूर्तेन अन्तरा प्रविश्य । वाञ्छितातिद्विगुणितरभसः वाञ्छितस्य ईप्सितस्य कोसलाधिपतिना सह युद्धस्य आप्तिः प्राप्तिः तया द्विगुणितरभसः द्विगुणीकृतवेगः सन् तं कोशलेश्वरं क्षणेन् प्रत्यैच्छत् प्रजहारेत्यर्थः ॥ अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । स्रग्धरावृत्तम् ॥५॥

अपि चेति । अन्यच्चेत्यर्थः ।

अन्वयः—अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि आजिमुखे भङ्गप्रतीपीभवम् मत्तद्विपस्थः सः कोसलपतिः आहूय एकेन एव रुमण्वता शरशतैः हतः ॥६॥

अस्त्रेति । अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे अस्त्रैः आयुधैः व्यस्तानि शिरस्त्राणि शीर्षकाणि लोहनिर्मितशिरच्छादकानीति यावत् यैस्तथोक्तैः शस्त्रकषणैः शस्त्राघातैः कृत्तानि छिन्नानि उत्तमाङ्गानि शिरांसि यत्र तत्

---

मदस्रावी हाथियों के समूह से विमर्दित पैदल सेनावाले रुमण्वान् बाणों को छोड़ते हुए तेजी से क्षणभर में ही आक्रमण करके अभीष्ट शत्रु की प्राप्ति से द्विगुणित वेगशाली होकर उस पर टूट पड़े ॥५॥

और भी—

अस्त्रों से ( सैनिक ) ओपियों को उधेड़कर शस्त्रों के प्रहार से काटे जा रहे ( सैनिकों ) के सिरवाले रणाङ्गण में क्षण भर में शोणित की नदी बहने लगी,

विदूषकः—जअदु जअदु भवं। जितं अम्हेहिं।

[ जयतु जयतु भवान्। जितमस्माभिः। ] ( इत्युत्थाय नृत्यति। )

राजा—साधु कोसलपते साधु। मृत्युरपि ते श्लाघ्यो यस्य शत्रवोऽप्येवं पुरुषकारं वर्णयन्ति। ततस्ततः।

---

तस्मिन्। 'शीर्षकं शीर्षण्यं च शिरस्त्रे इत्यमरः। तथा क्षणं क्षणेनैव। व्यूढासृक्सरिति व्यूढा धृता असृजां रुधिराणां सरिन्नदी येन तत् तस्मिन्। 'रुधिरेऽसृग्लोहितास्ररक्तक्षतजशोणितमित्यमरः। स्वनत्प्रहरणे स्वनन्ति शब्दायमानानि प्रहरणानि अस्त्राणि यस्मिन् तत् तस्मिन्। वर्मोद्वलद्वह्निनि वर्मभ्यः कवचेभ्यः उद्वलन प्रकटीभवन् वह्निः अग्निः यत्र तत् तस्मिन्। आजिमुखे समराग्रे 'स्त्रियः संयत् समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः। भङ्गप्रतीपीभवन् स्वपराजयं निवारयितुमुद्युञ्जानः। मत्तद्विपस्थः मदस्राविगजपृष्ठारूढः, सः कोसलपतिः। आहूय स्पर्धापूर्वकाह्वानेन आकार्य। प्रधाने बले सैन्ये भग्ने विनष्टे सति एकेन अद्वितीयेनैव रुमण्वता शरशतैः शतसङ्ख्याकैर्करणैः हतः मारितः। अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥६॥

राजेति। श्लाघ्यः प्रशंसनीयः। रिपवः शत्रवः। पुरुषकारं पुरुषोचितक्रियां पराक्रममिति यावत्। वर्णयन्ति कथयन्ति।

---

आयुधों के परस्पर प्रहारों से खनखनाहट होने लगी, कवचों से अग्नि स्फुलिंग निकलने लगे। युद्धक्षेत्र में अपनी पराजय को रोकते हुए और मतवाले हाथी पर बैठे हुए कोसलनरेश को ललकारकर अकेले रुमण्वान् ने ही शताधिक बाणों से उसका वध कर दिया।

विदूषक—महाराज की जय हो, जय हो। हम जीत गये। ( यह कहते हुए उठ कर नाचने लगता है। )

राजा—साधु कोसलनरेश! साधु। तुम्हारी मृत्यु भी प्रशंसाहं है, जिसके पराक्रम की प्रशंसा शत्रु भी इस प्रकार कर रहे हैं। फिर क्या हुआ?

विजयवर्मा—देव, ततो रुमण्वानपि कोसलेषु मद्भ्रातरं ज्यायांसं जयवर्माणं स्थापयित्वा समरव्रणितमशेषबलमनुवर्त्तमानः शनैः शनैरागच्छत्येव ।

राजा—वसुन्धरे उच्यतां यौगन्धरायणः दीयतां मत्प्रसादोऽस्येति ।

वसुन्धरा—जं देवो आणवेदि ।

[ यद्देव आज्ञापयति । ] ( इति विजयवर्मणा सह निष्क्रान्ता । )

( ततः प्रविशति काञ्चनमाला । )

काञ्चनमाला—आणत्तह्मि देवीए जह-हञ्जे काञ्चणमाले गच्छ । एदं इन्द्रजालिअं अज्जउत्तस्य दंसेहि त्ति । एसो क्खु भट्टा । ता जाव उपसप्पामि । जअदु जअदु भट्टा । देवो विण्णवेदि-एसो क्खु उज्जइणीदो सव्वसिद्धी णाम इन्दजालिओ आअदो । ता पेक्खदु णं अज्जउत्तो त्ति ।

---

विजयेति । ज्यायांसं संज्येष्ठम् । कोसलेषु कोसलराज्ये । समरव्रणितं युद्धविक्षतदेहम् । अशेषबलं सकलसैन्यम् । अनुवर्तमानः अनुसरन् । शनैर्मन्दं मन्दम् ।

राजेति । मत्प्रसादः मत्प्रसादसूचकं पारितोषिकमिति यावत् ।

---

विजयवर्मा—राजन् ! रुमण्वान् भी कोसल राज्य में मेरे ज्येष्ठ भ्राता जयवर्मा को नियुक्त करके युद्ध में आहत हुई सम्पूर्ण सेना को साथ लेकर धीरे-धीरे आ ही रहे हैं।

राजा—वसुन्धरे ! योगन्धरायण से कहो कि मेरा प्रसाद इन्हें दिया जाय ।

वसुन्धरा—महाराज की जो आज्ञा । ( यह कह कर विजयवर्मा के साथ चली जाती है । )

( तत्पश्चात् काञ्चनमाला का प्रवेश )

काञ्चनमाला—मुझे महारानी ने आदेश दिया है कि 'काञ्चनमाले ! जाओ । इस ऐन्द्रजालिक को आर्यपुत्र का दर्शन कराओ । ( घूम कर और

[ आज्ञप्तास्मि देव्या यथा—हञ्जे काञ्चनमाले गच्छ । एतमैन्द्रजालिकमार्यपुत्राय दर्शय । ( परिक्रम्यावलोक्य च । ) एषः खलु भर्ता । तद्यावदुपसर्पामि । ( उपसृत्य । ) जयतु जयतु भर्ता । देवी विज्ञापयति—एष खलूज्जयिनीतः सर्वसिद्धिर्नामैन्द्रजालिक आगतः । तत्प्रेक्षतामेनमार्यपुत्र इति । ]

राजा—अस्ति नः कौतुकमिन्द्रजाले । तच्छीघ्रं प्रवेशय ।

काञ्चनमाला—जं देवो आणवेदि ।

[ यद्देव आज्ञापयति । ]

( निष्क्रम्य पुनः पिच्छिकाहस्तेनेन्द्रजालिकेन सह प्रविशति । )

ऐन्द्रजालिकः—( पिच्छिकां भ्रमयन् । )

पणमह चलणे इन्दस्स इन्दजालअपिणद्धणामस्स ।
तह ज्जेव्व संबरस्स माआसुपरिठ्ठिदजस्स ॥

---

काञ्चनमालेति । ऐन्द्रजालिकम् ऐन्द्रजालं मायां वेत्ति इति ऐन्द्रजालिकः तम् । आर्यपुत्राय राज्ञे वत्सराजाय ।

राजेति । कौतुकं कुतूहलं दिदृक्षेति यावत् । रम्यवस्तु समालोके लोलता स्यात् कुतूहलम् ।

ऐन्द्रजालिक इति । पिञ्छिकां मयूरपिच्छिकां भ्रामयन् ।

अन्वयः—इन्द्रजालकपिनद्धनाम्नः इन्द्रस्य चरणौ प्रणमत । मायासुप्रतिष्ठितयशसः शम्बरस्य चरणौ प्रणमत ॥ ७ ॥

---

देख कर ) यह तो महाराज हैं। तो उनके पास चलती हूं। ( समीप जाकर ) महाराज की जय हो, जय हो। महारानी जी निवेदन करती हैं कि—यह सर्वसिद्धि नाम का मायावी उज्जयिनी से आया है। अतः महाराज इसे देखें।

राजा—इन्द्रजाल में हमें भी उत्सुकता है। इसलिए शीघ्र बुला लाओ।

काञ्चनमाला—महाराज की जैसी आज्ञा।

( बाहर जाकर पुनः मयूर पंख हाथ में लिए हुए मायावी के साथ प्रवेश )

ऐन्द्रजालिक—( मयूरपंखों को घुमाते हुए ) इन्द्रजाल से सम्बद्ध

[ प्रणमत चरणारविन्द्रस्येन्द्रजालकपिनद्धनाम्नः ।
तथैव शम्बरस्य मायासुप्रतिष्ठितयशसः ॥ ७ ॥ ]

काञ्चनमाला—( उपसृत्य । ) भट्टा एसो क्खु इन्दजालिओ ।
[ भर्तः एष खल्वैन्द्रजालिकः । ]

ऐन्द्रजालिकः—जअदु जअदु देवो । देव ।
[ जयतु जयतु देवः । देव । ]

किं धरणिए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो ।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जइ देहि आणत्तिं ॥

---

प्रणमतेति । इन्द्रजालकपिनद्धनाम्नः इन्द्रजालकं माया तत्र पिनद्धमनुस्यूतं सम्बद्धमिति यावत् नाम यस्य तादृशस्य । इन्द्रस्य शक्रस्य । चरणौ चरणकमले पादाविति भावः । प्रणमत नमस्कुरुत तथैव तद्वदेव । मायासुप्रतिष्ठितयशसः मायासु इन्द्रजालेषु सुप्रतिष्ठितं बद्धमूलं यशः कीर्तिः यस्य शम्बरनाम्नो मायाविनः च चरणौ नमस्कुरुत । अत्र परिकरालङ्कारः । गाथा वृत्तम् ॥ ७ ॥

काञ्चनमालेति । भर्तः स्वामिन् । ऐन्द्रजालिकः मायावी ।

अन्वयः—किं धरण्यां मृगाङ्कः, आकाशे महीधरः, जले ज्वलनः मध्याह्ने प्रदोषः दर्श्यंताम्, आज्ञा देहि ॥ ८ ॥

---

नाम वाले इन्द्र के चरणों में प्रणाम करो और उसी प्रकार सुप्रसिद्ध मायावी शम्बरासुर के चरणों में प्रणाम करो ॥ ७ ॥

काञ्चनमाला—( समीप जाकर ) महाराज ! ये ही ऐन्द्रजालिक हैं ।

ऐन्द्रजालिक—महाराज की जय हो; जय हो । महाराज !

क्या पृथिवी पर चन्द्रमा, या आकाश में पर्वत या जल में अग्नि अथवा दोपहर में प्रदोषकाल दिखाया जाय ? आज्ञा दें ॥ ८ ॥

[ किं धरण्यां मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलनः ।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम् ॥ ८ ॥ ]

अह वा किं बहुणा जप्पिदेण ।
[ अथ वा किं बहुना जल्पितेन । ]

मज्ज पइण्णा एसा जं जं हिअएण इहसि सन्दट्ठुम् ।
तं तं दंसेमि अहं गुरुणो मन्तप्पभावेण ॥
[ मम प्रतिज्ञैषा यद्यद् हृदयेनेहसे संद्रष्टुम् ।
तत्तद्दर्शयाम्यहं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ॥९॥ ]

---

—किमिति । किम् इति प्रश्ने । धरण्यां पृथिव्याम् । मृगाङ्कः चन्द्रः । आकाशे नभसि । महीधरः पर्वतः । जले सलिले 'सलिलं कमलं जलमि'-त्यमरः । ज्वलनः अग्निः । मध्याह्ने मध्याह्नकाले । प्रदोषः सायं वेलायाः कालः । प्रदर्श्यतां दर्शनपथम् प्राप्यताम् । आज्ञप्ति देहि आदेशय । विरोधाभासालङ्कारः । गाथावृत्तम् ॥ ८ ॥

अथेति । बहुना अधिकेन । जल्पितेन भणितेन ।

अन्वयः—यत् यत् हृदयेन सन्द्रष्टुम् ईहसे तत् तत् अहं गुरोः मन्त्रप्रभावेण दर्शयामि—एषा मम प्रतिज्ञा ॥ ९ ॥

ममेति । यत् यत् वस्तु हृदयेन मनसा । सन्द्रष्टुम् विलोकयितुमीहसे कामयसे । तत् तत् अहं गुरोः एतद्विद्याशिक्षकस्य मन्त्रप्रभावेण मन्त्रचमत्कारेण । दर्शयामि प्रदर्शयिष्यामि । एषा इत्याकारकी मम मदीया प्रतिज्ञा संकल्पः । इत्युक्ते भवता मनसिकृतं दर्शयितुमहं प्रतिजाने तदलं भवत आदेशदानेन, केवलमवलोकनेनानुग्रहं करोतु देव इति भावः । गाथा वृत्तम् ॥ ९ ॥

---

अथवा किं बहुना—

आप जिस वस्तु को हृदय से देखना चाहते हैं, वह सब मैं गुरु के मन्त्र प्रभाव से दिखा दूँगा—यह मेरी प्रतिज्ञा है ॥ ९ ॥

विदूषकः—भो वअस्स अवहिदो होहि । ईदिसो से अवट्ठम्भो जेण सव्वं संभावीअदि ।

[ भो वयस्य अवहितो भव । ईदृशोऽस्यावष्टम्भो येन सर्वं सम्भाव्यते । ]

राजा—भद्र, तिष्ठ तावत् । काञ्चनमाले उच्यतां देवी । युष्मदीय एवायमैन्द्रजालिको विजनीकृतश्चायमुद्देशः । तदेहि । सहितावेवैनं पश्याव इति ।

काञ्चनमाला—जं भट्टा आणवेदि ।

[ यद्भर्ताज्ञापयति । ] ( इति निष्क्रान्ता । )

( ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च । )

वासवदत्ता—कञ्चणमाले उज्जइणीदो आअदोत्ति अत्थि मे तस्सि इन्दजालिए पक्खवादो ।

[ काञ्चनमाले उज्जयिनीत आगत इत्यस्ति मे तस्मिन्नैन्द्रजालिके पक्षपातः । ]

---

विदषक इति । वयस्य मित्र ! अवहितः दत्तचित्तः । अवष्टम्भः आरम्भः ।

राजेति । युष्मदीयः युष्माकम् । उद्देशः प्रदेशः । विजनीकृतः निर्जनतां गमितः । सहितौ मिलितौ । एनमैन्द्रजालिकस्य क्रियाकलापम् ।

वासवदत्तेति । पक्षपातः आदरातिशयः ।

---

विदूषक—मित्र ! सावधान हो जाइए । इसका आरम्भ ऐसा है, जिससे सब कुछ सम्भव है ।

राजा—भद्र ! जरा आप रुकें । काञ्चनमाले ! देवी से कहिए कि आप ही के द्वारा प्रेषित यह मायावी है और यह स्थान भी एकान्त बना दिया गया है । अतः आइए । साथ ही हम दोनों इसे देखें ।

काञ्चनमाला—महराज की जो आज्ञा । ( यह कह कर चली जाती है । )

( तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला का प्रवेश । )

वासवदत्ता-काञ्चनमाले ! वह तांत्रिक उज्जयिनी से आया है इस कारण उस मायावी के प्रति हमारा पक्षपात है ।

काञ्चनमाला—ण्णादिकुलबहुमाणो क्खु एसो भट्टिणीए। ता एदु एदु भट्टिणी।

[ज्ञातिकुलबहुमानः खल्वेष भर्त्र्याः। तदेत्वेतु भर्त्री।] (इति परिक्रामतः।)

वासवदत्ता—(उपसृत्य।) जेदु जेदु अज्जउत्तो।

[जयतु जयत्वार्यपुत्रः।]

राजा—देवि बहुतरमनेन गर्जितम्। तदिहोपविश्यताम्। पश्यामस्तावत्।

(वासवदत्तोपविशति।)

राजा—भद्र, प्रस्तूयतामिन्द्रजालम्।

ऐन्द्रजालिकः—जं देवो आणवेदि।

[यद्देव आज्ञापयति।]

(इति बहुविधं नाट्यं कृत्वा पिच्छिकां भ्रमयन्।)

---

काञ्चनमालेति। ज्ञातिकुलबहुमानः पितृवंशे अत्यादरः।

राजेति। बहुतरमत्यधिकम्। गर्जितं स्वकार्यप्रशंसा कृतेति यावत्।

---

काञ्चनमाला—यह महारानी का अपने पितृवंश के प्रति बहुमान है। (यह कह कर दोनों चलती हैं।)

वासवदत्ता—(समीप जाकर) आर्यपुत्र की जय हो, जय हो।

राजा—देवी, इसने अपनी अति श्लाघा (आत्मप्रशंसा) की है। अतः यहाँ बैठिए। देखें तो। (वासवदत्ता बैठती है)

राजा—भद्र! अपना इन्द्रजाल कौशल प्रस्तुत करें।

ऐन्द्रजालिक—महाराज की जैसी आज्ञा।

(तान्त्रिक क्रियाकलापों को कर मयूरपिच्छिका घुमाते हुए)

हरिहरबम्हप्पमुहे देवे दंसेमि देवराअं च।
गगणम्मि सिद्धचारणसुरबहुसत्थं च णच्चन्तम्॥
[ हरिहरब्रह्मप्रमुखान्देवान्दर्शयामि देवराजं च।
गगने सिद्धचारणसुरवधूसार्थं च नृत्यन्तम्॥१०॥ ]

ता पेक्खदु देवो।
[ तत्प्रेक्षतां देवः। ]

राजा—( ऊर्ध्वमवलोक्यासनादवतरन्। ) आश्चर्यमाश्चर्यम्। देवि पश्य—

---

अन्वयः—हरिहरब्रह्मप्रमुखान् देवान् देवराजं च नृत्यन्तं सिद्धचारणवधूसार्थम् दर्शयामि॥ १०॥

हरिहरेति। हरिहरब्रह्मप्रमुखान् हरिः विष्णुः च हरः शिवः च ब्रह्मा पितामहः ते प्रमुखाः प्रधानाः येषाम् तान्। देवान् निर्जरान् 'अमरा निर्जरा-देवास्त्रिदशा' इत्यमरः। देवराज इन्द्रं च। नृत्यन्तं नृत्यमाचरन्तम्। सिद्धचारणवधूसार्थं सिद्धानां देवयोनिविशेषाणां चारणानां सुराणां देवानां वधूसार्थं योषिद् वर्गम्। 'पिशाचा गुह्यक सिद्धा भूतोऽमी देवयोनयः इत्यमरः। दर्शयामि प्रदर्शयामि॥ १०॥

राजेति। आसनात् स्वाधिष्ठितात्पीठात्। अवतरन् अवरोहन्।

---

विष्णु, शिव और प्रजापति आदि देवों, इन्द्र और नृत्य करती हुई सिद्धों गन्धर्वों और देवताओं की अङ्गनाओं को आकाश में दिखाता हूँ॥ १०॥

महाराज अवलोकन करें।

राजा—( आकाश को देखकर आसन से उतरते हुए ) आश्चर्य ही आश्चर्य है। देवी! देखो—

एष ब्रह्मा सरोजे रजनिकरकलाशेखरः शङ्करोऽयं
दोर्भिर्दैत्यान्तकोऽसौ सधनुरसिगदाचक्रचिह्नैश्चतुर्भिः।
एषोऽप्यैरावतस्थस्त्रिदशपतिरमी देवि देवास्तथाऽन्ये
नृत्यन्ति व्योम्नि चैताश्चलचरणरणन्नूपुरा दिव्यनार्यः ॥११॥

---

अन्वयः—व्योम्नि सरोजे एषः ब्रह्मा, रजनिकरकलाशेखरः, अयम् शंकरः सधनुरसिगदाचक्रचिह्नैः चतुर्भिः दोर्भिः असौ दैत्यान्तकः, एषः अपि ऐरावतस्थः त्रिदशपतिः। तथा अमी अन्ये देवाः एताः च चलचरणरणन्नूपुराः दिव्यनार्यः नृत्यन्ति ॥ ११ ॥

एष इति। व्योम्नि आकाशे। सरोजे कमले। एष ब्रह्मा अयं प्रजापतिः अस्ति। रजनिकरकलाशेखरः रजनिकरः चन्द्रमसः कला षोडशो भागः शेखरे शिखरे यस्य सः तादृशः। अयम् शंकरः एषः चन्द्रशेखरः 'शंकरश्चन्द्रशेखर' इत्यमरः। दृश्यत इति शेषः।

सधनुरसिगदाचक्रचिह्नैः धनुश्च शाङ्र्गम् च असि च नन्दक नाम खड्गश्च गदा च कौमोदकी नाम्नी गदा च चक्रम् च सुदर्शननामकं चक्रम् च तान्येव चिह्नानि लक्षणानि तैः सह वर्तन्ते इति तादृशैः "कौमोदकी गदा खड्गो नन्दकः कौस्तुभो मणिः। चापः शाङ्र्गं मुरारेस्तु श्रीवत्सो लाञ्छनस्मृतमित्यमरः॥ चतुर्भिः चतुः संख्याकैः। दोर्भिः बाहुभिः। असौ अयम्। दैत्यान्तकः दैत्यारिः विष्णुः दृश्यते। एषः अपि ऐरावतस्थः ऐरावते अभ्रमातङ्गे तिष्ठति यः सः 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैः' इत्यमरः। त्रिदशपतिः त्रिदशानां सुरलोकानां पति सुरराट् इन्द्रः। दृश्यते। तथा च अमी अन्ये देवाः एते इतरे सुराः सन्ति। एताश्च चलचरणरणन्नूपुरा चलेषु गतिमत्सु चरणेषु पादेषु रणन्तः शब्दायमानाः मञ्जीराः यासां तथाभूताः। 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। दिव्यनार्यः दिव्याङ्गनाः। नृत्यन्ति नृत्यं कुर्वन्ति। स्रग्धरावृत्तम् ॥ ११ ॥

---

प्रिये! आकाश में कमल पर विराजित ये ब्रह्मा हैं। चन्द्रकला रूप शिरोभूषण से युक्त ये चन्द्रशेखर हैं। शार्ङ्ग धनुष, नन्दक खड्ग, कौमोदकी गदा और सुदर्शन चक्र के चिह्नों से युक्त चार भुजाओं वाले ये दैत्यों के विनाशक विष्णु हैं और ऐरावत पर आरूढ ये देवराज इन्द्र हैं तथा ये अन्य देवता हैं एवं ये चञ्चल चरणों में बजते हुए नूपुरों वाली दिव्याङ्गनाएं नृत्य कर रही हैं ॥ ११ ॥

वासवदत्ता—अच्चरिअं अच्चरिअम्।

[ आश्चर्यमाश्चर्यम्। ]

विदूषकः—( अपवार्य। ) आः दासीएपुत्तो इन्दजालिअ किं एदेहिं देवेहिं अच्छराहिं च दंसिदाहिं। जइ दे इमिणा परितुट्ठेण कज्जं ता साअरिअं दंसेहि।

[ आः दास्याः पुत्र ऐन्द्रजालिक किमेतैर्देवैरप्सरोभिश्च दर्शितैः। यदि तेऽनेन परितुष्टेन कार्यं तत्सागरिकां दर्शय। ]

( ततः प्रविशति वसुन्धरा। )

वसुन्धरा-( राजानमुपसृत्य। ) जेदु जेदु भट्टा। अमच्चो जोअन्धराअणो विण्णवेदि—एसो क्खु विक्कमबाहुणो पहाणामच्चो बसुभूदी बब्भव्वेण कञ्चुइणा सह आगदो। ता अम्हदि देवो इमस्सि ज्जेव सुन्दरमुहुत्तए पेक्खिदुम्। अहंपि कज्जसेसं समापिअ आगदो एव्वत्ति।

---

विदषक इति। दास्याः पुत्र! निन्दायां सम्बोधनमेतत्। परितुष्टेन कार्यं परितोषयितुं वाञ्छसि।

वसुन्धरेति। विक्रमबाहोः सिंहलपतेः। कार्यशेषं कर्त्तव्यराजकार्यविशेषम्।

---

वासवदत्ता—आश्चर्य ही आश्चर्य है।

विदूषक—( मुँह फेर कर ) मूर्ख ऐन्द्रजालिक! इन देवों और अप्सराओं का प्रदर्शन कर क्या होगा? यदि तुम इन्हें प्रसन्न करना चाहते हो तो सागरिका दिखाओ।

( तदनन्तर वसुन्धरा का प्रवेश )

वसुन्धरा—स्वामी की जय हो, जय हो। मन्त्री यौगन्धरायण निवेदन करते हैं कि 'सिंहलेश्वर के प्रधानमन्त्री वसुभूति बाभ्रव्य कञ्चुकी के साथ यहाँ पधारे हैं। अतः महाराज इसी शुभ मुहूर्त में दर्शन दें। मैं भी शेष कार्यों का सम्पादन कर आ ही रहा हूँ।

[ जयतु जयतु भर्ता। अमात्यो यौगन्धरायणो विज्ञापयति—एष खलु विक्रमबाहोः प्रधानामात्यो वसुभूतिर्बाभ्रव्येण कञ्चुकिना सहागतः। तदर्हति देवोऽस्मिन्नेव सुन्दरमुहूर्ते प्रेक्षितुम्। अहमपि कार्यशेषं समाप्यागत एवेति। ]

वासवदत्ता—अज्जउत्त चिट्ठदु दाव इन्दआलं। माउलघरादो पहाणामच्चो वसुभूदो आगदो। तं दाव पेक्खदु अज्जउत्तो।

[ आर्यपुत्र तिष्ठतु तावदिन्द्रजालम्। मातुलगृहात्प्रधानामात्यो वसुभूतिरागतः तं तावत्प्रेक्षतामार्यपुत्रः। ]

राजा—यथाह देवी। (ऐन्द्रजालिकं प्रति।) भद्र विश्रम्यतामिदानीम्।

ऐन्द्रजालिकः—जं देवो आणवेदि। एक्को उण मह खेलओ अवस्सं देवेण पेक्खिदव्वो।

[ यद् देव आज्ञापयति। (पुनः पिच्छिकां भ्रमयति।) (निष्क्रामन्।) एकः पुनर्मम खेलोऽवश्यं देवेन प्रेक्षितव्यः। ]

राजा—भद्र द्रक्ष्यामः।

---

वासवदत्तेति। तिष्ठतु विरतं भवतु। इन्द्रजालं मायाजालम्। मातुलगृहात् मन्मातुलस्य सिंहलेश्वरस्य सकाशात्। प्रधानामात्यः प्रधानमन्त्री।

राजेति। यथाह देवी यथा भवती प्राह तथैव अस्तु।

---

वासवदत्ता—आर्यपुत्र! तब तक मायावी के कार्य कलापों को स्थगित किया जाय। मातुल (मामा) के घर, से महामात्य वसुभूति आये हैं। तब तक आप उन्हें दर्शन दें।

राजा—देवी जैसा कहें। (ऐन्द्रजालिक से) भद्र! इस समय आप विश्राम करें।

ऐन्द्रजालिक—जैसी महाराज की आज्ञा। (पुनः मयूरपिच्छिका को घुमाता है) मेरा एक खेल का अवलोकन महाराज अवश्य करें।

राजा—भद्र! अवश्य देखेंगे।

वासवदत्ता—कञ्चमाले गच्छ तुमं देहि से पारितोसिकम् ।
[ काञ्चनमाले गच्छ त्वं देह्यस्य पारितोषिकम् । ]

काञ्चनमाला—जं देवी आणवेदि !
[ यद् देव्याज्ञापयति । ] ( ऐन्द्रजालिकेन सह निष्क्रान्ता । )

राजा—वसन्तक, प्रत्युद्गम्य प्रवेश्यतां वसुभूतिः ।

विदूषकः—जं देवो आणवेदि ।
[ यद् देव आज्ञापयति । ] ( इति वसुन्धरया सह निष्क्रान्तः । )

( ततः प्रविशति वसन्तकेनानुगम्यमानो वसुभूतिर्बाभ्रव्यश्च । )

वसुभूतिः—(समन्तादवलोक्य ।) अहो वत्सेश्वरस्यानुभावः । इह हि--

---

वसुभूति इति । अनुभावः प्रभावः ।

---

वासवदत्ता—काञ्चनमाले ! तुम जाओ और इसे पुरस्कार दो ।

काञ्चनमाला—महारानी की जो आज्ञा ।

राजा—वसन्तक ! अगवानी करके वसुभूति को बुला लाओ ।

विदूषक—महाराज की जो आज्ञा । ( वसुन्धरा के साथ प्रस्थान करता है । )

( वसन्त द्वारा अगवानी किये जाते हुए वसुभूति
और बाभ्रव्य का प्रवेश । )

वसुभूति—( सर्वत्र देख कर ) ओह ! वत्सराज का अद्भुत प्रभाव है । क्योंकि यहाँ—

आक्षिप्तो जयकुञ्जरेण तुरगान्निर्वर्णयन्वल्लभान्
संगीतध्वनिना हृतः क्षितिभृतां गोष्ठीषु तिष्ठन्क्षणम् ।
सद्यो विस्मृतसिंहलेन्द्रविभवः कक्षाप्रदेशेऽप्यहो
द्वाःस्थेनैव कुतूहलेन महता ग्राम्यो यथाहं कृतः ॥१२॥

---

अन्वयः—वल्लभान् तुरगान् निर्वर्णयन् जयकुञ्जरेण आक्षिप्तः क्षितिभृताम् गोष्ठीषु क्षणं तिष्ठन् संगीतध्वनिना हृतः सद्यः विस्मृतसिंहलेन्द्रविभवः अहं कक्षाप्रदेशे अपि अहो ! द्वाः स्थेन महता कुतूहलेन एव यथा ग्राम्यः तथा कृतः ॥ १२ ॥

आक्षिप्त इति । वल्लभान् प्रियान् । तुरगान् अश्वान्, वीतितुरगतुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः' इत्यमरः । निर्वर्णयन् निपुणं निरीक्षमाणः । जयकुञ्जरेण जयस्य उत्कर्षप्राप्तेः हेतुः यः कुञ्जरः तेन विजयकारिणा मत्तगजेन । आक्षिप्तः आकृष्टः । क्षितिभृतां महीभृतानाम् गोष्ठीषु समवायेषु । क्षणं किञ्चितकालम् । तिष्ठन् स्थितः सन् । सङ्गीतध्वनिना गीतस्वरेण । हृतः बलादेवाकृष्टः । सद्यः तत्क्षणम् । विस्मृतसिंहलेन्द्रविभवः विस्मृतः विस्मृतिपथं नीतः सिंहलेन्द्रस्य सिंहलेश्वरस्य विभवः ऐश्वर्यं येन तथोक्तः, ध्यानापगतसिंहलेश्वरसमृद्धिः इति भावः । अहं वसुभूतिः । कक्षाप्रदेशे बहिः प्रकोष्ठेऽपि । अहो ! आश्चर्यम् । यत् द्वाः स्थेन द्वारपालेन, द्वारपालद्वाःस्थद्वास्थितदर्शकाः' इत्यमरः । महता गुरुणा । कुतूहलेनैव आश्चर्येण । यथा ग्राम्यः ग्रामीणः इव । कृतः विहितः । अत्रोदात्तालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १२ ॥

---

मनमोहक अश्वों को देखता हुआ मैं विजयी हाथी के प्रति आकृष्ट हो हो गया, राजाओं की संसद में क्षण भर ठहरता हुआ मैं संगीत ( गीत, वाद्य, नृत्य ) से मोहित हो गया तथा सिंहलेश्वर के विभव को विस्मृत किया हुआ मैं बाहर के प्रकोष्ठ में भी, आश्चर्य है कि, द्वारपाल के द्वारा महान् कुतूहल से ही ग्रामीण मनुष्य जैसा कर दिया गया ॥ १२ ॥

बाभ्रव्यः—वसुभूते अद्य खलु चिरात्स्वामिनं द्रक्ष्यामीति यत्सत्यमा-नन्दातिशयेन किमप्यवस्थान्तरमनुभवामि । कुतः—

विवृद्धिं कम्पस्य प्रथयतितरां साध्वसवशा-
दविस्पष्टां दृष्टिं तिरयतितरां बाष्पपटलैः ।
स्खलद्वर्णां वाणीं जडयतितरां गद्गदतया
जरायाः साहाय्यं मम हि परितोषोऽद्य कुरुते ॥१३॥

बाभ्रव्य इति । चिरात् चिरमतिवाह्य बहुकालादनन्तरमिति भावः । आनन्दातिशयेन किमपि हर्षातिरेकेणानिर्वचनीयम् ।

अन्वयः—अद्य मम परितोषः जरायाः साहाय्यं कुरुते हि साध्वसवशात् कम्पस्य विवृद्धिं प्रथयतितराम्, बाष्पपटलैः अविस्पष्टां दृष्टिं तिरयतितराम् । गद्गदतया स्खलद्वर्णां वाणीं जडयतितराम् ॥ १३ ॥

विवृद्धिमिति । अद्य अस्मिन्समये । मम मे । परितोषः स्वामिदर्शन-जन्यानन्दः । जरायाः वृद्धावस्थायाः । साहाय्यं कुरुते विदधाति । साध्वसवशात् भयहेतोः । कम्पस्य वेपथोः, 'वेपथुः कम्पोऽथ' इत्यमरः । विवृद्धिमाधिक्यम् । प्रथयतितराम् अधिकतरं वर्धयति । बाष्पपटलैः अश्रुसमूहैः । अविस्पष्टाम् मन्दाम् । दृष्टिमवलोकनसामर्थ्यम् । तिरयतितराम् भूयोऽपि छादयति । गद्गदतया गद्गदभावेन स्खलद्वर्णाम् स्खलन्तः च्युताः भवन्तः वर्णाः अक्षराणि यस्यां सा, ताम् । वाणीम् वाचम्, 'भाषा गीर्वाग्वाणी' इत्यमरः । जडयतितराम् बहुतरं जडयति । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १३ ॥

बाभ्रव्य—वसुभूति ! आज अनेक दिवसों के उपरान्त महाराजश्री के दर्शन करूँगा, यह सोच कर अत्यधिक आनन्द के कारण मुझे किसी दूसरी अवस्था का अनुभव हो रहा है । क्योंकि—

आज मेरा आनन्द वार्धक्य की सहायता कर रहा है, क्योंकि शरीर में भयवश कम्पन को और अधिक वृद्धिगत कर रहा है, आनन्दाश्रुओं की धारा से क्षीण दृष्टि को और अधिक आच्छादित कर रहा है तथा हर्ष से गद्गद होने के कारण अर्थात् अवरुद्ध वाणी को और अधिक जड़ बना रहा है ॥१३॥

विदूषकः—( अग्रे भूत्वा । ) एदु एदु अमच्चो ।
[ एत्वेत्वमात्यः । ]

वसुभूतिः—( विदूषकस्य कण्ठे रत्नमालां दृष्ट्वाऽपवार्य । ) बाभ्रव्य जाने सैवेयं रत्नमाला या देवेन राजपुत्र्यै प्रस्थानकाले दत्ता ।

बाभ्रव्यः—अमात्य अस्ति सादृश्यम् । तत्किं वसन्तकं पृच्छामि प्राप्तिमस्याः ।

---

वसुभूतिः—बाभ्रव्य मा मैवम् । महति राजकुले रत्नबाहुल्यान्न दुर्लभो भूषणानां संवादः ( इति परिक्रामति । )

विदूषकः—भो एसो क्खु महाराओ । ता उपसप्पदु अमच्चो ।
[ भो एष खलु महाराजः । तदुपसर्पत्वमात्यः । ]

वसुभूतिः—( उपसृत्य । ) विजयतां महाराजः ।

---

वसुभूतिरिति । देवेन सिंहलाधीश्वरेण । राजपुत्र्यै रत्नावल्यै । प्रस्थानकाले गमनसमये ।

---

विदूषक—( पुरोधा होकर ) आइए मन्त्रीवर्य, आइए ।

वसुभूति—( विदूषक के कण्ठ में रत्नमाला देख मुँह फेरकर ) बाभ्रव्य ! मुझे यह प्रतीत होता है कि यह वही रत्नमाला है, जो महाराज ने राजपुत्री सागरिका को बिदा होने के समय दी थी ।

बाभ्रव्य—अमात्य ! सादृश्य तो है । तो क्या आर्य वसन्तक से इसकी प्राप्ति के विषय में पूछूं ?

वसुभूति—बाभ्रव्य ! नहीं, पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है । क्योंकि राजकुलों में रत्नों की अधिकता के कारण आभूषणों की समानता दुर्लभ नहीं होती है । ( यह कह कर चलता है । )

विदूषक—अरे, यह तो महाराज हैं । अतः मन्त्रीजी आप समीप जायें ।
वसुभूति—(समीप जाकर) महाराज विजयी हों ।

राजा—( उत्थाय । ) आर्यं अभिवादये ।

वसुभूतिः—आयुष्मान्भव ।

राजा—आसनमासनमार्याय ।

विदूषकः—एदं आसणम् । उपविसदु अमच्चो ।
[ एतदासनम् उपविशत्वमात्यः । ]

( वसुभूतिरुपविशति । )

बाभ्रव्यः—देव बाभ्रव्यः प्रणमति ।

राजा—( पृष्ठे हस्तं दत्वा । ) बाभ्रव्य इत आस्यताम् ।

( बाभ्रव्य उपविशति । )

---

राजेति । अभिवादये प्रणमामि । प्रधानमन्त्रिणो ब्राह्मणतया राज्ञः प्रणामः ।

बाभ्रव्य इति । राज्ञामन्तःपुररक्षकः सौविदल्लापरनामा वृद्धपुरुषः कञ्चुकी सः अत्र बाभ्रव्यः । तल्लक्षणं यथा भरतः 'ये विप्रा सत्त्वसम्पन्नाः कामदोष विवर्जिताः । ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तुते स्मृता इति ।

---

राजा—(उठकर) आर्य अभिवादन करता हूँ ।

वसुभूति—चिरायु हों ।

राजा—आसन, आर्य के लिए आसन लाओ ।

विदूषक—यह आसन है । मंत्रीवर्य बैठें । (वसुभूति बैठता है ।)

बाभ्रव्य—महाराज ! बाभ्रव्य आपको प्रणाम कर रहा है ।

राजा—(पीठ पर हाथ देकर) बाभ्रव्य ! यहाँ इस आसन पर बैठो । (बाभ्रव्य बैठता है ।)

विदूषकः—अमच्च एसा देवी वासवदत्ता पणमदि ।

[ अमात्य एषा देवी वासवदत्ता प्रणमति । ]

वासवदत्ता—अज्ज पणमामि ।

[ आर्य प्रणमामि । ]

वसुभूतिः—आयुष्मति वत्सराजसदृशं पुत्रमाप्नुहि ।

( सर्वे उपविशन्ति । )

राजा—आर्य वसुभूते अपि कुशलं तत्रभवतः सिंहलेश्वरस्य ?

वसुभूतिः—( ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च । ) देव न जाने किं विज्ञापयामि । ( अधोमुखस्तिष्ठति । )

वासवदत्ता—( सविषादमात्मगतम् । ) हद्धी हद्धी । किं दाणिं वसुभूदी कथइस्सदि ।

[ हा धिक् हा धिक् । किमिदानीं वसुभूतिः कथयिष्यति । ]

---

वसुभूतिरिति । आयुष्मति ! आयुः प्रशस्तिरस्तियस्याः सा आयुष्मती, सम्बुद्धौ वत्सराजसदृशं पतिसदृशं गुणवन्तम् । अवाप्नुहि प्राप्नुहि ।

राजेति । अपि: प्रश्ने । तत्रभवतः श्लाघ्यस्य ।

वसुभूतिरिति । किं विज्ञापयामि किं निवेदयामि कुशलमकुशलं वा । अधोमुखः नताननः तिष्ठति ।

---

विदूषक—मंत्रीवर्य ! ये देवी वासवदत्ता प्रणाम कर रही हैं ।

वासवदत्ता—आर्य ! नमस्कार करती हूँ ।

वसुभूति—आयुष्मती ! वत्सराज के सदृश पुत्र प्राप्त करो ।(सभी बैठते हैं ।)

राजा—आर्य वसुभूति ! क्या श्रीमान् सिंहलेश्वर सकुशल तो हैं ?

वसुभूति—( ऊपर देखकर और दीर्घश्वास लेकर ) महाराज ! मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि क्या निवेदन करूँ । ( नीचे मुँह करके रहता है । )

वासवदत्ता—( विषादपूर्वक मन में ) हाय हाय ! इस समय वसुभूति क्या कहेंगे ।

राजा—कथय किमेतत्। आर्य आकुल इव मेऽन्तरात्मा।

बाभ्रव्यः—( अपवार्य। ) अमात्य चिरमपि स्थित्वा कथनीयम्। तत्कथ्यताम्।

वसुभूतिः—( सास्रम्। ) देव न शक्यं निवेदयितुं तथाप्येष कथयामि मन्दभाग्यः। यासौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नाम आयुष्मतीं वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वं प्रार्थिता सती दत्ता—

राजा—( अपवार्य। ) देवि किमेतदलीकमेव त्वन्मातुलामात्यः कथयति।

---

बाभ्रव्य इति। चिरमपिस्थित्वा विलम्बं कृत्वापि। कथनीयं वक्तव्यमवश्यवाच्यम्।

वसुभूतिरिति। निवेदयितुं विज्ञापयितुम्। सिंहलेश्वरेण सिंहलनरेशेन। स्वदुहिता स्वस्य आत्मनः दुहिता कन्या। दग्धामग्नौ ज्वलिताम्। उपश्रुत्य आकर्ण्य। देवाय भवदर्थम्। प्रार्थिता वासवदत्ताजीवनकाले याचिता।

राजेति। अलीकमसत्यम्। 'अलीकन्त्वप्रियेऽनृते' इत्यमरः।

---

राजा—कहिए, क्या बात है? आर्य! मेरा मन व्याकुल सा हो रहा है।

बाभ्रव्य—( मुँह फेरकर ) अमात्य! कुछ रुककर कहना योग्य होगा। अतः कहिये।

वसुभूति—( साश्रु ) महाराज! मैं निवेदन करने में सक्षम नहीं हूँ, तथापि मैं मन्दभाग्य निवेदन कर रहा हूँ। आयुष्मती वासवदत्ता जल गई—यह सुनकर सिंहलेश्वर ने जो वह रत्नावली नामक अपनी पुत्री महाराज के लिए पूर्व में माँगी जाने के कारण दी थी—

राजा—( मुँह फेरकर ) देवी! तुम्हारे मामा का मंत्री यह क्या असत्य ही कह रहा है?

वासवदत्ता—( स्मित्वा । ) अज्जउत्त ण जाणीअदि को अलिअं मन्तेदित्ति ।

[ आर्यपुत्र न ज्ञायते कोऽलीकं मन्त्रयत इति । ]

विदूषकः—तदो ताए किं वुत्तम् ।

[ ततस्तस्याः किं वृत्तम् । ]

वसुभूतिः—सा च युष्मदन्तिकमानीयमाना यानभङ्गात्सागरे निमग्ना । ( इति रुदन्नधोमुखस्तिष्ठति )

वासवदत्ता—( सास्रम । ) हा हदम्हि मन्दभाइणी । हा बहिणि रअणावलि कहिं दाणिं सि । देहि मे पडिवअणम् ।

[ हा हतास्मि मन्दभागिनी । हा भगिनि रत्नावलि कुत्रेदानीमसि । देहि मे प्रतिवचनम् । ]

---

वासवदत्तेति । स्मित्वा ईषद् विहस्य । कः अलीकं मन्त्रयते कः मातुलामात्यो भवान् वा इत्यर्थः ।

वसुभूतिरिति । युष्मदन्तिकं भवत्समीपम् । यानभङ्गाव पोतभङ्गाव् । सागरे समुद्रे ।

---

वासवदत्ता--( हँसकर ) आर्यपुत्र ! कौन मिथ्या कह रहा है यह मैं नहीं समझती ।

विदूषक—तब उसका क्या हुआ ?

वसुभूति--और वह आपके पास लाई जाती हुई नौका टूट जाने से समुद्र मे डूब गई ( यह कहकर रोता हुआ नीचे मुख किया रहता है । )

वासवदत्ता—( साश्रु ) हाय ! मैं मन्दभागिनी मारी गई । हाय बहन रत्नावली ! अब तुम कहाँ हो ? मुझे प्रत्युत्तर दो ।

राजा—देवि समाश्वसिहि समाश्वसिहि । दुरवगाहा गतिर्दैवस्य । यानभङ्गपतितोत्थितौ नन्वेतावेव निदर्शनम् । ( इति वसुभूतिबाभ्रव्यौ दर्शयति । )

वासवदत्ता—अज्जउत्त जुज्जदि एदं । परं कुतो मम एत्तिअं भाअहेअम् । )

[ आर्यपुत्र युज्यत एतत् । परं कुतो ममैतावद्भागधेयम् । ]

( नेपथ्ये महान्कलकलः । )

हर्म्याणां हेमश्रृङ्गश्रियमिव निचयैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै--
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तः पुरेऽग्निः ॥१४॥

---

राजेति । दुरवगाहा दुर्निरूप्या । दैवस्य भाग्यस्य । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्य'मित्यमरः । एतौ वसुभूतिबाभ्रव्यौ । निदर्शनमुदाहरणम् ।

नेपथ्य इति । कलकलः कोलाहलः ।

अन्वयः—अर्चिषां निचयैः हर्म्याणां हेमश्रृङ्गमिव आदधानः सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रलग्नग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः धूमपातैः क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं कुर्वन् प्लोषार्तयोषिज्जनः एषः अग्निः इह अन्तःपुरे सहसा एव उत्थितः ॥ १४ ॥

---

राजा—देवी ! विश्वास रखो, विश्वास रखो । भाग्य की गति अत्यन्त कुटिल होती है । यान के भङ्ग होने से डूब कर भी सुरक्षित यह दोनों ही तुम्हारे लिए दृष्टान्त हैं । ( यह कह कर वसुभूति और बाभ्रव्य को दिखाता है । )

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! यह ठीक है । किन्तु मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है ?

( नेपथ्य में अति कोलाहल )

ज्वालाओं के समूह से मानों प्रासादों की सोने की बनी चोटी की शोभा को धारण करता हुआ, उद्यान के वृक्षों के अग्रभाग को झुलसा देने के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण ताप को सूचित करता हुआ धूम के फैलाव से क्रीडा पर्वत को

अपि च—

देवीदाहप्रवादोऽसौ योऽभूल्लावाणके पुरा।
करिष्यन्निव तं सत्यमयमग्निः समुत्थितः ॥ १५ ॥

---

हर्म्येति। अर्चिषां शिखानाम्, 'अर्चिर्हेतिः शिखास्त्रियामित्यमरः'। निचयैः समूहैः। हर्म्याणां गृहाणाम्। हेमशृङ्गश्रियमिव सुवर्णरचितशिखरशोभामिव। आदधानः उत्पादयन्। सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः सान्द्राणिनिरन्तराये उद्यानस्य द्रुमा वृक्षास्तेषामग्राणि शिखराणां ग्लपनेन शोषणेन पिशुनितः सूचितो अत्यन्ततीव्रो अतितीक्ष्णः प्रखर इति यावत् अभितापो यस्य स तथोक्तः, 'शिरोऽग्रं शिखरमित्यमरः'। धूमपातैः धूमयोगैः। क्रीडा-महीध्रं क्रीडार्थनिर्मितपर्वतम्। सजलजलधरश्यामलं सजलः जलेन सहितः यो जलधरः मेघः तमिव श्यामलं नीलम्। कुर्वन् विदधत्। प्लोषार्तयोषिज्जनः प्लोषेण दाहेन आर्ता विपन्ना योषिज्जना नारीजना यस्मात् सः एष अग्निः अयं वह्निः। इह अन्तःपुरे अत्र अवरोधने, 'अन्तःपुरं स्यादवरोधनमित्यमरः'। सहसा एव अतर्कितमेव। उत्थितः प्रादुर्भूतः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। स्रग्धरावृत्तम् ॥१४॥

अपि चेति।

अन्वयः—पुरा लावणके यः असौ देवीदाहप्रदाहः अभूत् तं सत्यं करिष्यन् इव अयम् अग्निः समुत्थितः ॥ १५ ॥

देवीति। पुरा प्राक्। लावाणके सिंहलराजधानीस्थ जनसमूहे। यः अयं, देव्या वासवदत्तायाः। दाहप्रवादः दग्धा देवीति मिथ्या ख्यातिः, अभूत् उदपादि। तं प्रवादम्। सत्यं यथार्थम्। करिष्यन् इव विधास्यन् इव। अयमग्निः एषः वह्निः अत्राऽन्तःपुरे समुत्थितः उत्थितः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १५ ॥

---

जलपूर्ण मेघ के समान श्यामल बनाता हुआ और ताप से अन्तःपुर की नारियों को संत्रस्त करता हुआ अग्नि, अन्तःपुर में अकस्मात् भड़क उठा है ॥१४॥

और भी—

पूर्व में लावाणक नगर में जो यह देवी वासवदत्ता के जल जाने का प्रवाद हो गया था, मानो उसे सत्य करने के लिए यह अग्नि प्रज्वलित हो हो उठा है ॥ १५ ॥

( सर्वे सम्भ्रान्ताः पश्यन्ति । )

राजा--( ससम्भ्रममुत्थाय । ) कथमन्तः पुरेऽग्निः । कष्टं देवी वासवदत्ता दग्धा । हा प्रिये वासवदत्ते ।

वासवदत्ता--अज्जउत्त परित्ताहि परित्ताहि ।

[ आर्यपुत्र परित्रायस्व परित्रायस्व । ]

राजा--अये कथमतिसम्भ्रमादिहस्थापि देवि नोपलक्षिता । देवि समाश्वसिहि ।

वासवदत्ता--अज्ज मए अत्तणो किदे ण भणिदम् । एसा क्खु मए णिग्घिणाए इध निअडेण संजमिदा साअरिआ विवज्जदि । ता तं परित्ताअदु अज्जउत्तो ।

---

सर्वे इति । सम्भ्रान्ताः जातसंवेगाः ।

राजेति । अतिसम्भ्रमान्महदावेगात् । इहस्थापि अतिसमीपस्थापि न उपलक्षिता न दृष्टा ।

वासवदत्तेति । कृते अर्थे । इह अन्तःपुरे । निगडेन शृंखलेन संयमिता बन्धनं नीता । विपद्यते म्रियते अग्निसाद् भवतीत्यर्थः ।

वसुभूतिरिति । किं कथम् । अकारणे निष्कारणे । पतङ्गवृत्तिः पतङ्गाः शलभास्तेषां वृत्तिराचारः । पतङ्गाः यथा स्वेच्छया वह्नि प्रविशन्ति तथा क्रियते इति भावः ॥

---

( सभी घबराकर देखते हैं )

राजा—( घबराहटपूर्वक उठ कर ) अन्तःपुर में आग कैसे ? अनर्थ हो गया, वासवदत्ता जल गई । हा प्रिये वासवदत्ते !

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! बचाओ, बचाओ ।

राजा—अरे ! अत्यन्त घबराहट के कारण यहाँ उपस्थित देवी को कैसे नहीं देखा । देवी, धैर्य रखो, धैर्य रखो ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! मैंने अपने लिए नहीं कहा । अपितु, निष्ठुर मेरे द्वारा जञ्जीर से आबद्ध सागरिका मर रही है । अतः आर्यपुत्र ! उसे बचा लें ।

[ आर्यपुत्र मयात्मनः कृते न भणितम् । एषा खलु मया निघृणयेह निगडेन संयमिता सागरिका विपद्यते । तत्तां परित्रायतामार्यपुत्रः । ]

राजा--कथं देवि सागरिका विपद्यते । एष गच्छामि ।

वसुभूति--देव किमकारणमेवं पतंगवृत्तिः क्रियते ।

बाभ्रव्यः--देव युक्तमाह वसुभूतिः ।

विदूषकः--( राजानमुत्तरीये गृहीत्वा । ) वअस्स मा क्खु एवं साहसं करेहि ।

[ वयस्य मा खल्वेवं साहसं कुरु । ]

राजा--( उत्तरीयमुत्सृज्य । ) धिङ् मूर्ख सागरिका विपद्यते । किमद्यापि प्राणा धार्यन्ते । ( इति ज्वलनप्रवेशं नाटयित्वा धूमाभिभवं नाटयन् । )

---

राजेति । अद्यापि अधुनापि ज्वलनप्रवेशं वह्निपरीतान्तःपुरप्रवेशम् । धूमाभिभवं धूमाकुलत्वम् ।

---

राजा—देवी ! क्या सागरिका मर रही है ? मैं यह जा रहा हूँ ।

वसुभूति—महाराज ! क्यों अकारण पतंग के समान आचरण कर रहे हैं ।

बाभ्रव्य—महाराज ! वसुभूति ठीक कह रहे हैं ।

विदूषक—( राजा का उत्तर वस्त्र पकड़ कर ) मित्र ! ऐसा साहस न करो ।

राजा—( उत्तरीय छोड़ कर ) मूर्ख ! सागरिका मर रही है ? क्या अब भी प्राण धारण किये जायें ? ( अग्नि प्रवेश का अभिनय करके धुएँ से त्रस्त होने का अभिनय करते हुए )

विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमानुबन्धं
प्रकटयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम्।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥ १६ ॥

वासवदत्ता--कधं मम दुक्खभाइणीए वअणादो एव्वं अज्झवसिदं अज्जउत्तेण। ता अहंवि अज्जउत्तं एव्व अणुगमिस्सम्।

[ कथं मम दुःखभागिन्या वचनादेवमध्यवसितमार्यपुत्रेण। तदहमप्यार्यपुत्रमेवानुगमिष्यामि। ]

---

अन्वयः—वह्ने! विरम विरम। धूमानुबन्धं मुञ्च। उच्चैः अर्चिषां चक्रवालं किं प्रकटयसि? यः अहं प्रियायाः प्रलयदहनभासा विरहहुतभुजा न दग्धः तस्य त्वं किं करोषि? ॥ १६ ॥

विरमेति। हे वह्ने! त्वं विरम विरम अपसर अपसर। धूमानुबन्धमनवरतं धूमोत्पादनं। धूमद्वारा व्याकुलता प्रसारणमिति यावत् मुञ्च त्यज। अर्चिषां ज्योतिषां ज्वालानाम्। चक्रवालं मण्डलं, 'चक्रवालन्तुमण्डल'मित्यमरः। किम् किमर्थम्। उच्चैः प्रकटयसि विस्तारयसि। यः अहं वत्सराजउदयनः। प्रियायाः प्रियतमायाः। प्रलयदहनभासा प्रलयकालकालाग्नितुल्यतेजसा विरहहुतभुजां वियोगाग्निना न दग्धः न ज्वलितः। तस्य सम्बन्धे त्वं किं करोषि सर्वमेव ते विफलमिति भावः। रूपकालङ्कारः। मालिनीवृत्तम्। 'न न मयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥ १६ ॥

वासवदत्तेति। एवमात्मनिरपेक्षम्। व्यवसितमध्यवसितम्।

---

हे अग्नि! शांत हो, शांत हो। धुएँ का प्रसार रोक दो। तुम क्यों ऊँची-ऊँची ज्वालाओं को दिखा रहे हो। जो मैं प्रिया के प्रलयाग्नि के समान कान्ति वाले विरहाग्नि में नहीं जल सका, उसको तुम क्या कर ही सकते हो ॥ १६ ॥

वासवदत्ता—मुझ हतभाग्या के कहने से आर्यपुत्र ने क्या कर डाला। तो मुझे भी आर्यपुत्र का ही अनुगमन करना होगा।

विदूषकः--( परिक्रामन्नग्रतो भूत्वा । ) भोदि अहं बि दे पथोवदेसओहोमि ।

[ भवति अहमपि ते पथ्युपदेशको भवामि । ]

वसुभूतिः--कथं प्रविष्ट एव ज्वलनं वत्सराजः । तन्ममापि दृष्टराजपुत्रीविपत्तेरिहैव युक्तमात्मानमाहुतीकर्तुम् ।

बाभ्रव्य--हा दैव किमिदमकारणमेव भरतकुलं संशयतुलामारोपितम् । अथ वा किं प्रलापेन । अहमपि भक्तिसदृशमाचरामि ।

( सर्वेऽग्निप्रवेशं नाटयन्ति । )

( ततः प्रविशति निगडसंयता सागरिका । )

---

वसुभूतिरिति । दृष्टराजपुत्रीविपत्तेः दृष्टा अवलोकिताः राजपुत्र्याः रत्नावल्याः विपत्तिः विनाशः येन तादृशस्य । इह वह्नौ । आहुतीकर्तुम् आहुतिवदग्नौ पातितुम् ।

बाभ्रव्य इति । अकारणं कारणविशेषं विनैव । भरतकुलं भरतवंशः । संशयतुलां सन्देहरूपतुलां सन्देहरूपतुला दण्डम् । आरोपितं निवेशितम् । प्रलापेन निष्प्रयोजनवचसा । भक्तिसदृशं प्रभुभक्तेरनुरूपम् । तदनुगमनमित्यर्थः ।

---

विदूषक—( चलकर आगे जाकर ) माननीये ! मैं भी अपका पथप्रदर्शक बनता हूँ ।

वसुभूति—क्या वत्सराज अग्नि में प्रवेश कर ही गये हैं ? तब तो रत्नावली का विनाश देखे हुए मुझे भी इसी अग्नि में अपने को होम कर दना उचित है ।

बाभ्रव्य—हा दैव ! क्यों अकारण ही इस भरत वंश का नाश करने पर तुले हैं । अथवा प्रलाप करने से क्या लाभ ? तो मैं भी स्वामिभक्ति के अनुरूप आचरण करता हुँ ।

( सभी अग्नि में प्रवेश करने का अभिनय करते हैं । )

( तत्पश्चात् शृङ्खला में निगडित सागरिका का प्रवेश )

सागरिका — (दिशोऽवलोक्य) हद्धी, समन्तदो पज्जलिदो हुतवहो। अज्ज हुतवहो दिठ्ठिआ करिस्सदि मे दुःखावसाणम्।

[ हा धिक् समन्ततः प्रज्वलितो हुतवहः। (विचिन्त्य सपरितोषम्।) अद्य हुतवहो दिष्ट्या करिष्यति मम दुःखावसानम्। ]

राजा—अये इयमासन्नहुतवहा वर्तते सागरिका। तत्त्वरितमेनां सम्भावयामि। (त्वरितमुपसृत्य) अयि प्रिये किमद्यापि सम्भ्रमे स्वस्थयावस्थीयते।

सागरिका—(राजानं दृष्ट्वा। स्वगतम्।) कधं अज्जउत्तो। ता एदं पेक्खिअ पुणोवि मे जीविदाहिलासो संवुत्तो। परित्ताअदु भट्टा।

[ कथमार्यपुत्रः। तदेतं प्रेक्ष्य पुनरपि मे जीविताभिलाषः संवृत्तः। (प्रकाशम्।) परित्रायतां परित्रायतां भर्ता। ]

---

सागरिकेति। समन्ततः चतुर्दिक्षु। हुतवहः अग्निः। दिष्ट्या सौभाग्येन। दुःखावसानं क्लेशसमापनम्।

राजेति। आसन्नहुतवहा आसन्नः समीपवर्ती हुतवहो अनलो यस्याः सा। सम्भावयामि समाश्वासयामि। सम्भ्रमे शीघ्रताकरणे। स्वस्थया स्थिरया। अवस्थीयते भूयते।

सागरिकेति। प्रेक्ष्य, दृष्ट्वा। जीविताभिलाषः जीवितस्य जीवनस्य अभिलाषः इच्छा।

---

सागरिका—(चारो ओर देखकर) हाय! सर्वत्र अग्नि प्रज्वलित हो उठा है। (सोचकर संतोष पूर्वक) सौभाग्य से अग्निदेव आज मेरे दुःखों को समाप्त कर देंगे।

राजा—अरे! सागरिका के अति निकट अग्नि पहुँच गया है। अतः शीघ्र इसे सान्त्वना देता हूँ। (त्वरित समीप जाकर) प्रिये! क्यों तुम अब भी शीघ्रता करने के समय शांत खड़ी हो?

सागरिका—(राजा को देखकर, मन में) आर्यपुत्र कैसे? इन्हें देखकर फिर से मुझे जीवित रहने की अभिलाषा हो गई है। (प्रकट रूप में) बचाइए स्वामी! बचाइए।

राजा—भीरो अलं भयेन ।

मुहूर्त्तमपि सह्यतां बहल एष धूमोद्गमो ( अग्रतोऽवलोक्य । )

हहा धिगिदमंशुकं ज्वलति ते स्तनात्प्रच्युतम् ।

( विलोक्य । ) मुहुःस्खलसि किं कथं निगडसंयताऽसि द्रुतं । ( परिकरं बद्ध्वा । )

नयामि भवतीमितः प्रियतमेऽवलम्बस्व माम् ॥ १७ ॥

---

अन्वयः—एषः बहलः धूमोद्गमः मुहूर्तमपि सह्यताम् । हहा धिक् ते स्तनात् प्रच्युम् इदम् अंशुकं ज्वलति । मुहुः किं स्खलसि कथं निगडसंयता असि ? इतः द्रुतं भवतीं नयामि । प्रियतमे ! माम् अवलम्बस्व ॥१७॥

मुहूर्तमिति । एष अयम् । बहलः प्रचूरः । धूमोद्गमः धूमस्य प्रसारः । मुहूर्तमपि क्षणमात्रमपि सह्यताम् । हः सम्बोधने हा विषादे धिङ्निन्दायाम् । ते तव । स्तनात् कुचात् । प्रच्युतं पतितम् । इदमंशुकम् एतदंशुकम् । ज्वलति दह्यते, धिक् न मया रक्षितं शक्यमिति भावः । किं कथम् । मुहुः पुनः पुनः । स्खलसि पतसि ।

कथं किं निगडसंयता निगडेन शृङ्खलेन संयता बद्धाऽसि । हे प्रियतमे भवतीं श्रीमतीं त्वाम् । अस्मात् स्थानात् द्रुतं शीघ्रं नयामि स्थानान्तरं प्रापयामि मामवलम्बस्व आश्रय । पृथ्वीवृत्तम् । 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति तल्लक्षणात् ॥१७॥

---

राजा—अयि भीरू ! भय न करो ।

इस सघन धूम के प्रसार को क्षण भर भी सहन कर लो । (आगे देखकर) हाय, तुम्हारे वक्षःस्थल से गिरा हुआ यह वस्त्र जल रहा है । ( देखकर ) पुनः पुनः क्यों गिर जाती हो ? क्या शृङ्खला से बद्ध हो ? (बद्धपरिकर होकर) प्रिये ! मैं तुम्हें यहाँ से शीघ्र ही अन्यत्र लिये चलता हूँ, तुम मुझे पकड़ लो ॥१७॥

( कण्ठे गृहीत्वा निमीलिताक्षः स्पर्शसुखं नाटयन् । ) अहो क्षणान्मेऽपगतोऽयं संतापः । प्रिये समाश्वसिहि ।

व्यक्तं लग्नोऽपि भवतीं न दहत्येव पावकः ।
यतः सन्तापमेवायं स्पर्शस्ते हरति प्रिये ॥ १८ ॥

( उन्मील्याक्षिणी दिशोऽवलोक्य सागरिकां च मुक्त्वा । ) अहो महदाश्चर्यम् ।

---

कण्ठ इति । निमीलिताक्षः मुद्रितनयनः । सन्तापः कामजदाहः समाश्वसिहि सुस्थाभव ।

अन्वयः—प्रिये ! व्यक्तं लग्नः अपि पावकः भवतीं नैव दहति, यतः अयं ते स्पर्शः सन्तापम् एव हरति ॥ १८ ॥

व्यक्तमिति । प्रिये सागरिके ! व्यक्तं स्पष्टं यथा स्यात् तथा लग्नोऽपि कृतस्पर्शोऽपि । पावकः हुताशनः भवतीं श्रीमतीं त्वाम् नैव दहति दग्धां न करोति एव । यतस्ते तवायं स्पर्शः शरीरस्पर्शः । सन्तापं दाहकताम् । हरति अपनयति ॥ भवत्याः स्पर्शात्तस्यैव तापोऽपगमिष्यतीति भावः अनुष्टुप्वृत्तम् ॥ १८ ॥

---

( आलिंगन कर नेत्र बंद करके स्पर्श सुख का अनुभव करते हुए )

अहा ! क्षणभर में मेरा यह संताप दूर हो गया । प्रिये ! धैर्य रखो, धैर्य रखो ।

प्रिये ! प्रत्यक्ष रूप से लगा हुआ भी अग्नि तुम्हें नहीं जला रहा है, क्योंकि तुम्हारा यह स्पर्श सन्ताप को ही मिटा रहा है ॥ १८ ॥

( नेत्र खोल कर चारों ओर देख कर और सागरिका को छोड़ कर ) अरे ! महान् आश्चर्य है—

क्वासौ गतो हुतवहस्तदवस्थमेत---

दन्तःपुरं ( वासवदत्तां दृष्ट्वा । ) कथमवन्तिनृपात्मजेयम् ।

वासवदत्ता—( राज्ञः शरीरं परामृश्य सहर्षम् । ) दिट्ठिआ अक्खत-सरीरो अज्जउत्तो ।

[ दिष्ट्याऽक्षतशरीर आर्यपुत्रः । ]

राजा—बाभ्रव्य एष—

बाभ्रव्यः—देव इदानीं प्रत्युज्जीविताः स्मः ।

राजा— वसुभूतिरयम् ....

---

अन्वयः—असौ हुतवहः क्व गतः ? एतद् अन्तःपुरं तदवस्थम् । कथम् इयम् अवन्तिनृपात्मजा ( वर्त्तते ) एषः बाभ्रव्यः, अयं वसुभूतिः, वयस्य स्वप्ने मतिः भ्रमति ? किं नु इन्द्रजालम् इदम् ? ॥ १९ ॥

क्वासाविति । असौ सः । हुतवहः वह्निः । क्वगतः कुत्र यातः निमीलिताक्षः मुद्रितनयनः । सन्तापः कामजदाहः समाश्वसिहि सुस्थाभव । श्लोकावशेषं क्रमेण पूरयिष्यति ।

वासवदत्तामिति । कथम् किम् । इयमेषा । अवन्ति नृपात्मजा अवन्तिजरापुत्री वासवदत्ता वर्तते ।

वासवदत्तेति । अक्षतशरीरः अदग्धदेहः ।

राजेति । एष अयम् बाभ्रव्यः कञ्चुकी अस्ति ।

---

वह अग्नि कहाँ गया ? यह अन्तःपुर उसी पूर्व अवस्था में है । ( वासवदत्ता को देख कर ) क्या यह अवन्तिराज कन्या वासवदत्ता है ।

वासवदत्ता—(राजा के शरीर को स्पर्श कर प्रसन्नतापूर्वक) सौभाग्य है कि महाराज अग्नि से आहत नहीं हुए ।

राजा—यह बाभ्रव्य है ?

बाभ्रव्य—महाराज ! अब हम पुनः जीवित हो उठे हैं ।

राजा—ये वसुभूति हैं ?

वसुभूतिः—विजयतां महाराजः ।

राजाः— वयस्य—

विदूषकः—जअदु जअदु भवं ।

[ जयतु जयतु भवान् । ]

राजा—स्वप्ने मतिर्भ्रमति किं न्विदमिन्द्रजालम् ॥ १९ ॥

विदूषकः—भो मा संदेहं करेहि । इन्दजालं एव्व एदम् । भणिदं तेण दासीएपुत्तेण इन्दजालिएण जहा एक्को उण मह खेलओ अवस्सं देवेण पेक्खिदव्वोत्ति । ता तं ज्जेव्व एदम् ।

[ भोः मा संदेहं कुरु । इन्द्रजालमेवेदम् । भणितं तेन दास्याः पुत्रेणैन्द्रजालिकेन यथैको मम पुनः खेलोऽवश्यं देवेन प्रेक्षितव्य इति । तत्तदेवैतत् । ]

---

राजेति । अयं वसुभूतिः सिंहलेश्वरामात्यः । राजेति । वयस्य वसन्तकः । स्वप्ने स्वापे । मतिः बुद्धिः । भ्रमति भ्रान्तिं गच्छति । किं नु इदं अथवा एतत् । इन्द्रजालं माया वर्तते । एवं महाश्चर्यदर्शनात् मतिर्ममबुद्धिः स्वप्ने भ्रमति स्वप्नवत्तथा भ्रान्तिमती भवति किन्तु इदमिन्द्रजालम् । न तु स्वप्नमित्यर्थः । श्लोकस्त्वेवं पाठ्यः—क्वासौ गतो हुतवहस्तदवस्थमेतदन्तपुरं कथमवन्तिनृपात्मजेयम् । बाभ्रव्य एष वसुभूतिरयं वयस्यः स्वप्ने मतिर्भ्रमति किन्विदमिन्द्रजालमिति ॥ १९ ॥

---

वसुभूति—महाराज की विजय हो ।

राजा—मित्र ! वसन्तक !

विदूषक—आपकी जय हो, जय हो ।

राजा—क्या मेरी बुद्धि स्वप्न में भ्रमित हो रही है अथवा यह इन्द्रजाल ( माया ) है ? ॥ १९ ॥

विदूषक—अरे ! संशय मत करो । यह इन्द्रजाल ( माया ) ही है । उस दासीपुत्र ऐन्द्रजालिक ने कहा था कि मेरा एक खेल महाराज को अवश्य देखना चाहिए । वही यह है ।

राजा—देवि इयं त्वद्वचनादस्माभिरिहानीता सागरिका।

वासवदत्ता—( सस्मितम् । ) अज्जउत्त जाणिदं मए ।
[ आर्यपुत्र ज्ञातं मया । ]

वसुभूतिः—( सागरिकां दृष्ट्वा । अपवार्यं । ) बाभ्रव्य सदृशीयं राजपुत्र्या ।

बाभ्रव्यः--अमात्य ममाप्येतदेव मनसि वर्तते ।

वसुभूतिः—( राजानमुद्दिश्य । ) देव कुत इयं कन्यका ?

राजा--देवी जानाति ।

वसुभूतिः--देवि कुतः पुनरियं कन्यका ।

---

राजेति । त्वद्वचनात् त्वदादेशात् ।

वसुभूतिरिति । राजपुत्र्याः सिंहलेश्वरदुहितुः रत्नावल्या सदृशी समानाकृतिः ।

---

राजा—देवी ! तुम्हारे आदेश मात्र से मैं इस सागरिका को ले आया ।

वासवदत्ता—( हँस कर ) आर्यपुत्र ! मैंने जान लिया ।

वसुभूति—( सागरिका को देख कर मुँह फेर कर ) बाभ्रव्य ! यह ( कन्यका ) राजकुमारी ( रत्नावली ) के समान है ।

बाभ्रव्य—मन्त्रीवर्य ! मेरे मन में भी यह बात है ।

वसुभूति—( राजा को उद्देश करके ) महाराज ! यह कन्या कहाँ से ? ( प्राप्त हुई है )

राजा—देवी जानती हैं ।

वसुभूति--महारानी ! यह कन्यका कहाँ से ( आई है ? )

वासवदत्ता--अमच्च एसा क्खु सागरादो पाविदेत्ति भणिअ अमच्चजोअन्धराअणेण मम हत्थे णिक्खित्ता। अदो एव्व साअरिआत्ति सद्दावीअदि।

[ अमात्य एषा खलु सागरात्प्राप्तेति भणित्वामात्ययौगन्धरायेण मम हस्ते निक्षिप्ता। अत एव सागरिकेति शब्द्यते। ]

राजा--( स्वगतम्। ) यौगन्धरायणेन न्यस्ता ? कथमसौ मामनिवेद्य किंचित्करिष्यति।

वसुभूतिः--( अपवार्य। ) बाभ्रव्य यथा सुसदृशी वसन्तकस्य कण्ठे रत्नमाला, अस्याश्च सागरात्प्राप्तिः, तथा व्यक्तं सिंहलेश्वरस्य दुहिता रत्नावलीयम्। ( प्रकाशम्। ) आयुष्मति न खलु राजपुत्री रत्नावली त्वमेनामवस्थामुपगता ?

---

वासवदत्तेति। भणित्वा कथयित्वा। निक्षिप्ता न्यस्ता। शब्द्यते उच्यते।

राजेति। असौ यौगन्धरायणः। अनिवेद्य अविज्ञाप्य।

वसुभूतिरिति। सुसदृशी अतिसंगता। तथा आश्वासहेतुः। व्यक्तं निश्चितम्।

---

वासवदत्ता—मन्त्रीवर्य ! यह सागर से प्राप्त हुई है—यह कह कर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे हाथ में सौंप दी थी। इस हेतु यह सागरिका नाम से सम्बोधित की जाती है।

राजा—( मन ही मन ) यौगन्धरायण ने सौंपी है ? वह कैसे बिना कुछ मुझे बताये कुछ करेगा।

वसुभूति—( मुँह फेरकर ) बाभ्रव्य ! जैसे कि वसन्तक के कण्ठ में रत्नमाला सर्वथा वैसी ही है और यह समुद्र से मिली है, इससे स्पष्ट है कि यह सिंघल नरेश की पुत्री रत्नावली है ( प्रकट रूप में ) आयुष्मति ! क्या तुम राजकुमारी रत्नावली ही तो नहीं हो जो कि इस अवस्था को प्राप्त हो चुकी हो।

सागरिका--( वसुभूतिं विलोक्य सास्रम् । ) कहं अमच्चो वसुभूदी । [ कथमामात्यो वसुभूतिः ]

वसुभूतिः--( सास्रम् । ) हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । (भूमौ निपतति)

सागरिका--हा ताद हा अम्ब कहिं सि । देहि मे पडिवअणम् । [ हा तात ! हा अम्ब ! कुत्रासि । देहि मे प्रतिवचनम् । ] ( इति वसुभूतेरुपरि पतन्ती मोहमुपगता । )

वासवदत्ता--( ससम्भ्रमम् ) अज्ज कञ्चुइ इअं सा मम बहिणी रअणावली ।
[ आर्य कञ्चुकिन् इयं सा मम भगिनी रत्नावली । ]

बाभ्रव्यः--देवि इयमेव सा ।

वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्ग्य ।) बहिणि समस्सस समस्सस ।
[ भगिनि समाश्वसिहि समाश्वसिहि । ]

---

सागरिका—(वसुभूति को देखकर साश्रु) क्या अमात्य वसुभूति हैं ?

वसुभूति—( साश्रु ) हाय ! मै अभागा मारा गया । ( भूमि पर गिर पड़ता है । )

सागरिका—हाय पिता, हाय माता, कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो । ( वसुभूति पर गिरकर मूर्छित हो जाती है । )

वासवदत्ता—( भयभीत होकर ) आर्य कञ्चुकी ! क्या यह मेरी बहन रत्नावली है ।

बाभ्रव्य—देवी ! यह वही है ।

वासवदत्ता—( रत्नावली का आलिगन करके ) बहन ! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो ।

राजा—कथमुदात्तवंशस्य सिंहलेश्वरस्य विक्रमबाहोरात्मजेयम् ।

विदूषकः—( रत्नमालां स्पृशन् । स्वगतम् ) पढमं जेव्व मए जाणिदं ण क्खु सामण्णजणस्स ईदिसो परिच्छओ होदित्ति ।

[ प्रथममेव मया ज्ञातं न खलु सामान्यजनस्येदृशः परिच्छदो भवतीति । ]

वसुभूतिः—( उत्थाय । ) आयुष्मति समाश्वसिहि समाश्वसिहि । नन्वियं ज्यायसी ते भगिनी दुःखमास्ते । तत्परिष्वजस्वैनाम् ।

सागरिका—( समाश्वस्य वासवदत्तां दृष्ट्वा स्वगतम् । ) किदावराहा क्खु अहं देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदुम् ।

[ कृतापराधा खल्वहं देव्या न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम् । ] ( इत्यधोमुखी तिष्ठति । )

---

राजेति । उदात्तवंशस्य महाकुलसम्भूतस्य । आत्मजा पुत्री ।

विदूषक इति । रत्नमालां सागरिकादत्तां रत्नमालां । स्पृशन् करेणामृशन् । सामान्यजनस्य साधारणलोकस्य । परिच्छदः अलंकारः ।

वसुभूतिरिति । ज्यायसी ज्येष्ठा । भगिनी स्वसा । दुःखमास्ते दुःखं कष्टं यथास्यात्तथा । परिष्वजस्व गाढमालिंग ।

सागरिकेति । कृतापराधा अभिसाररूपमपराधं कृतवती ।

---

राजा—क्या यह प्रख्यातवंशीय सिंहल नरेश विक्रमबाहु की कन्या है ?

विदूषक—( रत्नमाला का स्पर्श कर मन ही मन ) मैंने प्रथमतः ही जान लिया था कि सामान्य व्यक्ति का ऐसा अलंकार नहीं होता ।

वसुभूति—( उठकर ) आयुष्मती ! धैर्य रखो, धैर्य रखो ! यह तुम्हारी बड़ी बहन दुःखी हो रही है । अतः इन्हें गले लगाओ ।

सागरिका—( धैर्यपूर्वक वासवदत्ता को देखकर, मन ही मन ) मैं देवी के प्रति अपराधिनी हूँ, अतः मुँह नहीं दिखा सकती । ( मुँह नीचा कर लेती है )

वासवदत्ता—( सास्रं बाहू प्रसार्य । ) एहि एहि अदिणिट्ठुरे इदाणि पि दाव सिणेहं दंसेहि । अज्जउत्त लज्जेमि क्खु इमिणा अत्तणो णिसंसत्तणेन । ता अवणेहि से बन्धणम् ।

[ एह्येह्यतिनिष्ठुरे इदानीमपि तावत्स्नेहं दर्शय । ( इति कण्ठे गृह्णाति रत्नावली स्खलितं नाटयति । ) ( अपवार्य । ) आर्यपुत्र लज्जे खल्वनेनात्मनो नृशंसत्वेन । तदपनयास्या बन्धनम् । ]

राजा—( सपरितोषम् । ) यथाह देवी । ( इति तथा करोति । )

वासवदत्ता—अज्जउत्त अमच्चयोगन्धराअणेण एत्तअं क्खु कालं दुज्जणीकिदम्हि । जेण जाणंतेण वि ण णिवेदिदम् ।

[ आर्यपुत्र अमात्ययौगन्धरायणेनैतावन्तं खलु कालं दुर्जनीकृतास्मि । येन जानतापि न निवेदितम् । ]

( ततः प्रविशति यौगन्धरायणः । )

---

वासवदत्तेति । अतिनिष्ठुरे अतिनिर्दये । स्नेहं प्रेम । नृशंसत्वेन क्रूरत्वेन । अपनय दूरीकुरु ।

राजेति । सपरितोषं संतोषेण सह ।

---

वासवदत्ता—( रोती हुई बाँहें फैलाकर ) अयि अतिनिष्ठुरे ! आओ । अब भी तो स्नेह दिखाओ ( यह कहकर गले लगाती है ) ( रत्नावली गिरने का अभिनय करती है ) ( मुँह फेरकर ) आर्यपुत्र ! मैं स्वयं की इस क्रूरता से लज्जित हूँ । तो इसके बन्धनों को दूर करो ।

राजा—( संतोषपूर्वक ) जैसा आप कहें । ( यह कहकर बन्धन खोलता है )

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! अमात्य यौगन्धरायण ने ही अब तक मुझे दुर्जन बना रखा था, जिसने जानते हुए भी नहीं बताया ।

( तत्पश्चात् यौगन्धरायण का प्रवेश )

योगन्धरायणः—

देव्या मद्वचनाद्यदाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता ।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथाऽपि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥ २० ॥

( क्षणं विचिन्त्य । ) अथ वा किं क्रियते । ईदृशमत्यन्तमाननीयेष्वपि

---

अन्वयः—यदा मद्वचनात् देव्या पत्युर्वियोगः अभ्युपगतः तदा सा देवस्य कलत्रयसंघटनया मया दुःखं स्थापिता । प्रभोः अयं जगत्स्वामित्वलाभः तस्याः प्रीतिं करिष्यति । सत्यं तथापि लज्जया वदनं दर्शयितुं नो शक्नोमि ॥ २० ॥

देव्याइति । यदा यस्मिन् काले । मद्वचनात् इमां कन्यां पालयेति मम वचनात् । देव्या वासवदत्तया । पत्युर्वियोगः स्वामिनः विरहः । अभ्युपगतः स्वीकृतः । तदा तस्मिन् समये । सा देवी । देवस्य राज्ञः । कलत्रयसंघटनया भार्यान्तरसंयोजनया । कलत्रं श्रोणिभार्ययोरित्यमरः । मया यौगन्धरायणेन । दुःखं क्लेशम् । स्थापिता प्रापिता । प्रभोः स्वामिनः । अयं एषः । जगत्स्वामित्वलाभः जगतां भुवनानां स्वामित्वलाभो राजत्वप्राप्तिः । तस्याः देव्याः । प्रीतिं मुदम् । करिष्यति विधास्यति । सत्यं तथापि एवं देव्याः संतोषस्य कारणे समुपस्थापितेऽपि । लज्जया ह्रिया । वदनं मुखम् । दर्शयितुं प्रकटयितुम् । नो शक्नोमि नैव समर्थोऽस्मि । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

क्षणमिति । अत्यन्तमाननीयेषु अत्यादरभाजनेषु । निरनुरोधवृत्तिनिरनुरोधा

---

यौगन्धरायण—जब मेरे कहने से देवी ने पति का वियोग स्वीकार किया तब मैंने महाराज का दूसरी कन्या से विवाह स्थिर करके महारानी को कष्ट पहुँचाया । स्वामी का यह सार्वभौम राजा होना उनको प्रीति प्रदान करेगा यह सत्य है तथापि लज्जा से अपना मुँह दिखा पाने की सामर्थ्य ( मुझ में ) नहीं है ॥ २० ॥

( क्षण भर विचार करके ) अथवा क्या किया जाय । स्वामिभक्ति का

निरनुरोधवृत्ति स्वामिभक्तिव्रतम् । ( विलोक्य । ) अयं देवः । यावदुप-सर्पामि । ( उपसृत्य । ) जयतु जयतु देवः । देव क्षम्यतां यन्मया देवस्या-निवेद्य कृतम् ।

राजा—यौगन्धरायण, कथय किमनिवेद्य कृतम् ।

यौगन्धरायणः—करोत्वासनपरिग्रहं देवः । सर्वं विज्ञापयामि ।

( सर्वे यथास्थानमुपविशन्ति । )

यौगन्धरायणः—( कृताञ्जलिः । ) देव श्रूयताम् । इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा यथा योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा

---

अनुरोधरहिता वृत्तिराचारो यस्य तत् तथोक्तम् । स्वामिभक्तिव्रतं प्रभुभक्ति-परायणता । अनिवेद्य असूचयित्वा ।

यौगन्धरायण इति । इयमङ्गुलिनिर्दिष्टा रत्नावली । सिद्धेन अणिमादि-सिद्धिवता पुरुषेण । आदिष्टा उक्ता । सार्वभौमः सर्वासां भूमीनामीश्वरः ।

---

व्रत अति माननीय व्यक्तियों के प्रति भी ऐसा निरपेक्ष व्यवहार करा देता है । ( देखकर ) यह महराज हैं । इनके पास चलता हूँ । ( आगे जाकर ) जय हो, महाराज की जय हो । महाराज क्षमा कीजिये, जो कि मैंने आपको बिना बताये कार्य कर दिया ।

राजा—यौगन्धरायण ! कहो, क्या तुमने बिना बताये किया है ?

यौगन्धरायण—महाराज आप आसन ग्रहण करें, मैं सब निवेदन कर रहा हूँ ।

( सभी यथास्थान बैठते हैं । )

यौगन्धरायण--( हाथ जोड़कर ) महाराज ! सुनिये । सिंहलनरेश की इस कन्या के विषय में सिद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि जो व्यक्ति इसका पाणिग्रहण करेगा वह सार्वभौम राजा होगा । तदनन्तर उसकी बातों का विश्वास करके हमने आपके हित के लिए पुनः पुनः सिंहलेश्वर से उसके विवाह

भविष्यति । ततस्तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थं बहुशः प्रार्थ्यमानेनापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता—

राजा—तदा किम् ।

यौगन्धरायणः—तदा लावाणकेन वह्निना देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः ।

राजा—ततः परं श्रुतं मया । अथेयं देव्या हस्ते किमनुचिन्त्य स्थापिता ।

विदूषकः—भो, अणाचक्खिदं वि एदं जाणीअदि जेव्व जधा अन्तेउरगदा सुहेण दे णअणपधं गमिस्सदित्ति ।

---

तत्प्रत्ययात् मन्त्रसिद्धजने विश्वासात् । बहुशः अनेकवारम् । खेदं विषादम् । परिहरता निवारयता ।

यौगन्धरायण इति । प्रसिद्धिं ख्यातिम् । तदन्तिकं सिंहलेश्वरसमीपम् । बाभ्रव्यः कञ्चुकी प्रहितः प्रेरितः ।

राजेति । इयं रत्नावली । देव्या वासवदत्तायाः । अनुचिन्त्यबुद्धौ निधाय ।

विदूषक इति । अनाख्यातमकथितम् । सुखेन विनायासेन । नयनपथं दृष्टिविषयताम् ।

---

के लिए प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने महारानी वासवदत्ता की मनोव्यथा को बचाते हुए जब उस रत्नावली का विवाह नहीं किया तो—

राजा—तब क्या (हुआ)?

यौगन्धरायण—तब लावणक नगर में लगी आग में देवी जल गई, यह प्रसिद्ध करके सिंहल नरेश के पास बाभ्रव्य को भेजा ।

राजा—इसके बाद मैं सब सुन चुका हूँ । तब इसको देवी के हाथ में तुमने क्या सोचकर सौंपा ?

विदूषक—अरे, यह तो बिना कहे ही समझ में आता है कि अन्तःपुर में रहने पर यह आपकी दृष्टिगोचर हो जायगी ।

[ नो अमात्यपातव्येतज्ज्ञायत एव यथा अन्तःपुरगता सुखेन ते नयनपथं गमिष्यतीति । ]

राजा—( विहस्य । ) यौगन्धरायण गृहीताभिप्रायोऽस्मि वसन्तकेन ।

यौगन्धरायणः—यदाज्ञापयति देवः ।

राजा—ऐन्द्रजालिकवृत्तान्तोऽपि मन्ये त्वत्प्रयोग एव ।

यौगन्धरायणः—देव एवम् । अन्यथाऽन्तःपुरे बद्धाया अस्याः कुतो देवेन दर्शनम् । अदृष्टायाश्च वसुभूतिना कुतः परिज्ञानम् । ( विहस्य । ) परिज्ञातायाश्च भगिन्याः संप्रति यथाकरणीयं तत्र देवी प्रमाणम् ।

वासवदत्ता—( सस्मितम् । ) अज्ज फुडं जेव्व किं ण भणासि जहा पडिवादेहि से रअणावली त्ति ।

[ आर्य स्फुटमेव किं न भणसि यथा प्रतिपादयास्मै रत्नावलीमिति । ]

---

यौगन्धरायण इति । अस्या रत्नावल्याः । परिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । परिज्ञातायाः परिचितायाः । देवी प्रमाणम् अतः परं कर्तव्यनिर्धारणे देव्याः अधिकार इत्यर्थः ।

वासवदत्तेति । स्फुटं स्पष्टम् । किं कथम् । प्रतिपादय समर्पय ।

---

राजा—( हँसकर ) यौगन्धरायण ! वसन्तक ने तुम्हारा अभिप्राय समझ लिया ।

यौगन्धरायण—महाराज जैसा कहें ।

राजा—मुझे लगता है, कि इन्द्रजाल की घटना भी तुम्हारा ही प्रयोग है ।

यौगन्धरायण—महाराज ! ऐसा ही है । अन्यथा अन्तःपुर में बद्ध हुई इसको आप कहाँ से देखते ? और बिना देखे वसुभूति इसको कैसे पहचानते ? ( हँसकर ) बहन के पहचान लिये जाने पर अब जो व्यवहार करना चाहिए, उसमें देवी वासवदत्ता को अधिकार है ।

वासवदत्ता—( स्मितपूर्वक ) आर्य ! स्पष्ट ही कथन क्यों नहीं करते कि इनको रत्नावली दे दीजिए ।

विदूषकः—भोदि सुठ्ठु तुए जाणिदो अमच्चस्स अभिप्पाओ ।

[ भवति सुष्ठु त्वया ज्ञातोऽमात्यस्याभिप्रायः । ]

वासवदत्ता—( हस्तं प्रसार्य । ) एहि रअणावलि एहि । एत्तिअंबि दाव मे बहिणीआणुरूवं भोदु । अज्जउत्त पाडिच्छ एदम् ।

[ एहि रत्नावलि एहि । एतावदपि तावन्मे भगिनिकानुरूपं भवतु । ( रत्नावली स्वैराभरणैरलंकृत्य हस्ते गृहीत्वा राजानमुपसृत्य । ) आर्यपुत्र प्रतीच्छैनाम् । ]

राजा—( सपरितोषं हस्तौ प्रसार्य । ) को देव्याः प्रसादो न बहुमन्यते ।

वासवदत्ता—अज्जउत्त दूरे क्खु एदाए पिदुकुलम् । ता तहा करेहि जहा ण बन्धुजणं सुमरेदि ।

[ आर्यपुत्र दूरे खल्वेतस्याः पितृकुलम् । तत्तथा कुरु यथा न बन्धुजनं स्मरति । ] ( इति समर्पयति । )

---

वासवदत्तेति । एतावदपि तत्वत्समर्पणमपि । भगिनिकानुरूपं स्वसृयोग्यम्, इदानीं न पूर्वं भगिन्यनुरूपं कर्मासीति भावः । प्रतीच्छ गृहाण ।

---

विदूषक—देवी ! आपने अमात्य का अभिप्राय ठीक समझा है ।

वासवदत्ता—( हाथ फैला कर ) आओ रत्नावली ! आओ । इतना भी तो मेरा आचरण बहन के अनुरूप हो । ( रत्नावली को अपने आभूषणों से अलंकृत करके, हाथ से पकड़ कर राजा के समीप जाकर ) आर्यपुत्र ! इसे स्वीकार करें ।

राजा—( सन्तोषपूर्वक हाथ फैला कर ) देवी का प्रसाद पाकर कौन धन्य नहीं समझता ?

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! इसका पितृकुल बहुत दूर है । अतः आप ऐसा करें, जिससे वह स्वबन्धुजनों को याद न करे । ( यह कह कर सौंप देती है )

राजा—यथाज्ञापयति देवी। ( रत्नावली गृह्णाति। )

विदूषकः—( नृत्यन्। ) ही ही भो पुहवी क्ख दाणिं हत्थगदा पिअवअस्सस्स।

[ ही ही भोः पृथिवी खल्विदानीं हस्तगता प्रियवयस्यस्य। ]

वसुभूतिः—आयुष्मति स्थाने देवीशब्दमुद्वहसि।

यौगन्धरायणः—इदानीं सफलपरिश्रमोऽस्मि संवृत्तः। देव, तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।

राजा—किमतः परमपि प्रियमस्ति। यतः—

नीतो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोसलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ॥२१॥

---

अन्वयः—विक्रमबाहुः आत्मसमतां नीतः। उर्वीतले सारं ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया सागरिका प्राप्ता। भगिनीलाभात् देवी प्रीतिम् उपागताः। कोसलाः च जिताः। त्वयि अमात्यवृषभे सति किं नास्ति यस्मै स्पृहां करोमि ॥ २१ ॥

---

राजा—जैसा आप कहती हैं। ( रत्नावली को ग्रहण करता है )

विदूषक—( नाचते हुए ) अहा हा, इस समय सम्पूर्ण पृथ्वी प्रिय वयस्य के हस्तगत हो गयी।

वसुभूति—आयुष्मती ! तुम में देवी पद का प्रयोग उचित ही है।

यौगन्धरायण—अधुना मेरा परिश्रम सफल हो गया। महाराज ! आज्ञा करें और क्या आपका प्रिय सम्पादन करूँ।

राजा—इससे बढ़ कर क्या प्रिय हो सकता है। क्योंकि—

विक्रमबाहु को अपनी समानता को प्राप्त करा दिया। भूमण्डल पर

तथापीदमस्तु । ( भरतवाक्यम् । )

उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः ।

---

नीत इति । विक्रमबाहुः सिंहलेश्वरः । आत्मसमताम् आत्मनः स्वदेहस्य समतां तुल्यतां । नीतः प्रापितः । दुहितृस्वीकारेण प्रापितः । उर्वीतले भूमितले । सारम् उत्कृष्टं वस्तु । ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः ससागरायाः सागरान्तरायाः मह्याः पृथिव्याः प्राप्तेरेकहेतुरद्वितीयकारकं प्रिया इयं रत्नावली प्राप्ता । भगिनीलाभात् भगिन्याः स्वसुः समुद्रे यानभङ्गान्निमग्नायाः लाभात् पुनः प्राप्तेः । देवी वासवदत्ता । प्रीतिमामन्दमुपागता प्राप्ता । तथा कोसलाः कोसलानामदेशाः । जिताः विजिताः । त्वयि योगन्धरायणे । अमात्यवृषभे मन्त्रिप्रवरे सति विद्यमाने मम किं नास्ति यस्मै स्पृहां वाञ्छां करोमि विदधामि ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

'इदानीं गृहीतराजवेशो भरत आह—तथापीति । तथापि इतरेषां प्रियाणां वत्सेश्वरानभ्यर्थनीयत्वेपि । इदं वक्ष्यमाणम्' इति शिवनाथः ।

अन्वयः—इष्टां वृष्टिं विसृजन् वासवः उर्वीम् उद्दामसस्यां जनयतु । विप्रमुख्याः इष्टैः त्रैविष्टपानां विधिवत् प्रीणनं विदधतु । समुपचितसुखः सज्जनानां सङ्गमः च आकल्पान्तं भूयात् । वज्रलेपाः दुर्जयाः पिशुनजनगिरः निःशेषं शान्तिं यान्तु ॥ २२ ॥

---

अनुपम तत्त्व तथा समुद्रवलयाङ्कित पृथ्वी की प्राप्ति का एकमात्र कारण प्रिया सागरिका प्राप्त हो गई । बहन प्राप्त हो जाने के कारण देवी वासवदत्ता भी प्रसन्न है । कोसल राज्य पर अधिकार भी हो गया । तुम जैसे श्रेष्ठ सचिव के रहते क्या नहीं है, जिसकी मैं आकांक्षा करूँ ?

तो भी यह हो (भरत-वाक्य)

समयोचित वर्षा करते हुए इन्द्र पृथ्वी को धान्यादि से परिपूर्ण कर दे । विप्रवर्य सम्यक् प्रकार से यज्ञों को करते हुए देवताओं को विधिवत् तृप्त करें,

आकल्पान्तं च भूयात् समुपचितसुखः संगमः सज्जनानां
निःशेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः ॥२२॥

( इति निष्क्रान्ताः सर्वे । )

॥ इत्यैन्द्रजालिको नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीहर्षदेवस्य कृतिः समाप्तेयं रत्नावली नाम नाटिका ॥

---

उर्वीमिति । इष्टां वाञ्छिताम् । वृष्टिं वर्षणं । विसृजन् मुञ्चन् । उर्वीं पृथ्वीम् । उद्दामसस्यामुद्दाभानि प्रभूतानि सस्यानि यस्या तथाभूतां जनयतु करोतु । विप्रमुख्याः विप्रः ब्राह्मणः । मुख्यः प्रमुखः येषु ते । इष्टैर्यागैः । त्रैविष्टपानां देवानाम्, सुरलोकोद्यो दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपमित्यमरः। विधिवत् यथाविधिः । प्रीणनं तृप्त्युत्पादनं विदधतु कुर्वन्तु । समुपचितसुखः समुपचितं समृद्धं सुखं यस्मात् स तथोक्तः सज्जनानां साधूनाम् । सङ्गमः समागमश्च । आकल्पान्तं प्रलयपर्यन्तम्, संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपीत्यमरः' । भूयात् भवतु । कस्यापि कदाचिदपि असत्सङ्गो माभूदिति भावः । वज्रलेपाः वज्रं कुलिशं तद्वत् लेपाः सम्बन्धः यासां ताः । अतएव दुर्जया दुरभिभवनीयाः । पिशुनजनगिरः पिशुनजनानां खलवर्गाणां गिरः वाचः । निःशेषं निरवशेषं यथास्यात्तथा शान्तिं नाशं यान्तु गच्छन्तु । स्रग्धरावृत्तम् ॥ २२ ॥

---

ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों की वृद्धि करने वाला सज्जनों का समागम प्रलय तक प्राप्त होता रहे । वज्र जैसी कठोर एवं दुर्जयदुष्ट पुरुषों के वचन पूर्ण रूप से शान्त हो जायें ॥२२॥

( यह कहकर सब चले जाते हैं । )

॥ ऐन्द्रजालिक नामक चतुर्थाऽङ्क समाप्त ॥

इति डॉ० राजेश्वरकेशवशास्त्रि मुसलगांवकरकृतायां
रत्नावली-टीकायां किरणावली-समाख्यायां
चतुर्थोऽङ्कविवरणं समाप्तिमगमत् ॥

पूर्वैरुपास्य भवतश्चरणारविन्दं
भावं प्रबुद्ध्य कृपया तव देव वाचः ।
यन्नः शिवाय विहितं प्रणिधाय चेतः
शास्त्रेषु धर्म इति तत्र सदास्तु बुद्धिः ॥

( अस्माकं पितामहानाम् )

इति डॉ॰ राजेश्वरकेशवशास्त्रिमुसलगांवकरकृतायां
रत्नावली-टीकायां किरणावली-समाख्यां
चतुर्थाङ्कविवरणं समाप्तिमगमत् ॥

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥

# श्लोकानुक्रमणिका


| श्लोकपादाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| ( अ ) | |
| अध्वानं नैकचक्रः | १३० |
| अनङ्गोऽयमनङ्गत्वम् | ४६ |
| अम्भोजगर्भ सुकुमार | १८५ |
| अलमलमतिमात्रम् | १६८ |
| अस्तापास्तसमस्तभासि | ४९ |
| अस्त्रभ्यस्तर्धिरस्त्र | १९४ |
| अस्मिन्प्रकीर्णपटवास | २४ |
| ( आ ) | |
| आक्षिप्तो जय कुञ्जरेण | २०८ |
| आताम्रतामपनयामि | १५८ |
| आरुह्यदीर्घशिखरम् | १५४ |
| ( इ ) | |
| इह प्रथमं मधुमासो | २७ |
| ( उ ) | |
| उदयतटान्तरितमियम् | ५१ |
| उद्दामोत्कलिकाम् | ७४ |
| उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः | ३५ |
| उर्वीमुद्दामसस्याम् | २३७ |
| ( ए ) | |
| एष ब्रह्मा सरोजे | २०४ |
| ( औ ) | |
| औत्सुक्येन कृतत्वरा | ३ |
| ( क ) | |
| कण्ठाश्लेषं समासाद्य | १९० |
| कण्ठे कृत्तावशेषम् | ६७ |
| कण्ठे श्रीपुरुषोत्तमस्य | ७६ |
| किं देव्याः कृतदीर्घरोष | १७६ |
| किं धरण्यां मृगाङ्कः | २०० |
| किं पद्मस्य रुचं न हन्ति | १५४ |
| कीर्णं पिष्टातकौघैः | २२ |
| कुसुम-सुकुमारमूर्त्तिः | ४३ |
| कुसुमायुधप्रियदूतकः | २६ |
| कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य | ९४ |
| क्रोधेद्धैर्दृष्टिपातैर्मुहुः | ४ |
| क्वासौ गतो हुतवहः | २५४ |
| ( ज ) | |
| जितमुडुपतिना | ६ |
| ( त ) | |
| तीव्रः स्मरसन्तापो | १४९ |
| ( द ) | |
| दुर्लभजनानुरागो | ६६, ८५ |

| श्लोकपादाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| दुर्वारां कुसुमशरव्यथाम् | ८७ |
| दृशः पृथुतरीकृता | १०८ |
| दृष्टिं रुषा क्षिपसि | १०९ |
| देवि त्वन्मुखपङ्कजेन | ५२ |
| देवीदाहप्रवादो | २१६ |
| देव्या मद्वचनाद्यथा | २३१ |
| द्वीपादन्यस्मादपि | १२ |
| ( ध ) | |
| धारायन्त्रविमुक्तसन्तत | २३ |
| ( न ) | |
| नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणना | ६८ |
| नीतो विक्रमबाहुरात्म | १३६ |
| ( प ) | |
| परिच्युतस्तत्कुचकुम्भ | १०१ |
| परिम्लानं पीनस्तनजघन | ९८ |
| पादाग्रस्थितया मुहुः | १ |
| पालीयं चम्पकानां नियत | १४२ |
| पुरः पूर्वामेव स्थगयति | १४० |
| प्रणमत चरणाविन्द्रस्य | १९९ |
| प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे | १४४ |
| प्रत्यग्रमज्जनविशेष | ४५ |
| प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति | ११९ |
| प्राणाः परित्यजत कामम् | १८८ |
| प्राप्ता कथमपि दैवात् | १३८ |
| प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो | १५ |

| श्लोकपादाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| ( ब ) | |
| बाणाः पञ्चमनोभवस्य | १३० |
| ( भ ) | |
| भाति पतितो लिखन्त्या | ९६ |
| भ्रूभङ्गे सहसोद्गते | १२१ |
| ( म ) | |
| मनश्चलं प्रकृत्यैव | १३० |
| मम प्रतिज्ञैषा | २०८ |
| मम कण्ठगताः प्राणाः | १६६ |
| मुहूर्तमपि सह्यताम् | २२२ |
| मूले गण्डूषसेकासव | ३६ |
| ( य ) | |
| यातोऽस्मि पद्मनयने | १३८ |
| योद्धुं निर्गत्य विन्ध्यात् | १९४ |
| ( र ) | |
| राज्यं निर्जितशत्रु | १९ |
| ( ल ) | |
| लीलावधूतपद्मा | ९० |
| ( व ) | |
| विकसितवकुलाशोक: | २७ |
| विधायापूर्वपूर्णेन्दुम् | ९१ |
| विरम विरम वह्ने | २१९ |

| श्लोकपादाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| विवृद्धिं कम्पस्य प्रथयति | २०९ |
| विश्रान्त-विग्रहकथो | १७ |
| व्यक्तं लग्नोऽपि भवनीम् | २२३ |
| ( श ) | |
| शीतांशुर्मुखमुत्पले | १५१ |
| श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः | ११० |
| श्रीहर्षो निपुणः कवि | ८ |
| श्वासोत्कम्पिनि कम्पितम् | १७२ |
| ( स ) | |
| सन्तापो हृदय स्मरानल | १२९ |
| समारूढा प्रीतिः प्रणय | १६१ |
| सव्याजैः शपथैः प्रियेण | १८४ |
| स्थितमुरसि विशालम् | ९९ |
| स्पष्टाक्षरमिदं यस्मात् | ७९ |
| स्पृष्टस्त्वयैष दयिते | ४६ |
| स्रस्तः स्रग्दामशोभाम् | २८ |
| ( ह ) | |
| हरिहरब्रह्मप्रमुखा० | २०१ |
| हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव | २१५ |
| ह्रिया सर्वस्यासौ हरति | १३२ |

[illegible]

[illegible]

[illegible]

- **अभिषेकनाटकम्** । महाकविभास प्रणीतम्। 'गङ्गा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। डॉ० गंगासागर राय। (का. २४९)
- **चारुदत्तम्** । महाकवि भास प्रणीतम्। 'गङ्गा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। डॉ० गंगासागर राय (का. २८९)
- **नागानन्दनाटकम्**।हर्षदेव कृत। बलदेव उपाध्याय कृत 'भावार्थदीपिका' संस्कृत-हिन्दी टीका। संशोधित संस्करण (का. ८७)
- **प्रतिमानाटकम्**। महाकविभास प्रणीतम्। 'गंगा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। डॉ० गंगासागर राय (का. २७६)
- **भासनाटकचक्रम** । (महाकवि भास के सम्पूर्ण नाटकों का संकलन)। 'गंगा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्यायुक्त। डॉ० गंगासागर राय (का. २९७)
- **मुद्राराक्षस-नाटकम्** ।विशाखदत्त कृत। 'कला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। डॉ० गंगासागर राय (का. २६२)
- **मृच्छकटिकम्** । महाकविशुद्रक कृत। 'गंगा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्यायुक्त। डा० गंगासागर राय (चौ.सं.भ. १४)
- **वेणीसंहारनाटकम्** ।भट्टनारायण कृत। 'गंगा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। डॉ० गङ्गासागर राय (का. २४७)
- **स्वप्नवासवदत्तम्** ।महाकवि भास प्रणीतम्। 'गंगा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। डा० गंगासागर राय (का. २९६)
- **संस्कृत के प्रमुख नाटककार तथा उनकी कृतियाँ**। डॉ० गंगासागर राय। (चौ.सं.भ. २६)
- **हिन्दी दशरूपक** । धनन्जय कृत। धनिककृत दशरूपावलोक संस्कृत टीका तथा प्रदीप हिन्दी व्याख्या डॉ० केशवराव मुसलगाँवकर। अजिल्द एवं सजिल्द (चौ.सं.भ. २७)

**चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी**